लेखक और …दना

शैलेश मटियानी

लेखक और संवेदना

लेखक और संवेदना

शैलेश मटियानी

विभा प्रकाशन
५०, चाहचन्द, इलाहाबाद

लेखक और संवेदना
(वैचारिक लेखन)

सर्वाधिकार □ शैलेश मटियानी
प्रकाशक □ विभा प्रकाशन
५०, चाहचन्द, इलाहाबाद
मुद्रक □ प्रभात प्रिंटिंग प्रेस
७, ईदगाह, इलाहाबाद
मूल्य □ पैंतालीस रुपये
प्रथम संस्करण □ १९८३
द्वितीय संस्करण □ १९८७
आवरण □ शि० गो० पा०

सत्यप्रकाश मिश्र को
सादर

लेखक और संवेदना

जिसे **'संवेदना का संकट'** कहा जाय, व्यापता वह प्रत्येक को है, किंतु सबको समान नहीं। यहाँ लेखक के संदर्भ में यदि कहा जाय कि संवेदना का संकट अन्य किसी भी क्षेत्र की तुलना में साहित्य जगत के व्यक्ति को अधिक व्यापता है—या कि व्यापना चाहिये—तो इसे लिखने को **'कर्म'** की सामान्य अवधारणा से दूर ले जाना नहीं, बल्कि **'संवेदना'** की अवधारणा को उसके पूरे वृत्त में समझने की कोशिश करना माना जाय, क्योंकि यहाँ **'कर्म'** और **'संवेदना'** का न सिर्फ यह कि रिश्ता गहरा है, बल्कि यह कि **'कर्म'** का वस्तुगत स्वरूप तक संवेदना से ही तय होता है। **'संवेदना'** के प्रश्न को जो प्रायः लेखक के लिखने में ही अंतर्निहित मान लिया जाता है, इससे लेखक के **'कर्म'** में उसकी **'संवेदना'** की भागीदारी का सही-सही आकलन सम्भव नहीं रह जाता, क्योंकि साहित्य में **'संवेदना'** की भूमिका को सिर्फ प्रक्रिया के नहीं, परिणाम के तर्क से भी देखना होता है और जाना जा सकता है कि संवेदना किसी लेखक के कर्म की उत्प्रेरणा ही नहीं, उपादान भी होती है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि सारे कला अथवा विचार-माध्यमों का केन्द्रीय उपादान संवेदना ही हुआ करती है, क्योंकि जिसे हम **'बुद्धि'** निरूपित करना चाहेंगे, जो कि वस्तु या विचार के आत्यंतिक स्वरूप-निर्धारण में सबसे प्रमुख भूमिका अदा करती दिखाई देती है, वह स्वयं संवेदन-सापेक्ष हुआ करती है। यह अकारण नहीं कि **'मेधा'** या प्रतिभा का ठीक वही—या सिर्फ उतना ही—अर्थ कला अथवा विचार-जगत में नहीं हुआ करता, जैसा कि अन्य क्षेत्रों में। और अब यहाँ, पुस्तक में की सामग्री की सीमित परिधि को देखते, बात को सिर्फ साहित्य पर केन्द्रित करते हुए कहना है कि चूँकि लेखक के **'कर्म'** की सम्पूर्ण निष्पत्ति

—या कहा जाय कि उसके 'सृजन' की पूरी 'मिलिंग'—ही संवेदन-केन्द्रित होती है, इसलिए अन्य उपादानों, यहाँ तक कि 'बुद्धि' अथवा 'हाथ' तक की उसमें ठीक वही भूमिका नहीं होती, जो अन्य क्षेत्रों में।...

लेखक ही नहीं, प्रत्येक को अपने **'कर्म'** की प्रकृति के विवेचन में जाना होता है, क्योंकि **'कर्म'** की प्रकृति को समझना ही उसके **'क्षेत्र'** को समझना भी है और यदि लेखक में यह समझ नदारद हो, तब सम्भव नहीं कि वह अपने लिखे का वांछित परिणाम पा सके। अपने कर्म की प्रकृति को ठीक-ठीक न समझने से ही लेखक लिखने को अपने अस्तित्व की शर्त के तौर पर न लेकर, मानव या कि समाज-कल्याण के लिए कार्य कर रहे होने के विभ्रम तक ले जाता है और यह विभ्रम ही अंततः उसे **'राज्य बनाम समाज'** के साथ के द्वन्द्व में ले जाता है। तब वह समाज की अवज्ञा का विकल्प राज्य और राज्य की अवज्ञा का विकल्प समाज में खोजता हुआ, अपने 'मूल्यांकन' की बुभुक्षा में भटकता फिरता है। कोई भी महत्वाकांक्षी लेखक प्रारम्भ में समाज में ही जड़ें जमाने के संघर्ष के बाद, अंततः कैसे राज्य की सरहद तक पहुँचता है, इस विवेचन में जाने से पहले थोड़ा इस ओर ध्यान देना होगा कि जिसे कर्म की प्रकृति को समझना कहा गया, संवेदना की भूमिका उसमें क्या होगी।

कुम्हार के घड़ा बनाने और लेखक के लिखने में संवेदना की भागीदारी का अनुपात एक नहीं होगा, यह कहना कुम्हार में संवेदना का निषेध, या कि लेखक की तुलना में उसे निकृष्ट बताने की कोशिश, करना न माना जाय। यहाँ उद्देश्य सिर्फ लेखक के कर्म की प्रकृति और उसके संवेदन-वृत्त के भिन्न होने की ओर इंगित करना है। संवेदना का वृत्त तो व्यक्तिगत से लेकर, मानव-मात्र, बल्कि कहा जाय कि जीव-मात्र की वेदना तक जाता है और किसी व्यक्ति—या कि उसके कर्म—की संवेदना का औसत एक इस बात से ही तय हो जाता है कि उसकी

वेदना का यह वृत्त कितनी दूर तक जाता है। जब हम कुल मिलाकर **'संवेदना के संकट'** पर बात करना चाहते हों, तो हमें यह जानना होगा कि स्पर्श से वृत्त सबमें नहीं बना करते हैं और कि इससे कुछ फर्क नहीं पड़ेगा कि हम संवेदना को करुणा करके मानना चाहें, या नहीं—किंतु इससे फर्क पड़ेगा कि लेखक की संवेदना का वृत्त बाधित या कि संकीर्ण हो। **'संवेदना'** के बिना लेखक का कर्म ही सम्भव नहीं, क्योंकि अनुभवों का कैसा भी भण्डार साहित्य के सृजन में कभी कोई कारगर भूमिका नहीं निभा पाता, यदि संवेदना नदारद हो। लेखक संवेदना के तर्क से ही अपने कर्म की इस प्रकृति से बँधा है कि उसे एक की नहीं, अनेक की वेदना के संवहन में जाना होता है और उसके निकट यह मानव-कल्याण से भी पहले, स्वयं के अस्तित्व का प्रश्न है।

कुम्हार का घड़ा भी अनेकों के हित में जाता है, लेकिन उसकी निर्मिति में अनेकों के प्रति संवेदना की भागीदारी ठीक वैसी ही नहीं होती, जैसी कि लेखक के कर्म में। कैसे और कितने भी संवेदनशील कुम्हार के निकट घड़े की निर्मिति का उपादान **'संवेदना'** नहीं—और कि घड़े की गुणवत्ता को दो कुम्हारों के बीच की संवेदनशीलता के अनुपात से तय करना कठिन होगा, जबकि लेखकों के लिखे की गुणवत्ता सिर्फ संवेदना के औसत से तय की जा सकेगी, क्योंकि संवेदना—जैसा कि पहले भी कहा गया—लेखक के कर्म की उत्प्रेरणा ही नहीं, बल्कि उपादान भी है। लेखक का बाकी सब-कुछ उसकी संवेदना की धुरी के इर्द-गिर्द की वस्तु है और उसके द्वारा लिखे गये का सारा आकार-प्रकार संवेदना के ढाँचे से तय होता है, वस्तु की प्रकृति या उसके स्वरूप से नहीं। अब यदि कहा जाय कि लिखना, लेखक के निकट, ठीक वैसे ही उसके अस्तित्व की शर्त है, जैसे कुम्हार का घड़ा बनाना, तो इसे लेखक के **'कर्म'** के वैशिष्ट्य की अवज्ञा करना नहीं, बल्कि उसके अपने कर्म से अस्तित्व के स्तर पर जुड़े होने की ओर

इंगित करना माना जाय। और यह कि लेखक **'संगठन'** निर्मित करे या **'कृति'**, अपने कर्म की प्रकृति को भूले नहीं।

साहित्य की गुणवत्ता भी समाज में ठीक वैसे ही तय हुआ करती है, जैसे कि घड़े की—ऐसे में अपने कर्म को लेकर मानव-कल्याण या कि समाज-कल्याण के दावों पर जाने से बचकर, लेखक को इस विनय में रहना होता है कि यह तो उसके अस्तित्व का प्रश्न पहले है। और अब यहाँ इतना कह लेने की अनुमति रहे कि अस्तित्व के इस तर्क के तहत ही उसका अपेक्षाकृत अधिक संवेदनशील—याकि संवेदना का बेहतर संवाहक—होना, यह कोई दूसरों पर उपकार करना नहीं है। अपने कर्म की इस नियति का ज्ञान लेखक को कुम्हार ही नहीं, बल्कि दार्शनिक और विचारक तक से भिन्न करता है।

इस भौतिक जगत का सारा ज्ञान-विज्ञान **'मानव-अनुभूति'** की उपज है और इसका व्यक्तियों से समाज और समाज से व्यक्तियों में प्रत्यावर्तित होते रहना ही मानव-चेतना का इतिहास है। अपने कर्म की प्रकृति तथा संवेदना के मर्म को जानने के बाद ही लेखक पाता है कि दार्शनिकों-विचारकों की भूमिका मानव-स्वभाव और मानव-अस्तित्व के प्रश्नों को **'विचार'** के धरातल तक ले जाने की है, तो साहित्य की प्रक्रिया मानव-स्वभाव और मानव-अस्तित्व के प्रश्नों को मनुष्य की अनुभूति और संवेदना से जोड़ने की और अब यदि यहीं कहा जाय कि जैसे कुम्हार में **'घट'** की, तैसे ही लेखक में **'कृति'** की अवधारणा हस्तामलकवत होनी चाहिए, और ऐसा लेखक के कर्म और संवेदना के अंतस्संबंधों को ठीक-ठीक जानने पर ही सम्भव हो सकेगा, इससे पहले नहीं—तो, शायद, यह कुछ अतिरिक्त या अधिक कह जाना न होगा।

मनुष्य की हो कि वस्तु की, देश की हो या कि काल की, व्यक्ति की हो या राज्य अथवा समाज की—हमारी कैसी भी अवधारणा, उतनी ही टटकी होगी, जितना कि हम अपने कर्म की प्रकृति, उसके क्षेत्र और

उपादानों को ठीक-ठीक समझते होंगे और उससे अस्तित्व के स्तर पर प्रतिश्रुत होंगे। यहाँ अब फिर से इस पूर्व-प्रसंग पर आना अप्रासंगिक न माना जाय कि लेखकों की कैसी भी शिविरबद्धता के प्रश्न को—जो कि इस पुस्तक का मूलभूत विषय है—सिर्फ एक इस बात से स्पष्ट समझा जा सकता है कि **राज्य** और **समाज** के बीच उनकी उपस्थिति का स्वरूप क्या है। लेखक जब **राज्य** की सरहद पर पहुँचता है—यह उसके जीवन का अत्यंत निर्णायक क्षण होता है। और यहीं से यह तय होता है कि वह **राज्य** के सामने **समाज** के व्यक्ति की हैसियत से ही उपस्थित रहेगा—याकि '**लुका-छिपी**' का वह कामचलाऊ रास्ता अख्तियार करेगा, जिसकी ओर कि **राजेन्द्र यादव** ने इंगित किया है। और कि जो साम्प्रतिक सारे लेखक शिविरों की कुल जमा वास्तविकता है।

प्रस्तुत पुस्तक में की सारी सामग्री एक इसी प्रश्न की धुरी पर केन्द्रित है कि वैचारिक शिविरबद्धता या कि खेमाबन्दी—जिसे कि **डॉ० वांदिवडेकर** ने '**बौद्धिक रेजोमेन्टेशन**' करार दिया है—लेखक के कर्म और संवेदन के क्षेत्र को बाधित करती है, कि नहीं। यहाँ यह पहले ही स्पष्ट किया जाय कि यह शिविरबद्धता '**व्यक्ति**' के इर्द-गिर्द हो या '**सिद्धांत**' के—इससे कुछ फर्क नहीं पड़ता। और यदि यह निरूपित करने की कोशिश की गई है कि सिद्धान्तवाद से संवेदना की क्षति होती है, फिर चाहे वह **कला और संस्कृति** का सिद्धान्त हो या **मार्क्सवाद-जनवाद** का, तो इस बात को दृष्टिगत रखते हुए ही कि '**सिद्धांत**' कोई संवेदन के क्षेत्र से परे की वस्तु नहीं, लेकिन जहाँ सिद्धान्त और संवेदना में सम्यक् समन्वय न हो, बेहतर लिखे जाने की गुंजाइश भी नहीं होगी।

कहने की जरूरत नहीं होनी चाहिये कि कैसा भी विश्व कल्याणकारी सिद्धान्त तक अपने में स्वतःसम्पूर्ण या अभिप्राय-निरपेक्ष नहीं होता। पहले जो कहा गया था कि लेखक जब **समाज** में से '**राज्य**' की सरहद पर पहुँचता है, यह उसके जीवन का निर्णायक क्षण होता है, इस संदर्भ

में यह प्रश्न बिल्कुल स्वाभाविक तौर पर उपस्थित होगा कि आखिर किसी लेखक के इस 'सरहद पर पहुँचने' को लेकर हम दरअसल कहना क्या चाहते हैं ?

प्रारम्भ में कर्म और संवेदना के किंचित् विस्तृत विवेचन में जाने के पीछे मंतव्य इतना ही था कि इससे एक लेखक की नियति ही नहीं, 'स्थिति' को भी देखने में सुविधा हो सकेगी। प्रतिभा की विशिष्टता के न सही, समाज या कि संस्कृति का प्रवक्ता होने के नाते ही सही, वह जैसे दूसरों के प्रति, वैसे ही दूसरों से (यहाँ कह लिया जाय कि समाज या कि राज्य से) भी अपने प्रति कुछ अपेक्षायें गढ़ता है और इसमें न कोई विस्मय की कोई बात होगी, न आपत्ति की कि ये अपेक्षायें, प्रायः, अपने 'कर्म' के प्रति मान्यता की ही हुआ करती हैं। और चूँकि इस मान्यता-प्राप्ति के दायरे बहुत दूर तक जाते हैं और सीधे-सीधे लेखक के जीवन को प्रभावित करते हैं, इसलिये इसके निमित्त लेखक का संघर्ष करना बिल्कुल स्वाभाविक ही माना जाना चाहिए। विसंगति तो तब प्रकट होती है, जब लेखक सीधे-सीधे अपने अस्तित्व के संघर्ष में जाने, और बने रहने, की जगह पाखण्ड में जाता है और अपने इस पाखण्ड को संस्कृति या सिद्धान्तों के आच्छादन में किये रहने की चतुरता बरतता है। अपने कर्म, प्रतिभा और संवेदन के विनिमय में मान्यता उगाहने की वृत्ति ही किसी लेखक को समाज से अलगाकर 'राज्य' की सरहद पर लाती है, क्योंकि राज्य (या कि व्यवस्था) प्रतिभा के विनिमय की सबसे बड़ी मण्डी हुआ करता है। 'राज्य' स्वयं में समाज की ही एक इकाई होते भी, शेष समाज के नियामक की भूमिका में आ जाने के परिणाम-स्वरूप सेना से लेकर दरबार या संसद के लिए ही नहीं, बल्कि राज्य के प्रत्येक क्षेत्र में प्रतिभा के विनिमय और राज्य-क्षेत्र के व्यक्ति को शेष समाज के व्यक्ति की तुलना में प्राथमिकता देने में सक्षम होता है। लेखक राज्य के इस क्षमता-क्षेत्र के वृत्त से बाहर नहीं।

कहना न होगा कि पद्धतियाँ बदल गई हैं, किन्तु **राज्य** बनाम **समाज** के द्वन्द्व में कोई इतना बड़ा गुणनात्मक परिवर्तन आज भी नहीं आया है कि प्रतिभा का विनिमय राज्य के माध्यम से समाज के ही हित में होने की कोई प्रतिभूति हमें सहज सुलभ हो। यहाँ विषय की सीमा को देखते, सिर्फ इतना कहना है कि राज्य (या कि व्यवस्था) का विनिमय-क्षेत्र अत्यन्त प्रभावकारी होने से, लेखक तक भी उसकी कर्षण-शक्ति पूरी तरह पहुँचती है और जिसे कर्म या कि संवेदना का संकट कहा जाय, वह अपने वस्तुगत रूप में तब प्रकट होता है, जब या **राज्य** लेखक तक **'हाथ'** बढ़ाता है—और या लेखक स्वयं ही अपना विनिमय-मूल्य उगाहना चाहता है। और यदि हम विवेचन में जायें, तो इसे न सिर्फ अवधारणा, बल्कि व्यवहार के स्तर पर भी अभिनिर्णीत कर सकते हैं कि हिन्दी के लेखकों के सारे मौजूदा संगठनों का वास्तविक अभिप्राय क्या रहा है और कि आखिर ये सारे-के-सारे संगठन **राज्य** तक पहुँच बनाने के **'बेसकैम्प'** मात्र बनकर क्यों रह गये हैं।

लेखक का अपने कर्म की प्रकृति के विपरीत चलना ही संवेदना के संकटों से गुजरना है। मनुष्य चूँकि स्वभाव से ही कल्पनाशील है, इसलिये उसकी परिधि अत्यन्त व्यापक है। मनुष्य के स्वभाव और उसके अस्तित्व के प्रश्न देश और काल की सीमाओं तक से बँधे नहीं हैं और इसीलिये उसकी संवेदना का क्षेत्र भी अपरिमित है। ऐसे में यदि सिद्धान्तवाद अपने देश-काल किंवा समाज के संघर्ष में उसकी भागीदारी को बेहतर बनाने की जगह, उसके संवेदन की परिधि को छोटा करता हो, तो लेखक का लिखना बाधित होना अवश्यम्भावी है, क्योंकि मनुष्य को जानने का उपाय **सिद्धांत** नहीं **संवेदना** है। कैसे भी महानतम सिद्धान्त का वृत्त मानव-परिधि की तुलना में अत्यन्त सीमित होता है, क्योंकि कितने भी बड़े देश-काल और समाज से संदर्भित होते भी, उसकी निर्मिति का स्वरूप 'अंतिम' नहीं होता है। और **'व्यक्ति'**,

वह चाहे संसार का महानतम दार्शनिक ही क्यों न हो, मानव-चेतना का स्वतःसम्पूर्ण प्रतिमान कभी नहीं हो सकता, क्योंकि **व्यक्ति,** कहीं-न-कहीं, देश, काल और समाज की सीमाओं से आबद्ध होता है। जब हम **'व्यक्ति'** को उसकी इस नियति से अलगाना चाहते हैं, तब **अवतारवाद** तक चाहे जितना पहुँचें, मनुष्य की सम्यक् अवधारणा हमसे छूटती जायेगी। और यह कारण है कि **काव्य** में संवेदना को अवतार की धुरी तक नहीं, बल्कि **अवतार** को संवेदना के वृत्त तक लाया जाता रहा है।

सम्यक् विचार सधते समय लगता है और यह सारा लेखन तो अस्तित्व के संघर्ष से गुजरते का बयान-मात्र है, कोई वैचारिक उपलब्धि नहीं।""लेकिन इस पुस्तक में के दोषों से इसके प्रतिपाद्य विषय की प्रासंगिकता नहीं जाती रहेगी। प्रत्येक विचारवान लेखक को अपने समय तथा समाज के लिए स्वयं के निष्प्रभावी होने के कारणों की पड़ताल में जाना ही होता है। देखना होता है कि आने वाले लेखकों के लिए जो जमीन हम दे रहे हैं, वह बंजर और कंटकाकीर्ण तो नहीं है, क्योंकि आदमी की कसौटी ही यह है कि वह भविष्य के लिए क्या छोड़ता है।

अंत में उन सभी के प्रति कृतज्ञता निवेदित है, जिनके निमित्त से एक वैचारिक बहस में जाने का सुयोग बना। उद्धत और अविनयी दिख सकने की गुंजाइश से इंकार करना कठिन है, लेकिन विनत भाव से इतना कहना है कि जहाँ कहीं भी विक्षोभ और अप्रिय कथन हो, अवज्ञा या अविनय बरतने के उद्देश्य में से नहीं, तर्क की स्वाभाविक परिणति—या बुद्धि-विचार की सीमा—के तहत होगा और इसी नाते क्षम्य भी, हालाँकि क्षम्यता को अपने निमित्त स्वयं ही तय करने का औचित्य सिद्ध करना कठिन होगा।

—शैलेश मटियानी

तेन त्यक्तेन भुंजीथाः

तेन त्यक्तेन भुंजीथा: उर्फ त्याग का भोग

अज्ञेय जी पर विचार करने बैठना, एक कठिन, और क्लेशप्रद । कार्य है, क्योंकि रचनाकर्म के जितने अनुकूल और प्रतिकूल, दोनों साथ-साथ अज्ञेय जी हैं, सम्भवत:, हमारे समय का अन्य कोई हिन्दी लेखक नहीं । यहाँ, सिर्फ दो गोष्ठी-प्रसंगों को लेकर लिखे जाने के कारण ज्यादा विस्तार में जाने का सुयोग नहीं है । संक्षेप में, यथासम्भव, उनकी रचना-दृष्टि के मूलभूत संकट को रेखांकित करने की कोशिश की गई है । इस विनय के साथ कि उनकी पड़ताल में जाने की अनिवार्यता को स्वीकार किया गया है, तो यह उनके प्रति आदर व्यक्त करना ही है ।

पहले उनकी साहित्यिक गतिविधियों, और अब ट्रस्टी प्रवृत्ति ने इस वास्तविकता को साफ-साफ उजागर कर दिया है कि उनका व्यक्ति ऋषियों की नैतिक-सामाजिक चेतना का नहीं, पूंजीवादी मानसिकता का प्रतिनिधित्व करता है । लेखक जब सामाजिक उपलब्धि बन सकने के संघर्ष से विमुख होकर, समाज को अपनी व्यक्तिगत प्रतिष्ठा के पक्ष में

दुहने में प्रवृत्त हो जाय, तो रचनाकर्म की नैतिकता उसके हाथों से छूट जाती है। यह नैतिक वंचना ही उसे भाषा के संकट में भी ले जाती है। और तब शब्द उसके **'मंतव्य'** को नहीं, **'छद्म'** को प्रकट करने लगते हैं। धीरे-धीरे स्पष्ट होने लगा है कि भाषा **अज्ञेय जी** के लिए साध्य ही नहीं, साधन भी है। भाषा से **अज्ञेय** चूँकि प्राय: मानवीय औदात्य या सामाजिक सहकार की उतनी नहीं, जितनी कि व्यक्तिगत अहं और महत्वाकांक्षा की सिद्धि की कोशिश करते दिखाई देते हैं, परिणामत: अपने असामाजिक होने की रिक्ति को सांस्कृतिक, अथवा प्रसिद्धिलोलुप होने की आत्मभीति को ऋषि-मनीषी होने की मुद्राओं से आवृत्त करना चाहते हैं। यह अकारण नहीं है कि **अज्ञेय जी** का साहित्य अपने पाठक की बुद्धि को जितना प्रभावित करता है, उतना अन्तरात्मा को स्पर्श नहीं करता। विवेचन और विवाद की गुंजाइशें चाहे जितनी छोड़ता हो, स्मृति का हिस्सा अधिक बन नहीं पाता है।

अज्ञेय जी समकालीन हिन्दी साहित्य में अपने किस्म के एक प्रतिभा-पुंज हैं: किन्तु कुछ भी निरपेक्ष नहीं होता, तब प्रतिभा ही अपवाद क्यों होगी।

'संस्कृति का संवाहक' होने की प्रतीति देने को व्याकुल **अज्ञेय जी** अन्तत: अनुपार्जित धन के त्याग की उद्घोषणा याकि ऐसे ही अनेकानेक अन्य सामाजिक चेतना की मुख्य धारा से विरत उपक्रमों के सहारे अपनी प्रतिमा बड़ी करने की कारुणिक स्थिति में पहुँच गये हैं, तो शायद अपनी स्मृति में से इस विवेक को त्याग देने के कारण ही कि पूर्वापेक्षा अधिक मूल्य वसूलने की लालसा में किया गया त्याग **'इन्वेस्टमेन्ट'** है और **'इन्वेस्टमेन्ट'** चाहे उपार्जित धन का हो, या अनुपार्जित धन का, **'त्याग'** के नैतिक पक्ष से रहित होता है। ऐसा **'त्याग'** अन्तत: प्रेरक हो सकने की जगह, निहित स्वार्थों का पोषक बन जाता है।

'वत्सलनिधि' अथवा **'अज्ञेय भारतीय संस्थान'** की स्थापना से भी

स्पष्ट ध्वनित होता है कि अब **अज्ञेयजी** साहित्य की स्थापित परम्परा का भंजन करके, सम्पत्ति की परम्परा के वाहक बनना चाहते हैं। कहा जाय कि रचनाकर्म में जर्जर हो चुकने की व्याधि का निदान, 'ट्रस्ट' स्थापित करने में समर्थ होने के **'दाताभाव'** में खोजना चाहते हैं। ऐसे में अपने इस निर्विवाद रूप से प्रतिभाशाली और महत्वपूर्ण अग्रज साहित्यकार से **'संवाद'** में हो सकने की इस विनत चेष्टा को **अज्ञेय जी** विचार करना ही मानेंगे, विरोध करना नहीं—इतनी आशा उनसे की जानी चाहिये।

अज्ञेय जी ने प्रायः ही, अपने वैचारिक लेखन में लेखक के **'द्रष्टा'** होने की बात पर जोर दिया है। **'द्रष्टा'**—यानी देखने वाला। यों तो देखते सभी हैं, किन्तु अंतर्दृष्टि का देखना ही तो **'द्रष्टा'** के देखने की कोटि में आयेगा ? उम्र के साथ मनुष्य का आँखों से देखना भी क्षीण पड़ता जाता है, किन्तु यह अंतश्चक्षुओं का देखना—चेतना याकि विवेक की आँख की देखना—निरंतर दूरगामी और टटका होता जाता है। जो प्रायः, और सबको, और समग्रता में नहीं दिखता, वह सम्यक् द्रष्टा को दिखता है। और यदि वह लेखक है, तो अपने इस देखने को भाषा में हम सबके लिये यों उजाकर कर देता है कि हमें भी दूर-दूर तक और खरा-खरा दिखाई दे जाय।

अज्ञेय जी भी 'द्रष्टा' हैं। उनका कहा-लिखा भी हमें दूर तक देखने को प्रेरित करता है, किन्तु **अज्ञेय** जी चूँकि स्वभावतः चतुर हैं शायद इसीलिए कहते-लिखते सदैव यह सावधानी बरतते-से मालूम पड़ते हैं कि **जितनी दूर तक, जितना, और जैसा** स्वयं **अज्ञेय** जी हमें दिखाना चाहें, बस, सिर्फ उतना ही। अब यह भिन्न बात है कि अपनी इस सावधानी के चलते ही वो सिर्फ 'तेन त्यक्तेन भुंजीथाः' कहते हैं और चाहते हैं कि हम सब इतना-भर देखें कि **अज्ञेय** जी त्याग कर रहे हैं, मगर किसी कवि-मनीषी की प्रतिभा भले ही हो, किंतु **'वचन'** कभी भी **'स्वयंभू'** नहीं होता, क्योंकि वह **'चन्द्रमा मनसो जातः'** की तरह

उसमें उदित नहीं होता, बल्कि भाषा में और इसीलिये विवेच्य होता है।...और अब हम यदि गहरे में जाकर देखना चाहें कि क्या **अज्ञेय** जी ने वैसे ही कहा, जैसे कि **'ईशावास्योपनिषद'** में कहा गया—तब यह भी आवश्यक हो जाता है कि हम उस सब तक भी पहुँचना चाहें, जिसे अज्ञेय जी अपने तईं सुरक्षित रखते हैं, हम सबके लिये प्रत्यक्ष नहीं होने देते।

किन्तु जैसा कि कहा गया, भाषा में आना अपने को उजागर करना है और इसमें संशय नहीं कि **अज्ञेय** जी में भाषा में आने की प्रवृत्ति प्रभूत है और वो, स्वयं के न चाहने के बावजूद, अपना सब-कुछ हमारे सामने प्रकट करते जाते हैं। **अज्ञेय** जी को जानने के लिये सिर्फ उनके साहित्य के निकट जाना ही पर्याप्त है, इसके लिये उनके **'व्यक्तिगत'** में जाने की जरूरत बिल्कुल नहीं।...और यहाँ सिर्फ इसी आधार पर कुछ कहने की कोशिश की गई है कि जो कुछ **अज्ञेय** जी को अपने साहित्य में स्वयं अनुभव होने लगा है, वह सब शायद, थोड़ा-बहुत अब दूसरों को भी दिखने लगा।

अज्ञेय हमारे समय की एक बड़ी प्रतिभा हैं और इसीलिए उनके विपथगामी होते जाने की क्षतियाँ भी ज्यादा हैं। **अज्ञेय** जी, धीरे-धीरे, अपने बारे में बोलते-लिखते निरंतर और ज्यादा असावधान होते गये हैं, तो क्या कहीं-न-कहीं इसमें हमारा भी योगदान नहीं है कि हमने अपने इस अग्रज साहित्यकार को यह अहसास ही नहीं होने दिया कि उसका वास्ता सिर्फ 'पीछे-पीछे आने वालों' से ही नहीं, आमने-सामने वालों से भी पड़ेगा?

'अनुपार्जित धन विकृति पैदा करने वाला होता है, इसका प्रमाण हम चारों ओर देख सकते हैं—ठीक इन दिनों तो ज्वलंत रूप में, जबकि देश के राजनैतिक जीवन की दिशा निर्धारित करनेवाली प्रबल शक्ति के रूप में सर्वत्र अनुपार्जित शक्ति का ही खेल दीख रहा है। तो यह

जो पुरस्कार की राशि मुझे मिली है, यह क्या उपार्जित धन है? पचास वर्ष से मैं लिख रहा हूँ, आगे भी अपने लिए विश्राम नहीं देखता, न चाहता हूँ, फिर भी यह क्या मेरा उपार्जन है, मेरा भोग्य है? 'तेन त्यक्तेन भुंजीथा:'—यह क्या मनोभावों को एक रंगत-भर देने के लिए है, व्यावहारिक लक्ष्य नहीं है? इस द्वंध को आपसे छिपाना नहीं चाहता। बल्कि आपको उसका साक्षी बना लेना चाहता हूँ। आपकी सहानुभूति मुझे उस द्वंध को मिटाने का बल देगी। उससे मुक्त होने का जो मार्ग मुझे धूंधला-सा दीखता है, उसे स्पष्ट प्रकाशित करेगी।'

भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार के समर्पण-समारोह के अवसर पर, पुरस्कृत कवि **अज्ञेय** जी के अभिभाषण का उपरोक्त अंश यहाँ उद्धृत करने के पीछे यह मनोभाव है कि अंततः अज्ञेय जी ने जब दूसरों को भी अपने साहित्यिक दाय—बल्कि कहा जाय कि 'दृष्टि'—का साक्षी और सहभागी बना लेना चाहा है, तो विनयपूर्वक कुछ कह लिया जाय।... हालांकि हम यह भी जानते हैं कि **अज्ञेय जी 'विवाद'** में रहने को श्रेयस्कर मानते आये हैं, **'संवाद'** में उनकी आस्था नहीं।

जिस तरह के प्रभुत्ववादी मनोवृत्त में रहने के **अज्ञेय** जी इच्छुक-अभ्यस्त रहे हैं, उनमें सिर्फ **'अपने पीछे-पीछे वालों'** के प्रति अंगीकार-भाव दिखता है। दूसरों को अनुवर्त्तियों की कतार में देखने के अभिलाषी व्यक्ति के लिए **'संवाद'** की न तो कोई गुंजाइश रह जाती है, न सार्थकता और न जरूरत—इस बात को **अज्ञेय जी** से बेहतर कौन जानता होगा? फिर भी जब उन्होंने उदारता बरती है, तो उनकी इस औपनिषदिक-मुद्रा के निकट हमें जाना जरूर चाहिए, क्योंकि **अज्ञेय** जी निर्विवाद रूप से हिन्दी साहित्य के समकालीन दौर के एक महत्वपूर्ण लेखक हैं और उनकी अवज्ञा करना अविवेक का परिचय देना है।

किसी भी बड़े लेखक की शोभा इसी में है कि वह विचार किये जाने की स्थितियाँ सम्भव करे और उस पर विचार किया जाये। यहाँ हम

आश्वस्ति अनुभव करना कि **अज्ञेय** जी अपने उपर विचार किये जाने को 'विरोध किया जाना' न मानेंगे, उन्हीं के प्रति समादर व्यक्त करना है। **अज्ञेय** जी अब अपनी साहित्य-यात्रा के शिखर पर पहुँच गये हैं और **'तेन त्यक्तेन भुंजीथा:'** की औपनिषदिक चेतना को उन्होंने यदि अपनी आकांक्षा से एकाकार करके, इसमें दूसरों के साक्ष्य और सहकार का आह्वान किया है, और ऋषित्व धारण करने की उद्‌घोषणा की है, तो सम्भवत: यही सही वक्त है, जब हमें उनके **'गंतव्य'** की वास्तविक पड़ताल कर लेनी चाहिए, क्योंकि अतीत में **अज्ञेय** जी **'आ, तू मेरे पीछे-पीछे आ'** की पुकार लगाने वाले मार्गद्रष्टा कवि रह चुके हैं। आज जिस दिशा में वो आगे बढ़ रहे हैं, कल वर्त्तमान तथा आने वाली पीढ़ियों के साहित्यकार भी पहुँचना चाहेंगे, क्योंकि **अज्ञेय** जी पर चाहे किसी का न पड़ता हो, लेकिन उनका प्रभाव सब पर पड़ता है, ऐसा वो खुद ही कहते आ रहे हैं।

यहाँ, इस प्रसंग में, फरवरी' ७८ की किसी तारीख में नयी दिल्ली के **'मैक्समूलर भवन'** में आयोजित काव्य-संध्या की स्मृति अनायास ही हो आई है। वह काव्य-संध्या भी **भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार** से अलंकृत कवि **अज्ञेय** की अभिवंदना के निमित्त ही 'आयोजित' थी। इस अवसर पर **अज्ञेय** जी ने मृदुल स्मिति और विनय के साथ स्वीकार किया कि अपनी प्रशंसा अपने कानों से सुनने को हमारे शास्त्रों में **'पातक'** की संज्ञा दी गयी है और कि इसके भागी वो यहाँ हो रहे हैं···साथ ही यह भी कहा, कि उन्हें परितोष इतना जरूर है कि—**'आप सब आत्मीय जनों के निमित्त से ही यह सब आयोजन हुआ और आप सब भी इसमें सहभागी हैं।'**

निर्लिप्त होने की यह शास्त्रीय मुद्रा धारण करते हुए **अज्ञेय** जी यह बताना भूल गये कि शास्त्रों में **'अपने अभिनन्दन का आयोजन स्वयं करने में निष्णात होने को'** क्या कहा गया है।

पहले अपने अभिनंदन का सुनियोजित उद्यम और फिर स्वप्रशंसा-श्रवण के पातक के प्रति अपने सावधान होने की यह ऋषिमुद्रा—यह सारा चातुर्य उनके वास्तविक चरित्र को कैसे सबके सामने प्रकट और उजागर कर रहा है, यह चिन्ता **अज्ञेय** जी में तिल-भर भी दिखी नहीं। स्मरण है कि उस काव्य-संध्या में जर्मन साहित्यकार **लोठार लुत्शे** ने (जिन्होंने कि अज्ञेय जी की कुछ कविताओं के जर्मन-अनुवादों का पाठ वहाँ किया था) जिन शब्दों में **अज्ञेय** जी की 'स्तुति' की, स्पष्ट आभास हुआ कि प्रारम्भ में ही अज्ञेय जी ने क्यों स्वीकार कर लिया कि अपनी प्रशंसा स्वयं सुनने को पातक की संज्ञा दी गयी है। लुत्शे महोदय, लगता था, जैसे साहित्यकार पर न बोलकर, मूर्ति-वंदना कर रहे हों और बेसाख्ता **पं० विद्यानिवास मिश्र** तथा **डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी** जी की याद हो आई और निकट ही बैठे **राजेन्द्र यादव** से यह पूछना पड़ा, महाशय **लुत्शे** को लेकर, कि क्या ये सज्जन **पं० विद्यानिवास मिश्र** के जर्मन-संस्करण हैं ?

यहाँ शायद, यह पूछ लेने की भी गुंजाइश है कि स्वप्रशंसा-श्रवण को **'पातक'** के रूप में देखने वाले **अज्ञेय** जी को आखिर उस अभिनंदन-अनुष्ठान में शामिल होने को **'बाध्य'** किसने किया ? क्योंकि **अज्ञेय** जी के बारे में इतना तो कहा ही जा सकता है कि वो आसानी से **'बाध्य'** होने वाले व्यक्ति हैं नहीं।

हमारी दृष्टि में तो स्वप्रशंसा सुनने के प्रति लगाव होना स्वभाव की दुर्बलता का प्रतीक भले ही हो, **'पातक'** नहीं है—**'पातक'** यदि कहीं है, तो इस चतुरता में कि **'प्रशंसा-पुराण बाँचे जाने के सूत्र'** भी हमारे ही हाथों में रहें और **'प्रशंसा-श्रवण के मोह से मुक्त हो चुकने का श्रेय'** भी हमें ही मिले। **अज्ञेय** जी ने अन्यत्र अपने **'मुग्ध'** हो सकने के खतरे से भी इंकार किया है, किन्तु जिन्होंने उक्त अभिनन्दन-समारोह में उपस्थित **अज्ञेय** जी को अपनी आँखों से देखा होगा, उनके लिए यह

संकट जरूर उपस्थित हो सकता है कि '**मुग्ध**' होना आखिर होता क्या है, यदि मान लिया जाय कि **अज्ञेय** जी '**मुग्ध**' नहीं होते ।

......और अब २८ दिसम्बर '७८ के पुरस्कार-समारोह में '**तेन त्यक्तेन भुंजीथाः**' को साक्ष्य करते हुए **अज्ञेय** जी ने एक लाख की पुरस्कार-राशि के '**त्याग**' की उद्घोषणा की, तो तब भी उनमें यह चिंता, शायद, कहीं नहीं रही कि '**त्यागते हुए भी भोगवृत्ति का संवरण न कर पाना, औपनिषदिक होना नहीं, व्यावसायिक होना है ।**'

क्या **अज्ञेय** जी को हम सचमुच इतना '**अज्ञ**' मान लें कि स्वयं न जानते होंगे कि '**त्याग**' के प्रति आत्मलिप्त और प्रचार-लोलुप होना, '**त्याग का रोजगार**' करना है । उपार्जित से '**निवृत्त**' होना नहीं, बल्कि उसे पूर्वापेक्षा बड़े फलक पर भुना सकने में '**प्रवृत्त**' होना है । इतना सहज ज्ञान तो प्रत्येक को होता है कि बंसी के काँटे में '**चून**' लगाकर, तालाब के किनारे बैठना '**आटे का त्याग**' नहीं '**मत्स्य-आखेट की तैयारी**' है ।

'**बौद्धिक**' होने और '**विवेकवान**' होने में फर्क है । विनयी और मुद्रा-निष्णात होने में अन्तर है—इस फर्क का **अज्ञेय** जी को बोध न होगा, यह कहना उनके चतुर (और सावधान) होने को चुनौती देना होगा।...... किन्तु, सम्भवतः, अब वह समय आ चुका है, जब हिन्दी साहित्य—और साहित्यकार—के हित में यह कहना आवश्यक हो गया है कि **अज्ञेय** जी ने यदि अपने अभिभाषण में यह भी कहा कि '**लेखक परम्परा को तोड़ता है ।**' तो उनके इस आप्तवचन की पड़ताल कर ली जाय ।

अज्ञेय जी ने कहा—'लेखक परम्परा को तोड़ता है, जैसे किसान भूमि तोड़ता है । मैंने अचेत या मुग्ध भाव से नहीं लिखा । जब परम्परा तोड़ी है, तब यह जाना है कि परम्परा तोड़ने के लिए मेरे निर्णय का प्रभाव आने वाली पीढ़ियों पर भी पड़ेगा ।' ज्ञानपीठ-पुरस्कार समारोह, २२ दिसम्बर '७८ ।

इतना कह लेने को **अज्ञेय**जी क्षम्य मानेंगे कि चतुरता बरतने में जो चूक हो जाती है, वह बहुत क्षतिकारी होती है, क्योंकि इससे सहमत होने में किसी को आपत्ति न होगी कि उन्होंने **सूरदास-तुलसीदास-कबीरदास** की परम्परा को न सिर्फ इतना कि तोड़ा है, बल्कि बुरी तरह ध्वस्त कर डालने का निरन्तर उद्यम किया है। समाज से लेखकों और लेखकों से समाज को विच्छिन्न करने के पूँजीवादी उद्यमों में खुद उनका योग कितना रहा है, यह अन्ततः उजागर होगा—यह चिंता यदि **अज्ञेय जी** में सिरे से नदारद है, तो अपनी नियति का भोग भी उन्हें ही भोगना है—न साक्षियों को और न अनुगामियों को।

पं० विद्यानिवास मिश्र, डॉ० रामस्वरूप चतुर्वेदी—तथा बहुत-से अन्य—कीर्तिवाहकों के रहते खुद के **'परम्परा-भञ्जक होने की दावेदारी' अज्ञेय जी** को स्वयं ही बरतनी पड़ी है, तो हम भी स्वीकार करना चाहते है कि भारत के महान् साहित्यकारों की सांस्कृतिक-सामाजिक परम्परा को ध्वस्त करने की **अज्ञेय जी** ने जिस तरह लगातार कोशिशें की हैं, चाहे जाने या अनजाने, उनके इस परम्परा-भंजन का अनिष्टकारी प्रभाव वर्त्तमान और भावी पीढ़ी के कवि-लेखकों को भी अभिशप्त करेगा जरूर, क्योंकि वर्त्तमान पीढ़ी के बहुत-से अनुवर्ती कवि-लेखकों पर यह दुष्प्रभाव साफ-साफ दिखाई देता है।

यहाँ, इस सन्दर्भ में, यह स्वीकार करने से बचा गया है कि **अज्ञेय जी** ने भारतीय साहित्यकारों की महान् परम्परा को सचमुच ध्वस्त कर डाला है, तो इस इतमीनान में ही कि यह न **अज्ञेय जी** के वश की बात है, न किसी और के। वास्तविकता यह है कि परम्परा को आगे बढ़ाने में असमर्थ, किन्तु फिर भी महान् लेखक मान लिये जाने की आत्मबुभुक्षा से ग्रस्त लेखक ही परम्परा-भंजक होने का दावा करते हैं जबकि किसी भी मूल्यगत परम्परा को तोड़ना असम्भव है। **अज्ञेय जी** लगता है कि जानबूझकर इस वंचना का वरण करना चाहते हैं, और यह

देखना उनके द्रष्टा और चिंतक साहित्यकार माने जा सकने की सम्भावनाओं को धूमिल करता है।

यों **अज्ञेय जी** परम्परा-भंजक ही नहीं, शब्दार्थ-भंजक भी हैं। वो जब कहते हैं—**'मैंने अचेत या मुग्ध भाव से नहीं लिखा।'** तो इससे एक ध्वनि तो यह निकलती है कि **'बाकी सबने अचेत भाव से लिखा।'**... और दूसरी यह कि उन्होंने जो-कुछ लिखा, लिखेंगे, बोलेंगे, वह सब इस **'सचेत'** भाव से ही कि अपने प्रभुत्व को दूसरों (में) से मनवा लेना कठिन तो नहीं ही है, इस **'उपार्जन'** पर अपने **'मुग्ध'** होने को भी कभी न मुग्ध होना सिद्ध कर लेना है।

भाषा छद्म और झूठ को ढाँपती नहीं, उजागर करती है। लेखक या तो छद्म और झूठ को आचरण में न आने दे और या फिर भाषा न बरते, यह बात अज्ञेयजी-जैसे भाषा के दावेदार से कहनी पड़े, यह सचमुच संकोच में डालने वाली स्थिति है। भाषा **'अभिव्यक्ति'** का माध्यम है और अपनी आचरण-भ्रष्टता ढाँपने के लिए भाषा को इस्तेमाल करना ठीक ऐसा ही है, जैसे कोई कुष्ठरोगी अपने शरीर पर के घाव छिपाने के लिए पारदर्शी कपड़े पहन ले। **'शब्द'** से **'छद्म'** को ढाँकना, कागज की टोपी से जिन्दा मेंढक को ढाँकना है।

भाषा **'ज्ञात'** का प्रतिफलन है और जो **'भाषा'** में आ जाता है, वह फिर **'अज्ञेय'** नहीं रह जाता—इस सनातन सत्य को जानते भी **'अज्ञेय जी'** भाषा को **'इस्तेमाल'** करते हैं और **'आवृत्त'** हो सकने की जगह **'उजागर'** होते जाते हैं। कदाचित् उन्हें **'अज्ञेय'** ही रहना था, तो भाषा के निकट नहीं आना चाहिए था, क्योंकि अपने-आपको **'अज्ञेय'** बनाये रखने का उपाय सिर्फ एक ही है—और वह है जासूसी!—जबकि **अज्ञेय जी 'शब्द'** के मर्मज्ञ के रूप में जाने जाते हैं, किन्तु शब्द की दूरगामी शक्ति की प्रतीति उन्हें यदि वास्तव में रही होती, तो अपने साहित्य-गुरु **'जैनेन्द्र'** जी के **'मंतव्य'** को पहचान लेने में

उनसे इतनी बड़ी चूक न हुई होती। **जैनेन्द्र** जी ने एक शब्द देकर, **'अज्ञेय'** जी को सदैव के लिए अभिशप्त कर दिया, क्योंकि लिखने वाले को **'अज्ञेय'** कहना अन्धे का नाम **'नैनसुख'** रखना है। **'अज्ञेय'** जी जान नहीं पाये, किन्तु **जैनेन्द्र** जी जरूर जानते रहे होंगे, क्योंकि कई बार तो लगता है कि जैनेन्द्र जी ने जो नाम सहज भाव से या कैसे भी दे दिया, **'अज्ञेय'** जी उसके निहितार्थ को सदैव लिये रहने को कृत-संकल्प होते गये।

जो प्रारम्भ में कहा गया **कि अज्ञेय** जी 'संवाद' में आने की जगह 'विवाद' में पड़ने को बेहतर मानते रहे हैं, तो इस नाते ही कि वो स्वभाव से ही श्रेयवादी तथा प्रभुत्वाभिलाषी हैं और ऐसा व्यक्ति उन लोगों—और स्थितियों—से हमेशा अपने को दूर रखने की कोशिश करता है, जिनमें उसका कथन **'सर्वमान्य'** न हो सके। **'अज्ञेय'** जी में औपनिषदिकता अंश-मात्र भी विद्यमान होती, तो ज्ञानपीठ पुरस्कार के **'अनुपार्जित धन'** से पहले, अपने इस **'उपार्जित आत्मदर्प'** को त्याग चुके होते, जो उन्हें सदैव **'कृतार्थकर्त्ता'** होने की शोचनीय स्थिति में डाले रहता है। एक लाख की रकम का परित्याग, यदि यह नितांत शुद्ध चित और निरपेक्ष भाव से भी हो, तो भी उपनिषदों को कृतार्थ करना नहीं, औपदिषदिक वचनों की दिशा में एक कदम आगे चल पाना-भर है, किन्तु यह बात परम्परा-भंजन के आत्मदर्प में मुग्ध **अज्ञेय जी** सुनें ही क्यों? सुनते होते, तो **'अनुपार्जित धन की विकृतियों'** के प्रति सारे देश और समाज को सावधान करते हुए, स्वयं क्यों इसी विकृति से ग्रस्त हो जाते?

अज्ञेय जी का आज तक का जो रुख है, उससे स्पष्ट दिख जाता है कि प्रशंसा-पातक वहन कर लेने की क्षमता चाहे उनमें जितनी हो, तर्क-संगत किन्तु असहमति की द्योतक आलोचना को **अज्ञेय जी** सममुच बोझ समझते हैं, अन्यथा इस विवेक को क्यों त्याग देते कि पाश्चात्य तथा

भारतीय साहित्य-मुद्राओं का 'सचेत' सन्निवेश साहित्य की परम्परा को तोड़ना नहीं, दिग्भ्रमित करना है । दूसरों के साहित्य में से उगाहे गए शिल्प और भाषा-मुद्राओं में से परम्परा को तोड़ डालने जितनी मौलिकता का 'उपार्जन' यदि वास्तव में सम्भव हुआ करता होता, तो कथा-साहित्य में **प्रेमचन्द** और काव्य में **निराला** के ही आगे **अज्ञेय जी** आज इतने बौने न लगते होते ।

और जब अज्ञेयजी कहते हैं कि **'मैंने अचेत या मुग्ध भाव से कुछ नहीं लिखा ।'** और कि **'लेखक परम्परा को तोड़ता है, जैसे किसान भूमि तोड़ता है ।'** तो कहे बिना नहीं रहा जाता कि श्रीमान् जी, अचेत भाव से तो कोई कब्र तक नहीं खोदता ।……और कि किसान भी सचेत भाव से ही भूमि तोड़ता है, लेकिन **'मुग्ध न होने'** की स्थितप्रज्ञता की दावेदारी बरतने-जितना उसमें बौद्धिक छद्म नहीं होता है और अपने भूमि तोड़ने को **'भूमि (अथवा कृषिकर्म) की परम्परा को ही तोड़ डालने'** का पराक्रम मान लेने-जितना दम्भ शायद उसके स्वभाव के प्रतिकूल पड़ सकता है ।

अज्ञेयजी सिर्फ परम्परा को तोड़ने की ही नहीं, बल्कि अपने **'पीछे'** आने वाली पीढ़ियों के लिए परम्परा-भंजन की इस निधि को विरासत में छोड़ जाने का दावा भी करते हैं । ऐसे में, यह पूछ बैठना उन्हें अप्रिय न लगना चाहिए कि पिछली परम्पराओं का भंजन तो आप कर चुके, आने वाली पीढ़ियाँ किन परम्पराओं का भंजन करें ? आपकी ? लेकिन तब सवाल यह सामने आयेगा कि परम्परा-भंजक होने का दावेदार लेखक तो कभी भी परम्परा-जैसी कोई चीज विरासत में छोड़ नहीं जायेगा ? वह तो साँप की केंचुल की तरह यदि कुछ पीछे छोड़ता भी जाता है, तो सिर्फ अपना छद्म । अपना अहंकार । अपनी कृतघ्नता ।

अज्ञेय जी के इधर के लेखन में यह साफ दिख जाता है कि इस बात की स्वयं उन्हें गहरी अनुभूति (और प्रतीति) हो चली है कि उनके

इर्द-गिर्द प्रसिद्धि और सिद्धि का जो प्रभामण्डल आज दिखाई पड़ता है, इसमें उनके नैतिक अर्जन का योग कम, बौद्धिक उपार्जन की चकाचौंध ज्यादा है। मनुष्य और समाज की वास्तविक चिन्ता से लगभग शून्य, शिल्प और भाषा के बाहरी ताम-झाम से अलंकृत अपने साहित्य को लेकर आज सबसे अधिक संशयग्रस्त स्वयं **अज्ञेय जी** दिखने लगे हैं। शायद, उनको यह तो ज्ञात हो चुका है कि लेखक के प्रयोजन से बड़ा उसका साहित्य-सृजन हो जाय, यह सम्भव नहीं, किन्तु अब सम्भवतः वैसा सृजनकर्म उनमें सम्भव हो पाने का वक्त ही जाता रहा, जिसके दूसरों में—या कहा जाय कि **'परम्परा'** में—सम्भव हो चुकने को वो साफ-साफ देख पा रहे हैं।......और शायद, यही वजह है कि उन्हें **'परम्परा'** आह्वान करती नहीं, बल्कि रचनात्मक असामर्थ्य का साक्षात्कार कराती अनुभव होने लगी है। परम्परा से न जुड़ पाने की अपनी कुण्ठा से मुक्ति अज्ञेयजी यदि परम्परा की अवज्ञा में खोज लेना चाहते हैं, तो कहना होगा कि यह गलत खोजना है।

अज्ञेय जी, शायद, सहमत न हो पायें इस बात से कि वो मूलतः अहंकारी व्यक्ति हैं। जबकि उनके लिखे हुए को पढ़ने पर प्रायः अनुभूति होती है कि उनका अहंकार ही उनके विवेक और संवेदन को निरन्तर कुन्द करता गया है और वो मनुष्य से न **'व्यक्ति'** के स्तर पर ही उतने व्यापक सन्दर्भों में जुड़ पाये हैं, न **'साहित्यकार'** के रूप में, जहाँ कि लेखक मनुष्य की अस्मिता का संवाहक बन जाता है। अपने सारे **'आल-बाल'** के बावजूद उस कोटि की संवेदना में वो हो नहीं पाये हैं, जो 'बुद्धि' को 'मनीषा' में घटित करती है—इतनी प्रतीति उनमें है और अब यह प्रतीति ही 'भीति' बन गई है। इधर का उनका सम्पूर्ण वैचारिक लेखन इसी **'भीति'** की उपज है। **'भवंति'** से लेकर **'संवत्सर'** तक उनके विचार एक महान् लेखक के सृजनकर्म की सम्पदा से आलोकित दिखने की जगह, एक आत्मभीतिग्रस्त बड़े लेखक के सुरक्षा-कवच का 'ताना-बाना' होने की प्रतीति ज्यादा देने लगे हैं। **'संवत्सर'** की

भारतीय काल-परिकल्पना के भंजन के लिए **अज्ञेय जी** को योरप के महाशय **इन** की शरण जाना पड़ा है, तो सिर्फ इस 'आतमभीति' के चलते ही कि साधनों और अनुगतों के बूते पर प्रसिद्धि का जो विशाल प्रभा-मण्डल वह अपने आस-पास रचते गये हैं, इसके साक्ष्य कहीं उनके साहित्य में भी जरूर खोजे जायेंगे। इधर की उनकी पूरी चेष्टा साक्ष्य प्रस्तुत करने की रही है।

यहाँ हमें इस सन्दर्भ में अनायास ही **अज्ञेयजी** के **'निर्णय सागर'** से प्रभावित होने वाले एक अन्य लेखक **श्री नरेन्द्र कोहली** की याद हो आई है, जिन्होंने तुलसीकृत **'रामचरितमानस'** को **'भिड़ों का छत्ता'** घोषित किया है और अपने एक आत्मकथ्य में यह दावा कि **तुलसीकृत 'रामचरितमानस'** की असंगतियों का परिहार और रामकथा का **परिष्कार करने के संकल्प में से उन्होंने** अपने महान् उपन्यासों का सृजन किया है।

यदि **कोई** लेखक यह दावा करता है कि **तुलसी के राम** को परिष्कृत **करने और समाज-सम्मत** बनाने में उसने योगदान दिया है, तो यह **मानना होगा** कि वह भी परम्परा-भंजक है। चिन्ता सिर्फ यह है कि **प्रेमचन्द के 'गोदान'** की असंगतियाँ दूर और **'होरी'** का परिष्कार करने का कार्य तो श्री **कोहली**, सम्भवतः, अब अगले जन्म में ही कर पायेंगे? क्योंकि अभी तो **तुलसीदास** के बाद **वेदों, उपनिषदों, पुराणों, 'महाभारत'** के अलावा, **कालिदास-सूरदास** के साहित्य की असंगतियों को दूर करने तथा इन्हें तर्क-संगत और समाजोन्मुखी बनाने का महान् भार उन पर लदा हुआ है।

यहाँ **अज्ञेयजी** के साथ श्री **नरेन्द्र कोहली** के जिक्र को अप्रासंगिक न मान लिया जाय, क्योंकि दोनों परम्परा-भंजन की दावेदारी में निष्णात हैं। दोनों में ही विनय का लोप है। और कि **अज्ञेयजी** इस अर्थ में जरूर सौभाग्यशाली हैं कि उनके परम्परा तोड़ने के निर्णय से प्रभावित लेखक उन्हीं के सामने उपस्थित है।

गहरे जाकर विवेचन करने वालों के लिए यह टोह लेना कठिन न होगा कि **अज्ञेयजी** ने **सूरदास-तुलसीदास-कबीरदास** और **प्रेमचन्द प्रसाद-निराला-मुक्तिबोध** की परम्परा को चाहे जितना तोड़ा हो—सत्ता-सामीप्यकामी, साधन और प्रचार-लोलुप कवि-लेखकों की परम्परा को उन्होंने आगे ही बढ़ाया है। हाँ, उनके परितोष के लिए, इतना मान लिया जा सकता है कि इस दरबारी और समाजविमुख कवि-लेखक-परम्परा में **'तेन त्यक्तेन भुंजीथाः'** के बौद्धिक छद्म के समावेश की परम्परा, उन्हीं से शुरू हो रही है।

सत्ता और पूँजीवादी व्यवस्था के सामीप्य तथा औपनिषदिक ऋषियों के औदात्य—दोनों ध्रुवों में एकसाथ विद्यमान रह सकने की-आत्मछलना में मुग्ध **अज्ञेय जी** से अब यह कौन कहे कि दोहरे व्यक्तित्व में से और जो चाहे सम्भव हो, किन्तु **'ऋषित्व'** सम्भव है नहीं। पूँजीवादी संस्थान-द्वारा सौंपे गये **'अनुपार्जित धन'** के **'उपार्जन'** में अपने स्वत्व, सत्व और संवेदन को जिस सीमा तक त्यागना पड़ा होगा **अज्ञेयजी** को, इसके बाद भी **'त्याग सकने की नैतिकता'** उनमें शेष रह गयी होगी, यह आशा तो, शायद, स्वयं **अज्ञेयजी** भी न करना चाहेंगे, तब वह हम सबको **'तेन त्यक्तेन भुंजीथाः'** का साक्ष्य और सहभागी क्यों बनाना चाहते हैं?......क्योंकि पहले धन को नाना प्रकार के प्रयत्नों-द्वारा **'उपार्जित'** करना और फिर उसे **'अनुपार्जित धन'** कह सकने के नैतिक बोध (और हक) से स्वयं के सम्पन्न होने का पाखण्ड बरतना—यह सब किसी भी दृष्टि से औपनिषदिक होना नहीं है, इस सत्य को **अज्ञेयजी** जानते न होंगे, यह मान लेने की गुंजाइश है नहीं। **अज्ञेयजी** में त्याग की नैतिकता होती, तो हिन्दी में ही **जैनेन्द्र जी** से पहले **ज्ञानपीठ पुरस्कार** स्वयं प्राप्त कर लेने में उन्हें ग्लानि अनुभव हुई होती। क्योंकि बाहर न स्वीकारें, भीतर तो अज्ञेय जी भी मानते होंगे कि **जैनेन्द्र** उनसे सिर्फ उम्र में ही बड़े साहित्यकार नहीं हैं।

स्पष्ट है कि मुद्रा में ऋषि और मनोवृत्ति में महन्त **अज्ञेयजी** इस **'अनुपार्जिक धन'** के त्याग (के भोग) में हम सबको यदि साक्षी बना लेना चाहते हैं, तो सिर्फ इसलिए कि **'तेन त्यक्तेन भुंजीथाः'** का जो प्रभामण्डल वो अपने चारों ओर रच लेना चाहते हैं, हम सबका भी **'योगदान'** (यानी **'इस्तेमाल'**) इसमें समान रूप से हो सके।...और यदि हम कहना चाहें कि औपनिषदिक ऋषियों के तुल्य मान लिये जाने के **'पातक'** से **अज्ञेय जी** को बचा लेने की चिंता—और चेष्टा—में ही यहाँ इतना सब लिख जाने को **'बाध्य'** होना पड़ा है, तो आशा है, **अज्ञेय जी** इसमें दोष न देखेंगे; क्योंकि जब बाड़ ही खेत चरने लगे, तो उसकी पड़ताल करने को बाध्य हो ही जाना पड़ता है।

अब यहाँ, थोड़ा इस विवेचन में जाने को भी विषयांतर न माना जाय कि **'अनुपार्जित धन'** के त्याग की जो योजना अज्ञेय जी—या उनके अनुगामियों—ने बनाई है, यानी **'वत्सल ट्रस्ट'** की योजना, इसका चरित्र क्या कहीं भी कुछ सेठों-द्वारा निर्मित और संचालित मानव-कल्याण-योजनाओं से भिन्न होगा? विपन्न, विक्षिप्त और विकलांग लेखकों—अथवा उनके आश्रितों—को आर्थिक सहकार दे पाने के निमित्त किया गया कोई प्रयत्न पुण्यकर्म ही, सामान्यतया, कहा जा सकता है, किन्तु जो व्यक्ति लेखकों को पहले विपन्न, फिर विक्षिप्त-विकलांग और अन्त में आश्रयहीन आश्रितों के आँसुओं के बीच विदा हो जाने की दारुण स्थितियों में डालने वाली इस पूँजीवादी व्यवस्था के विरोध में न हो, वह लेखकों के कल्याण की दिशा में कोई पहल करेगा, यह असम्भव है। **अपने अनुगतों को उनके चाटुकर्म की कीमत चुकाना 'प्रत्येक लेखक के प्रति संवेदनशील अथवा शुभैषी'** होना कत्तई नहीं होता, इसे अज्ञेयजी खूब समझते हैं।

दाता होने के दम्भ में सनी दयाभावना एक किस्म का सामाजिक अपराध है। जिस सत्ता और व्यवस्था में समाजद्रोही शक्तियाँ हावी होती

हैं, सिर्फ वहीं मनुष्य को दया के पात्र के रूप में देखा जाता है। जिस देश में मानव-संतति को अनाथ बनाने वाली पैशाचिक अर्थव्यवस्था मौजूद होती है, सिर्फ वहीं **'अनाथालय'** भी स्थापित किये जाते हैं। दूसरों पर दया करने के अहंकार से घृणित मनोवृत्ति और कुछ नहीं, यदि वह **'पहले लोगों को उत्पीड़न का आखेट बनाओ और फिर अपने को उनके बीच करुणाकर के रूप में प्रतिष्ठित करो !'** की धूर्तता में से उदित हो। **अनाथालय, धर्मशाले, मन्दिर, ट्रस्ट, दातव्य औषधालय और विद्यालय**—ये सब पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के पैशाचिक चरित्र पर मानव-कल्याण की मुहर लगाने के सुनियोजित षड्यन्त्रों की उपज होते हैं। पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में मनुष्य के प्रति सम्मान की नहीं, दया की भावना को पोषित करने पर जोर दिया जाता है, ताकि **'दयाभाव'** के प्रदर्शन पर शोषित-पीड़ितों को अपनी दयनीयता का बोध न होकर, दाताओं के प्रति कृतज्ञता की अनुभूति हो और कालाबाजार के सूत्रधार पूंजीपति **'करुणामय'** दिखाई पड़ें।

अज्ञेय जी भी क्या ऐसे ही **'करुणामय'** प्रमाणित होना चाहते हैं ? क्या वो नहीं जानते कि लेखकों के लिये स्वत्व और सच्चाई पर रहते हुए भी जी सकने की परिस्थितियों के निर्माण की दिशा में पहल करना ही उनके वास्तविक हितों की चिन्ता करना है ? और क्या जिस लेखक में अपने पीछे आने वाली पीढ़ियों के प्रति चिन्ता और कल्याण का भाव हो, उसके लिए यह सम्भव है कि वह त्याग का भोग लगाते हुए पूंजीपतियों के द्वारा किये जाने वाले पाखण्डों में अपनी ओर से भी इजाफा करे ? **टाटा-बिड़ला-डालमिया-जैन-ट्रस्टों** अथवा **अज्ञेय-जैनेन्द्र-महीप सिंह-शैलेश मटियानी-ट्रस्टों** के बीच धनराशियों का अन्तर चाहे जितना हो, प्रवृत्ति और चरित्र का अन्तर नहीं ही होगा, क्योंकि **'ट्रस्ट'** पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था की उपज है, औपनिषदिक चेतना की देन नहीं। **'अनुपार्जित धन'** के त्याग का प्रदर्शन **'पूंजीवादी व्यवस्था के** भीतर मानवीय

करुणा और विवेक क विद्यमान' होने के पाखण्ड को लोगों में प्रचारित और प्रमाणित करने के अतिरिक्त और कुछ सार्थक करता नहीं।

क्या हम '**तेन त्यक्तेन भुंजीथा:**' के उद्गाता **अज्ञेय** जी से यह आशा करें कि वो सत्ता और प्रतिष्ठानों के सामीप्य और सुख के भोग की तृष्णा को त्यागकर, साहित्य, संस्कृति और समाज के साथ जुड़ने का विवेक बरतेंगे ? क्योंकि इस सच्चाई को भी **अज्ञेय जी** से ज्यादा कौन जानता होगा कि सत्ता और संस्थानों की ओर मुख तथा समाज की ओर पीठ किये-किये अब वो बहुत आगे निकल चुके हैं।······और हालांकि वापसी, शायद, सम्भव रह नहीं गई, लेकिन हम सब इसका साक्ष्य हो सकने की कामना तो करेंगे ही कि '**तेन त्यक्तेन भुंजीथा:**' के उच्चारण के दाता के लिये यदि सम्भव हो सके, तो सबसे पहले वह स्वयं के इस '**त्याग के प्रमाद**' को त्यागे। सत्ता तथा संस्थानों की शरण त्यागकर, समाज के बीच उपस्थित हो।

संतकवि **तुलसीदास** के '**सुखी मीन जहँ नीर अगाधा**' के मर्म को **अज्ञेय जी** जानते भी न होंगे, यह कहना सचमुच गलत कह जाना होगा, क्योंकि **अज्ञेय जी** ने संस्कृति और इतिहास का विपुल अध्ययन किया है, इसे उनका शत्रु भी स्वीकार करेगा, हम तो अपने को वास्तव में उनका '**साक्षी**' मानना चाहेंगे। और न इतिहास में, न संस्कृति में—कहीं न तो यह उदाहरण मिलता है कि मछली पानी के बिना ही जीवित रह गई।······और न यह कि कोई साहित्यकार समाज से विच्छिन्न होने के बावजूद जीवित बच गया। शायद, अज्ञेयजी तर्क देना चाहें, लेकिन हम स्वयं ही स्वीकार कर लेना चाहेंगे कि '**समाज-विमुख**' होने के अभिशाप से मुक्ति '**संस्कृति के सम्मुख**' होने में तलाशने का अथक और अनवरत उद्यम उन्होंने किया है, इसमें कहीं संशय नहीं; मगर यह चमत्कार ही आज तक कहाँ घटित हो पाया है कि **समाज की ओर पीठ करके चलत: व्यक्ति संस्कृति के सम्मुख पहुंच गया हो ?**

अज्ञेय जी साहित्य और संस्कृति की चिंता में दुर्बल दिखाई पड़ने की चेष्टायें करते समय जाने क्यों भूल जाना चाहते हैं कि जिस व्यक्ति में अपने समय के मनुष्य और मानव-समाज की चिंता नदारद हो, उसमें साहित्य-संस्कृति की चिंता का होना जलविहीन सरोवर में कमल-पुष्पों का खिलना है। **'मायासरोवर'** का मिथक **अज्ञेय जी** को ज्ञात न होगा, यह कौन मानेगा ?

'भाषा' को लेकर जितना **अज्ञेय जी** ने लिखा है, शायद ही हिन्दी के किसी अन्य साहित्यकार ने लिखा हो। प्रकृति के समीप जितना **अज्ञेय जी** गये होंगे, शायद ही हिन्दी का कोई दूसरा लेखक गया हो; मगर भाषा और प्रकृति को अपने निजी इस्तेमाल में ला सकने के में ही **अज्ञेय जी** का हश्र यह हुआ है कि जब वो कहते हैं, **'त्याग'** तो प्रतिध्वनित होता है— **भोग** !…जब वो कविता करते हैं वृक्ष तथा नदियों को धन्य कर डालने के मनोभाव में, तो प्रतिबिम्बित होती जाती है, उनकी अहम्मन्यता ! यह सब विपथगामी होते जाने का ही प्रतिफल है और **'तेन त्यक्तेन भुंजीथाः'** ने इसे और ज्यादा प्रत्यक्ष किया है।

लिखना और लेखक होना **अज्ञेय** जी की प्राथमिकता है और पचास वर्षों तक अविराम लिखकर भी आगे के लिये लिखने को ही अपना कर्म पाना सामान्य बात नहीं है। इस नाते हम सबके निकट **अज्ञेय** जी आदर और प्रतिष्ठा के पात्र हैं, किन्तु खेदजनक यह है कि अब तक के उनके लिखने और लेखक होने में निरन्तर एक वाग्जाल और छद्म का समावेश होता गया है। **अज्ञेय** जी से जुड़े अनेक समकालीन लेखकों में भी यद छद्म साफ-साफ दिख जाता है। यह जहाँ इस बात का प्रतीक है कि उनके द्वारा प्रभावित होने वाले लेखकों की एक पूरी शृंखला है, वहीं इस बात का प्रमाण भी है कि उन्होंने **'भाषा'** को मनुष्य और समाज की चिंता से काटने का उद्यम किया है। क्योंकि **अज्ञेय** जी की कोटि के साहित्यकार ने जब जोड़ने का संघर्ष न किया हो, तो मान लेना होगा कि ऐसा गफलत में तो नहीं ही हुआ होगा।

अब, अंत में, यहाँ एक मिथक की चर्चा और कर ली जाय, यह दोहराते हुए कि **'तेन त्यक्तेन भुंजीथाः'** का अर्थ, शायद, **'उसके'** (यानी **ईश्वर** के) द्वारा दिये गये को विनत भाव से ग्रहण करना है— **'अपने'** द्वारा त्यागे जा रहे का स्वयं ही **'भोग'** लगाना नहीं।

'महाभारत' में एक मिथक इस तरह का है, जिससे ज्ञात होता है कि ऋषियों को जब अपनी कामवासना तृप्त करनी होती थी, तो वो इसे पशुकर्म मानकर, पशुओं का रूप धारण करके रतिकर्म में प्रवृत्त होते थे। **अज्ञेय** जी पुरातत्व और प्राचीन वाङ्मय के इतने बड़े अध्येता होते हुए भी **'पशुकर्म'** में प्रवृत्त होते समय **'ऋषिरूप'** धारण कर लेने की जरूरत अनुभव करते हैं, यह सचमुच विस्मय में डालने वाली बात है! **अनुपार्जित धन**' का **'ट्रस्ट'** स्थापित करने की योजना बनाते समय यदि कोई कालाबाजारी सेठ कहता तो कहता— **'तेन त्यक्तेन भुंजीथाः'** का औपनिषदिक वचन **अज्ञेय** जी-जैसे मनीषी कवि ने कहा, इस विडम्बना के **'साक्षी'** हम जरूर हैं, किन्तु **'सहभागिता'** तो सिर्फ उनके हिस्से जायेगी, जो या तो सचमुच **'अज्ञ'** होंगे और या जिन्हें **अज्ञेय** जी के द्वारा त्यागे गये का भोग लगाना होगा!

• •

तेन त्यक्तेन भुंजीथाः / परिशिष्ट

मई पूर्वार्द्ध, १६८० के 'अवकाश' में डॉ० जगदीश गुप्त का एक लेख छपा था—**'वत्सल निधि, अज्ञेय भारतीय संस्थान और वृक्षारोपण समारोह— एक परिदृश्य ।'**

उपरोक्त लेख के वो सभी मुख्य अंश यहाँ प्रारम्भ में ही दिये जा रहे हैं, जिन पर कि आगे दिया गया विस्तृत पत्र आधारित है । **जगदीश** जी के अतिरिक्त, **शाह** तथा डा० **वांबिवडेकर** से हुआ पत्र-व्यवहार भी साथ ही प्रकाशित किये जाने के पीछे उद्देश्य है कि **अज्ञेय** जी से सम्बन्धित सारी सामग्री एक साथ चली जाय । संग्रह में छपने से पहले यह सारी सामग्री **'जनपक्ष'** के चौथे पाँचवें तथा छठे अंक में प्रकाशित हुई थी ।

लेख के संदर्भित अंश

'अपनी रचनात्मक उपलब्धियों और साहित्यिक कृतियों के लिये पुरस्कृत तो अनेक साहित्यकार हुए, पर ऐसे उदाहरण कम ही मिलते

हैं जिन्होंने पुरस्कार-राशि को निजी उपयोग में न लाकर **साहित्य की मूल्यवत्ता** और **साहित्यकार की स्वतंत्र अस्मिता** की प्रतिष्ठा में उसे समर्पित कर दिया हो।

'भारतीय ज्ञानपीठ पुरस्कार' भी अनेक साहित्यकारों को उपलब्ध हो चुका पर उनमें से केवल **'अज्ञेय'** ही ऐसे निकले, जिन्होंने इसी सदुद्देश्य से पुरस्कार में प्राप्त एक लाख के साथ एक लाख अपनी ओर से जोड़कर, दो लाख की राशि को स्थायी बना दिया। उनके संकल्प का आभास पाकर **विद्यानिवास** जी ने तो उनसे उस राशि में एक रुपया ही जोड़ने की बात कही थी, पर उन्होंने **'एक'** को **'एक लक्ष'** तक पहुँचा कर सारी योजना को विशेष लक्ष्य की ओर उन्मुख कर दिया। बैंक से सूद के रूप में प्रति वर्ष सहस्रावधि आय होगी, उसे अनेक प्रकार के साहित्यिक अनुष्ठानों एवं योजनाओं को कार्यान्वित करने में व्यय किया जायेगा। इस सबकी कोई लिखित योजना तो सामने नहीं आयी लेकिन पूछने पर, सधे शब्दों में **वात्स्यायन** जी ने मुझे ऐसा ही बताया।

सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन के ७० वें जन्म-दिवस (७ मार्च ८०) पर उनकी जन्म-भूमि कुशस्थली (कसिया) में **'अज्ञेय भारतीय साहित्य संस्थान'** के तत्वावधान में आयोजित द्विदिवसीय समारोह में, योजना के सूत्रधार एवं प्रधान व्यवस्थापक **विद्यानिवास मिश्र** ने मुझे अधिकृत किया कि मैं भरी सभा में उसके स्वरूप का परिचय देते हुए उसके वात्स्यायनोचित नाम **'वत्सल निधि'** की घोषणा करूँ। 'कुंठा-रहित इकाई' को 'साँचे ढले समाज' से वरीयता देने वाले कवि **'अज्ञेय'** के विषय में, जीवन की प्रखर स्रोतस्विनी के प्रति समर्पित उनकी 'द्वीपता' और गर्वमय होकर भी पंक्ति में मिल जाने की कामना रखने वाली 'द्वीपता' का स्मरण कराते हुए, अन्त में जब मैंने **'वत्सल निधि'** का परिचय दिया तो जैसा स्वाभाविक था, वहाँ समुपस्थित आबाल-वृद्ध सभी ने सूचना का उन्मुक्त भाव से स्वागत किया। इस करतल ध्वनि की गूंज

का वास्तविक श्रेय तो **विद्यानिवास** जी को ही है, पर मैं जो निमित्त बना, उसके लिये आभार न मानूं तो भी गलत होगा।

अपने को **वात्स्यायन** जी से केवल सत्रह वर्ष पहले जन्मा हुआ बताकर वयोवृद्ध एवं ज्ञानवृद्ध हिंदी सेवी पंडित **श्रीनारायण चतुर्वेदी** ने तिरुपति के देवस्थान से प्रसाद रूप में प्राप्त जरी की नक्काशी वाला कामदार रेशमी दुपट्टा कंधों पर डाल कर अपनी **समस्त वंश-परम्परा का पुण्य सहेज कर उदात्त स्वस्ति-वाचन से अंजलिबद्ध अज्ञेय जी को अभिनन्दित किया। उनके हाथों से उन्होंने न केवल पुष्पमाला, वरन चाँदी के वर्क में लपेटा महानारिकेल-फल भी प्राप्त किया।** समुचित व्यवस्था के अभाव में टेप करके रखा गया वेदपाठ सुनाया नहीं जा सका।

लखनऊ से कोई नहीं आ पाया। प्रयाग से मेरे अतिरिक्त डाक्टर **रामकमल राय** ही जा सके। पटना का प्रतिनिधित्व भी नहीं हो सका। इन जगहों से आने वालों के नाम कार्यक्रम में छपे ही रह गये। निश्चय ही उन्होंने अपनी स्वीकृति दी होगी; पर उनकी अप्रत्याशित विवशताएँ अंततः **विद्यानिवास** जी के आमंत्रण पर विजयी हुयीं। **वात्स्यायन** जी का सौजन्य यह कि एक दिन पहले आकर अनुजों के स्वागत के लिये स्टेशन पर प्रस्तुत मिले।

इलाजी और उनकी समुपस्थिति ने वातावरण को असाधारण पारिवारिकता प्रदान की।

दूसरे दिन यानी ८ मार्च को **वात्स्यायन** जी के जन्म स्थल की खोज करके प्राप्त किये गये गेहूँ के खेत में हम सभी एकत्र हुए। **श्रीवर जी** ने वहाँ के प्रधानाचार्य से 'पंक्चुअलिटी' के विदेशी होने की बात कह कर जब उसका हिन्दी 'पर्याय' या भारतीय सम-शब्द पूछा तो वे नाराज हो गये, पर **चतुर्वेदी जी** की बात न केवल सही थी, वरन इस आयोजन में वह भविष्यवाणी बन गयी। हर काम घंटे-डेढ़ घंटे बाद शुरू हुआ, पर 'देर' ने 'दुरुस्ती' में कमी नहीं आने दी।

भावी योजना के अनुसार यही खेत संस्थान के रूप में विकसित होगा। **इसी के उत्तरी भाग में पांच साल वृक्ष रोपे** गये हैं। सबने खेत में बने गड्ढे की मिट्टी को अपने हाथों से हटा कर पौधे रोपे। जिन्हें पानी से सींचा, जिनकी रक्षा के लिये टीन के ड्रम लाये गये वे नहीं पनपेंगे ? जैसे अतिशय प्रियता में शंका उपजना स्वाभाविक होता है—नजर लगने की बात उठती है, यह कुछ वैसा ही है।

कुछ नक्श हाशिये के भी हैं। जैसे पूर्वांचली नेता **राजमंगल पांडे** के घर की शाम देवरिया में **जनपद पत्रकार संघ** का अधिवेशन, गोरख-पुर विश्वविद्यालय के परीक्षा-भवन में **वात्स्यायन** जी का भाषण और उसके बाद वहीं पर अंधेरे में हुई काव्य-गोष्ठी।

सरदार सुरेन्दर सिंह की गाड़ी से हम लोग अभिनंदन-समारोह के बाद पहुँचाये गये पंडित **राजमंगल पांडे** की दुमंजिली कोठी में। पांडे जी ने खिलाया-पिलाया तो सबको, पर बात की सिर्फ सरदार जी से और बात भी क्या—जिसे ऐसी-तैसी करना कहते हैं, वह। सरदार जी की बुजुर्गी का उन्होंने कोई लिहाज नहीं किया। यह उनके निजी परम स्वार्थहीन सम्बन्धों की गहराई हो सकती है पर **साहित्यिक अतिथियों से उन्होंने कोई वास्ता नहीं रखा।** यह उनके जैसे प्रसिद्ध राजनेता से किसी को आशा नहीं थी। कुछ अतिथियों को तो उनका मिष्ठान भी काफी कड़ुवा लगने लगा। हाथ रोक कर वे शालीनतावश बैठे रहे, यही बहुत है। पांडे जी की दृष्टि में अमृता शेरगिल-जैसी महान् चित्रकारी (?) के भाई की अहमियत शायद चुनाव-सम्बन्धों तक ही सीमित थी, या वे जान कर भी उसे नहीं जानते थे। कथा और साहित्य से आज के राजनेता कितना और कैसा वास्ता रखते हैं यह इससे और प्रकट हो गया, जब दूसरे दिन के कार्यक्रम में भी न आने की दो टूक बात कहते हुए, उन्होंने 'एक हजार एक' रुपया भेजने की गर्वपूर्ण उद्घोषणा कर दी। कौन लेने जायेगा ऐसे द्रव्य को जिसमें सुसंस्कार न हो। पर इतना तय है कि कोई

उनके दिव्य आतिथ्य को भूलेगा नहीं।

—डॉ० जगदीश गुप्त

●●

डॉ० जगदीश गुप्त को लिखा गया पत्र

आदरणीय जगदीश जी, ३ जून १६८०

मई १६८० के '**अवकाश**' में आपका संस्मरण देखा, और पढ़ा। सुना था कि इसे '**दिनमान**'-सम्पादक ने छापने से इन्कार कर दिया था, इसलिये जिज्ञासा थी कि आखिर क्या वजह थी, जिसके बदले '**दिनमान**'-सम्पादक ने आप-जैसे वरिष्ठ साहित्यकार का—और वह भी **अज्ञेय जी** पर लिखा हुआ—लेख वापस कर दिया। अब कह सकता हूँ कि इसे प्रकाशित करने से इंकार करके श्री **रघवीर सहाय** ने सम्पादकीय विवेक का परिचय तो दिया ही, **अज्ञेय** जी के अहित को भी बचाया था, किन्तु आपने अपनी उतावली को **अज्ञेय** जो के हित-अहित से ज्यादा मूल्यवान समझा, अन्यथा आप इसे अन्यत्र प्रकाशनार्थ न भेजते।

अपने इस संस्मरण के प्रारम्भ में ही आपने कहा है कि **अज्ञेय जी** ने ज्ञानपीठ पुरस्कार की राशि में अपनी ओर से एक लाख की राशि जोड़कर, जिस '**वत्सल-निधि**' की स्थापना की है, इसके द्वारा '**साहित्य की मूल्यवत्ता**' और '**साहित्यकार की स्वतन्त्र अस्मिता**' की प्रतिष्ठा होगी।

दरअसल यह '**साहित्यकार की स्वतन्त्र अस्मिता**' वाला मुद्दा ही है, जो पत्र लिखने का निमित्त बना है, क्योंकि मैंने '**जनपक्ष**' के मार्च १६८० के अंक में अपने एक लेख में '**वत्सल निधि**' की स्थापना को साहित्य जगत के लिए एक खतरे के रूप में रेखांकित किया है। 'ट्रस्ट' की स्थापना करके कोई साहित्यकार दूसरे साहित्यकारों की स्वतन्त्र

अस्मिता की प्रतिष्ठा कर सकता है, इसे सिर्फ शुद्ध बड़बोलापन ही कहा जा सकता है, लेकिन फिर भी आपसे जानना चाहूँगा कि क्या ऐसा वास्तव में सम्भव है ?

'**लेखक की स्वतन्त्र अस्मिता**' का सवाल सचमुच महत्वपूर्ण है और इस पर वैचारिक बहस को अप्रासंगिक नहीं कहा जा सकता। स्वयं भी बरसों से इसे ठीक-ठीक समझ पाने की कोशिश में हूँ और यदि आपसे इसे जानने-बूझने में सहायता मिली, तो उपकृत होऊँगा।

अज्ञेय जी तो बहरेपन का कवच ओढ़ने में ही अपनी मुक्ति देखते हैं, लेकिन आपने '**साहित्य की मूल्यवत्ता**' और **साहित्यकार की स्वतन्त्र अस्मिता**' की उनके द्वारा प्रतिष्ठा की उद्घोषणा की है, तो इसके विवेचन में जाने से भी कतरायेंगे नहीं, इतनी आशा करता हूँ।

अज्ञेय जी-द्वारा स्थापित '**वत्सल निधि**' और '**अज्ञेय भारतीय साहित्य संस्थान**' के अन्तर्गत बहुत-से साहित्यिक आयोजन होंगे, '**कुछ**' लेखकों को आर्थिक सहायता या कि साहित्य-क्षेत्र में प्रोत्साहन मिलेगा, विचार-गोष्ठियाँ होंगी, निबन्ध लिखे-पढ़े जायेंगे—इतना श्रेय **अज्ञेय** जी को न देना, गलत होगा। आपत्ति सिर्फ इस बात पर है कि इससे '**साहित्य की मूल्यवत्ता**' और '**साहित्यकार की स्वतन्त्र अस्मिता**' की प्रतिष्ठा कैसे होगी ? जबकि यह '**स्वतन्त्र अस्मिता**' नाम की चीज खुद वात्स्यायन जी में ही नदारद दिखाई पड़ती हो ?

अज्ञेय जी वयोवृद्ध हैं, इस नाते वो हम सब परवर्त्तियों के समादर के पात्र हैं, इसमें कोई एतराज नहीं। किसी भी महत्वपूर्ण लेखक का सम्मान करना, खुद को सम्मानित करना है। सवाल सिर्फ यह है कि क्या उन्हें वैचारिक बहस अथवा संवाद में लाने से सिर्फ इसलिये बचाया जाय कि वो '**वयोवृद्ध**' हो चुके ? क्या ऐसा मान लेना उन्हें वैचारिक रूप से जर्जर और अप्रासंगिक हो चुका मान लेना नहीं होगा ? **सार्त्र** भी बूढ़े हो चुके थे, लेकिन अपनी वैचारिक तेजस्विता को उन्होंने कभी खोया नहीं। **अज्ञेय** जी खो चुके हैं और इसीलिये मूल्यों के लिए

संघर्ष करने से विमुख होकर, अपनी मूर्तिपूजा के अनुष्ठानों में जुटे हैं। अस्मिता का संकट ही उन्हें भीतर-भीतर व्याकुल और बदहवास किये हुये है और इसीलिए उनमें तेजस्विता की जगह उतावली और विवेक की जगह प्रमाद आ गया है, अन्यथा वो **'वत्सल निधि'**-रूपी दातव्य संस्थान खोलकर सेठों की कतार में शामिल होने की जगह, पूँजीवादी व्यवस्था के द्वारा साहित्य और साहित्यकारों के प्रति लगातार किये जा रहे षड्यन्त्रों के विरुद्ध संघर्ष में पहल करते और अपने परवर्ती लेखकों को इस सचाई से परिचित कराते कि **साहित्यकार की अस्मिता को सबसे बड़ा खतरा अनुदान और अनुग्रहजीवी बनाये जाने में है।**

'साहित्य की मूल्यवत्ता' और **'साहित्यकार की स्वतत्र अस्मिता'**, ये दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। अपनी अस्मिता के अनवरत संघर्ष में तपा साहित्यकार ही मूल्यवान साहित्य की रचना कर पाता है, लेकिन साहित्यकार की **'स्वतंत्र अस्मिता'** की कोई भी प्रासंगिकता सिर्फ तभी बनती है, जब वह मनुष्य-मात्र की अस्मिता के पक्ष में किये गये संघर्ष में से अर्जित की गई हो, क्योंकि व्यापक मानव समाज की स्वतन्त्रता के प्रश्न से जुड़कर ही साहित्यकार स्वतन्त्र होता है—दूसरों से अलग खड़ा दिख सकने की चालाकी बरतकर नहीं।

आपने अपने इसी संस्मरण में अज्ञेय जी को **'कुण्ठारहित इकाई'** को **'सांचे ढले समाज'** पर वरीयता प्रदान करने वाला साहित्यकार घोषित किया है। यानी प्रकारान्तर से आपने **अज्ञेय** जी पर असामाजिक होने का आरोप लगाया है—कह नहीं सकता, जान-बूझकर या कि अज्ञान में। **'सांचे ढले समाज'** की तुलना में खुद के **'कुण्ठारहित इकाई'** होने की गलतफहमी कुंठा में से उदित होती है। **'व्यक्तिगत'** होना **'स्वतन्त्र'** होना नहीं और न ही व्यवस्थित या कि साधन-सम्पन्न होना **'अकुण्ठित इकाई'** होना है। ज्ञानपीठ पुरस्कार की प्राप्ति के तुरन्त बाद से अब तक अज्ञेय जी जिस तरह सर्वत्र खुद ही अपना अभिनन्दन और अभिषेक कराते भटक रहे हैं, इस सबसे स्पष्ट है कि **'स्वतन्त्र अस्मिता'**

की तो बात ही दरकिनार, जो एक व्यक्तिगत अहंकार नाम की चीज कभी **अज्ञेय** जी में प्रभूत माला में हुआ करती थी, वह भी बिखरती जा रही है। इधर कुछ अरसे से उनमें जो काफी-कुछ **'सार्वजनिकता'** आई है, वह भी सामाजिक चिन्ता में से नहीं, बल्कि **'व्यक्तिगत हताशा'** और माहेभंग में से उपजी है। आप तर्क दे सकते हैं कि अज्ञेय जी-जैसे बहु-चर्चित और महत्वपूर्ण लेखक में 'व्यक्तिगत हताशा' देखना अविवेकी होने का सबूत देना है, मगर जो लोग यह सब नजदीक से देख-परख रहे होंगे कि अपने साहित्यिक अवदान की तुलना में **अज्ञेय** जी की प्रतिष्ठा-बुभुक्षा कितनी विकराल है, उनके निकट इस बुजुर्ग साहित्यकार की मनोव्यथा अज्ञात न होगी।

अज्ञेय जी तो करते ही रहे हैं, आप भी अक्सर भारतीय परम्परा की बात उठाते रहे हैं। आप बताने की कृपा करेंगे कि भारतीय साहित्य के इतिहास में क्या कोई ऐसा महान् साहित्यकार कभी हुआ है, जिसे अपने समय के शोषित-उत्पीड़ित समाज या कि अपने कवि-कर्म से ज्यादा चिंता अपने जन्म-स्थल की खोज अथवा अपने अभिषेक की रही हो ?

शाल वृक्षों के रोपण, वेद-मन्त्रों के पाठ और रजतपत्र मण्डित नारि-केल और रेशमी उत्तरीयों के बीच **अज्ञेय** जी के अभिषेक का जो वर्णन आपने अपने इस संस्मरण में किया है, वह सब सिर्फ किसी लेखक की साहित्यिक-अन्त्येष्टि है, जिसमें से यह स्पष्ट ध्वनित होता है कि **'लो, तुम्हारे रचना-कर्म की यात्रा समाप्त हुई।'**

लेखक को **'प्रतिमा'** नहीं, **'प्रतिमान'** बनना होता है। क्या आप नहीं जानते थे कि विचार, कला और साहित्य की दुनिया के व्यक्ति के लिये राज्याभिषेक से भी अनिष्टकारी **'आत्माभिषेक'** होता है ?

यह कल्पना करना ही दहशत में डालता है कि किसी विचारवान साहित्यकार के लिये अपने अभिनन्दन और अभिषेक का ऐसा आयोजन सम्भव भी हो सकता है। यह आत्माभिषेक क्या प्रकारान्तर से इस बात का सूचक नहीं, कि या तो **अज्ञेय** जी को विश्वास नहीं कि दूसरे लोग

उनको स्वयं एक बड़े साहित्यकार के रूप में प्रतिष्ठित करेंगे—और या वो 'कुछ' के द्वारा अपना राजसी किस्म का अभिषेक करा के, यह चतुरता बरतना चाहते हैं कि '**लो, अब मैं सबके लिए पूज्य हुआ !**' बल्कि आपके अनुसार तो '**सबके-द्वारा**' भी, क्योंकि जो इस अभिषेक-उत्सव में सम्मिलित नहीं हो सके, उनकी भी '**गारण्टी**' आपने अपनी ओर से दे दी है। इस चिंता को ताक पर रखते हुए कि जीवित साहित्यकार को **श्रद्धांजलियाँ** नहीं, **वैचारिक चुनौतियाँ** दी जानी चाहिये।

आप, सम्भवतः, यह कहना चाहें कि यह अभिषेक-पर्व **पं० विद्या निवास मिश्र** जी के द्वारा आयोजित था, स्वयं **अज्ञेय** जी—द्वारा नहीं, तो इस सन्दर्भ में सिर्फ इतना ही कहना है कि **विद्यानिवास** जी चूँकि आस्तिक हैं, इसलिए जो-कुछ आयोजित करते हैं, '**प्रभु-प्रेरणा**' से ही करते हैं और चूँकि पण्डित हैं, इसलिये इस रहस्य से परिचित हैं कि **यजमान के जन्म से ज्यादा 'मूल्यवान' उसका मरण होता है।**

उद्धत और विपक्षी कहे जाने के जोखिम को मोल लेकर भी, यह कहना जरूरी हो गया है कि अज्ञेय जी की प्रतिष्ठा-बुभुक्षा अब लगभग अशोभनीयता की हद पर जा पहुँची है और दूसरे साहित्यकारों के सामने दूषित परम्परा का खतरा उत्पन्न कर रही है। **साहित्यकार का समाज और कवि-कर्म की चिंता से विमुख होकर, आत्माभिषेक की लिप्सा में ग्रस्त होना, अपने हाथों अपनी गरिमा और तेजस्विता को नष्ट करना है।** आप लोगों को **अज्ञेय** जी के पतन से वेदना नहीं होती, तो इसकी वजह भी स्पष्ट है। आप लोग जानते हैं, कि तेजस्वी और आत्मदीप्त साहित्यकार को अपने निहित स्वार्थों के लिये इस्तेमाल कर पाना सम्भव नहीं होता, क्योंकि **वह कुछ की नहीं, सबकी चिंता से अभिप्रेरित होता है।** महान् साहित्यकार अपने भीतर उदित होने से लेकर, अस्त होने तक—सबके हित में, समान रूप से तपता है। उसे कभी भी, कहीं भी इतना विराम होता ही नहीं कि वह अपने अभिनंदन-अभिषेक के आयोजन और अपने पीछे-पीछे आते लोगों के लिये पद-

पुरस्कार या कि अनुग्रह-निधियों की व्यवस्था कर सके ।

अज्ञेय जी, जहाँ तक मैंने देखा-पाया है, प्रतिभावान किन्तु प्रभुत्व और प्रतिष्ठा की लिप्सा से ग्रस्त साहित्यकार हैं और आप लोगों ने उनकी इस आत्मबुभुक्षा को मिथ्या प्रशंसा और अभिनन्दन-अभिषेक की आहुतियाँ देकर निरंतर प्रज्जवलित किये रखा है । परिणामतः, अपने इस आत्मदाही प्रभावृत्त के बाहर की सच्चाइयों के आलोक में हो पाने का **अज्ञेय** जी को अवसर ही नहीं मिला है, अन्यथा आकांक्षा और अध्यवसाय के स्तर पर **अज्ञेय** जी की संरचना निश्चय ही बड़े साहित्यकारों के स्तर की रही है और निरंतर पांच दशकों तक का उनका कवि-जीवन इसी नाते वंदनीय और महत्वपूर्ण भी है और यही कारण है कि अपने इस वयोवृद्ध साहित्यकार को अभिनन्दन-अभिषेकों की बुभुक्षा में व्याकुल देखकर, गहरी व्यथा होती है ।

जैसा कि प्रारम्भ में कहा गया, यदि आपने अपनी स्तुति को **'वत्सल निधि'** के द्वारा **'लेखक की स्वतन्त्र अस्मिता'** और **'साहित्य की मूल्यवत्ता की प्रतिष्ठा'** तक न फैला दिया होता, तो इतना मान लेने में किसी को आपत्ति न होती कि उन्होंने पुरस्कार की राशि में अपनी ओर से भी उतनी ही राशि जोड़कर, इसे साहित्यिक आयोजनों के लिये अर्पित करके सचमुच सराहनीय कार्य किया और अपने औदात्य का परिचय दिया । किन्तु **'वत्सल निधि'** के द्वारा अपने लिये प्रतिष्ठा उगाहने की प्रवृत्ति ने **अज्ञेय** जी के औदात्य पर प्रश्न-चिह्न लगाया है, क्योंकि **पूंजी-विनियोग के द्वारा प्रतिष्ठा उगाहना** साहित्यकार के लिये शोभनीय नहीं हुआ करता ।

कदाचित् कोई सेठ किसी शहर या तीर्थस्थल में **'धर्मशाला'** बनवाकर, सिर्फ इतना कहे कि इससे यहाँ आने वाले कुछ प्रवासियों को रहने की सुविधा उपलब्ध हो सकेगी, तो इसमें किसी को आपत्ति नहीं होगी—लेकिन यदि वह घोषित करे कि उसके द्वारा स्थापित धर्मशाले से लोगों में आध्यात्मिक गरिमा और अस्मिता की प्रतिष्ठा होगी , तो

क्या यह मानने की गुंजाइश न होगी कि ऐसा वह या तो चरम मूर्खता में और या शुद्ध चालाकी में कह रहा है ? और धर्मशाले की लागत से कहीं ज्यादा वसूलने के चक्कर में है ?

आप कहेंगे कि '**साहित्यकार की स्वतंत्र अस्मिता**' के वैचारिक मुद्दे को अज्ञेय के जो व्यक्तित्व की पड़ताल तक क्यों फैला दिया गया, लेकिन जब आपने लिखा कि उनकी उदारता में से साहित्य की मूल्यवत्ता और लेखक की स्वतन्त्र अस्मिता की प्रतिष्ठा होगी, तो क्या हम यह मान लें कि यह प्रतिष्ठा **अज्ञेय** जी के व्यक्तित्व में से अभिप्रेरित न होकर, सहस्त्राधिक ब्याज देने वाली '**वत्सल निधि**' में से होगी ?

जो साहित्यकार यह कहे कि उसके द्वारा कहे गये शब्दों को उसके आचरण में न तलाशा जाये, उसे यह भी स्वीकार कर लेना चाहिये कि उसे '**शब्द**' के प्रयोग का नैतिक अधिकार है नहीं। '**शब्द**' सिर्फ लिपि में नहीं, अर्थ में नहीं, अपने नाद और सत्व में भी होता है और इसलिए सिर्फ वहीं साकार तथा सार्थक होता है, जहाँ उसे अपने को धारण करने वाला आचरण मिलता है, क्योंकि '**सत्व**' की पहली माँग **आचरण** की होती है। यदि लेखक का सोचना-विचारना और उसे शब्दों में प्रतिफलित करना स्वयं उस लेखक के आचरण को ही प्रभावित और प्रेरित नहीं करता है, तो वह वाचक या कि श्रोता के निकट मूल्यवान होगा, इस मुगालते में लेखक को रहना नहीं चाहिए।

यह सच है कि आचरण को '**शब्द**' तक ले आना अत्यन्त कठिन तप है, और यह सबसे सधता नहीं, लेकिन इसके बाद भी दो तरह के लेखक बचते हैं। एक वो, जो शब्द के प्रति आचरणशील न हो पाने के अपने असामर्थ्य को जानते हैं, जितना भी सम्भव हो सके, संघर्ष करते हैं और न सम्भव हो पाने पर इस वेदना और विवेक में रहते हैं कि आचरण-विहीन शब्दों की प्रतिध्वनियों को दूसरों में खोजने की मृग-तृष्णा से बचा जाये।.......दूसरे किस्म के लेखक, अपने नैतिक असामर्थ्य को बौद्धिक चतुरता के बूते ढाँककर, शब्दों के विपरीत आचरण करके भी 'सबके

द्वारा पूजित होने के योग्य' हो सकने के मुगालतों में जीते हैं और खुद को ही नहीं, साहित्य की मूल्यवत्ता और साहित्यकार की स्वतन्त्र अस्मिता के प्रश्नों को भी धप्ले में डालते हैं।

अब आप जरा गौर करें, अपने ही दिये उस बिवरण पर, जिसमें आपने कहा है कि **अज्ञेय** जी के अभिषेक-उत्सव के बाद आप सब संध्या को श्री **राजमंगल पांडे** के घर पहुँचे थे और श्री **राजमंगल पांडे** ने सिर्फ **'खिलाने-पिलाने की दिव्य व्यवस्था'** कर देने के अलावा, आप सब साहित्यकारों से बात तक नहीं की। निरन्तर सिर्फ पूर्वाञ्चल के उद्योगपति **सरदार सुरेन्द्र सिंह** से बतियाते रहे और उन्हें भी **अमृता शेरगिल**-जैसी चित्रकर्त्री के भाई नहीं, बल्कि आसामी की जगह रखकर! आपने यह भी बताया है कि श्री **राजमंगल पांडे** ने दूसरे दिन के समा-रोह में उपस्थित होने के आप लोगों के अनुरोध को भी दोटूक नकार दिया और कि आप लोगों का जो मर्मवेधी तिरस्कार उन्होंने किया, उसकी कीमत लगाई—सिर्फ एक हजार, एक रुपये !

हालाँकि आपने काफी सावधानी बरती है, फिर भी आपके विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि श्री **राजमंगल पांडे** ने आप लोगों को विधिवत् आमन्त्रित नहीं किया था, बल्कि आप लोगों ने वहाँ तक अपनी **'पहुँच'** बनाई थी। दूसरे यह, कि जिनके त्याग के द्वारा साहित्य की मूल्यवत्ता और लेखक की स्वतन्त्र अस्मिता की प्रतिष्ठा होने की उद्घोषणा आपने की थी, वो **'अभिषिक्त-पूजित'** साहित्यकार **अज्ञेय** जी भी वहाँ उपस्थित थे !

कुछ ही घंटे पहले लेखक की स्वतन्त्र अस्मिता के प्रतिष्ठापक साहित्यकार के रूप में आप लोगों ने जिसका अभिषेक किया था, और जिसने वहीं निकट ही के शालवन में खड़ी बुद्ध-प्रतिमा का दर्शन करने की कोई प्रासंगिकता ही आप लोगों के लिये नहीं बनने दी थी (क्योंकि उसकी स्वयं की प्रतिमा ही अतिविशिष्ट है।) और कि जिसके बारे में 'सुना' जाता था कि प्रधानमंत्री **मोरारजी भाई** उससे मिलने के लिये

सुविधा का समय मांगा करते थे, उन्हीं **अज्ञेय** जी ने श्री **राजमंगल पांडे**—जैसे सत्ताच्युत और नितान्त सामान्य किस्म के राजनेता के द्वारा किया गया तिरस्कार आखिर कैसे सहन किया होगा, यह कल्पना करना कठिन है !

मान लिया जाये कि वहाँ आप सबके साथ **अज्ञेय** जी नहीं गये थे, तो भी सवाल यह उठता है कि क्या साँचे ढले समाज की तुलना में अकुंठित इकाई को वरीयता देने वाले **अज्ञेय** जी के द्वारा अभिप्रेरित स्वतन्त्र अस्मिता स्वयं आप सबके लिये निहायत फालतू किस्म की चीज है कि जिसे जब चाहा उद्‌घोषित कर दिया और जब चाहा, उच्छिष्ट की तरह त्याग दिया ?

लगता है, अभिषेक-उत्सव में आप लोगों ने सिर्फ **अज्ञेय** जी की साहित्यिक गरिमा की ही अन्त्येष्टि नहीं की, बल्कि स्वयं की स्वतन्त्र अस्मिता और प्रतिष्ठा की पार्थिव-पूजा भी वहीं निबटा आये !

'**तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः**' में लिखा गया था कि लेखक या तो भाषा न बरते और या छद्‌म आचरण से बचे, क्योंकि भाषा प्रकाश-तत्व की संवाहिका है और हमारे अँधेरे कोनों तक भी व्याप्त रहती है और जब अँधेरे को भाषा से छिपाने की चालाकी हम बरतते हैं, तब वह दूसरों के सामने और ज्यादा प्रकट होता है ।

कदाचित् हम इस गलतफहमी में रहते हों कि भाषा के बौद्धिक किस्म के इस्तेमाल से अपने वास्तविक मंतव्यों को दूसरों के लिये अबूझ रखा जा सकता है; तो इसके दुष्परिणाम भी हमें ही भुगतने होते हैं । भाषा को लेखक जैसे और जिस निमित्त बरतता है, वैसे ही वह प्रति-फलित होती है । जब हम भाषा में अपने भीतर के सच को देते हैं, तब वह सबको उद्‌बोधित करती है; लेकिन जब हम झूठ और छद्‌म-द्वारा दूसरों को प्रभावित और अभिप्रेरित करने की कोशिश करते हैं, तब वह सिर्फ हमें नंगा करती है ।

मेरे निकट संकट यह है कि **अज्ञेय** जी हों, या विद्यानिवास जी

या आप—चाहे लोग न कहें, किन्तु मुझे कहना चाहिए कि भाषा के स्तर पर आप सब के सामने अनधिकारी ही माना जा सकता है मुझे और यह कारण है कि बार-बार अहसास होता है कि अविनय बरत रहा हूँ। इसके बावजूद भाषा बरती है, तो आप लोग इसे अपने परवर्त्ती का '**पूछ सकने का अधिकार**' मानकर, क्षमा कर देंगे, इतनी आशा तो करता ही हूँ। न करता, तो सिर्फ कहता, पूछता नहीं।

पूछता नहीं कि आप-जैसे विचारवान व्यक्ति के लिये यह कैसे सम्भव हो पाया कि साहित्यकारों की स्वत्वहीनता और नैतिक दीनता को रेखांकित न करके, बेचारे श्री **राजमंगल पांडे** पर असंस्कारी होने का आरोप मढ़ दिया ? **जो औरत सोलह श्रृंगार करके मद्यपों के अड्डों पर जाए, उसे अपने को 'छेड़' दिये जाने की बात उठाने का कोई नैतिक हक क्या रह भी जाता है ?** जब हम लेखक अपनी सारी साहित्यिक-वैचारिक परम्परा और अस्मिता को ताक पर रखकर राजनेताओं की अनुकम्पा उगाहने उनकी शरण में पहुँचते हैं, तब वहाँ मिले तिरस्कार के लिये राजनेताओं को दोषी ठहराना, सिर्फ होशियारी बरतना है। आपने यदि जोर इस बात पर दिया होता कि जब साहित्यकार अपनी अस्मिता को ताक पर रखकर राजनेता की अनुकम्पा उगाहने पहुँचता है, तो उसकी कैसी दुर्गति होती है, तो लगता कि हाँ, एक साहित्यकार का स्वत्व राजनेता-द्वारा तिरस्कृत होने पर जागृत हुआ है।

आपने साहित्यकारों की स्वत्वहीनता को राजनेता की संस्कारहीनता पर थोपने की चतुरता बरती जरूर है, लेकिन भाषा सिर्फ कहने वाले के मंतव्य-भर को नहीं, उसके सम्पूर्ण को प्रतिभासित करती है। जिस प्रकार आपने श्री **राजमंगल पांडे**-द्वारा एक हजार एक रुपये भिजवा देने की दम्भपूर्ण घोषणा को लेकर '**कौन लेने जाएगा ऐसे द्रव्य को, जिसमें सुसंस्कार न हो।**' कहा है, वह स्वाभिमान नहीं, खीझ और विक्षोभ को प्रकट करता है। प्रकट करता है कि आप लोग वहाँ या तो

वत्सल-समारोहों और या **'अज्ञेय भारतीय साहित्य संस्थान'** के लिये राशि जुटाने के मंतव्य से भी गये थे और पेशेवर चन्दाखाऊ राजनेता ने महज **'एक हजार, एक'** कीमत लगाकर, मोह-भंग में डाल दिया !

मान लीजिये, राजनेता ने तिरस्कार तो जितना किया, इससे भी कुछ ज्यादा किया होता, लेकिन अनुग्रह-राशि की रकम कर दी होती **'एक लाख, एक'**—तब ? तब भी क्या आप लोग राजनेता के दम्भ-दूषित धन को त्याज्य ही मानते ?

इस राजनेता वाले प्रसंग पर विस्तार से बातचीत सिर्फ इसलिये कि आप लोगों ने साहित्यकार की स्वतन्त्र अस्मिता की प्रतिष्ठा की उद्घोषणा के कुछ ही घंटों बाद उसे राजनेता के दरबार में भिक्षुणी की तरह खड़ा कर दिया। राजनेता को कोसते समय आपने इस सामान्य परम्परागत सत्य को आँखों से ओझल कर दिया कि **याचक को अपने तिरस्कृत होने का रोना रोने का कोई हक नहीं, क्योंकि प्रतिष्ठा तसले में उपलब्ध होने वाली वस्तु नहीं है।** राजनेता ने तो **'दिव्य भोजन'** की व्यवस्था कर देने की उदारता बरती, कहीं वह अपने दरबान से धक्के देकर, बाहर निकलवा देता, तो भी तेवर दिखाने का तर्क बनता नहीं था, क्योंकि **साहित्यकार जब दरबार में जाता है, तो इज्जत बख्शने या न बख्शने का फैसला उसके हाथों में होता है, जो दरबार लगाए बैठा हो।**

आज के अधिकांश राजनेताओं और पूंजीपतियों के बारे में यह बात सदैव ध्यान में रखी जानी चाहिये कि जहाँ कीचड़ इकट्ठा हो, वहाँ उसके कारण भी मौजूद होंगे और परिणाम भी। आद्यंत अनाचार के कीचड़ में रहने के बावजूद कमलवत् प्रफुल्ल दिखने तथा शूकरवत् निर्द्वन्द्व रहने की कला में ये निष्णात होते हैं। इनके अस्तित्व में सदाशयता और संस्कार खोजना ही गलत है। यह तो स्वयं साहित्यकार को देखना होगा कि क्या स्वतन्त्र अस्मिता उसके लिये कोई लबादे के किस्म की चीज है कि जब चाहे उसे ओढ़ ले और जब चाहे, उतारकर, अपने अवसरवाद की

खूँटी पर टाँग दे ?

'स्वतन्त्र अस्मिता' का यदि कोई अनिवार्य नाता लेखक के आचरण के साथ नहीं बन पाये, तो उसकी स्वतन्त्र अस्मिता की उद्घोषणाओं और **'ले दही, ले दही'** में कोई खास फर्क रह नहीं जाता। बल्कि दही बेचना अपने परिश्रम का मूल्य लेना है, अस्मिता बेचना नैतिकता की कीमत उगाहना।

जब कोई लेखक अस्मिता को अपने आचरण में नहीं उतार पाता है, तो उसके सामने दो ही नियतियाँ बचती हैं। या तो वह अपने शब्द और आचरण के बीच के अन्तराल को पाटने के संघर्ष में जीता है और या **'स्वतन्त्र अस्मिता का बाजार-भाव'** तलाशता घूमता है। जिस तरह औरतों का रोजगार करने वालों के लिए स्त्रीत्व **'सेलिंग कमोडिटी'** होती है, वैसे ही घाघ किस्म के लेखकों के लिये **'स्वतन्त्र अस्मिता !'** ---स्वतन्त्र अस्मिता के मुद्दे को लेकर उनकी सारी लफ्फाजी सिर्फ 'पब्लिसिटी वैल्यू' के स्तर की होती है। अपने पीछे-पीछे आने वालों की अस्मिता का दोहन करके अपनी स्वतंत्र अस्मिता की श्रीवृद्धि करने वाला कोई साहित्यकार अपने बारे में यह धोखा पैदा करना चाहे कि उसके आचरण में से साहित्यकार की स्वतंत्र अस्मिता की प्रतिष्ठा होगी, तो उसे भाषा में इस सबको कदापि नहीं आने देना चाहिये।

जहाँ कहे गये के प्रति आचरण का साक्ष्य न हो, वहाँ कहे गये को भुनाने का छद्म निहित होगा। **'शब्द'** ही स्वयं में **'अर्थ'** भी है, इसलिये **'निहितार्थ'** को शब्दों के माध्यम से ढाँके रखना असम्भव है। शब्द जहाँ आचरण में हो, वहाँ व्यक्ति की अस्मिता को, और जहाँ सिर्फ कथन में हो, वहाँ उसके छद्म को उजागर करता है।

स्वतंत्र अस्मिता साहित्यकार को आत्मरति में नहीं, रचना के संघर्ष में ले जाती है। मनुष्य जब अपनी अस्मिता के संघर्ष में होता है, तब न आत्माभिषेक की फुर्सत में होता है, न प्रचारलोलुपता की गलाजत में। आप लोगों की सारी प्रतिश्रुति अज्ञेय जी को **'प्रतिमा'** बना डालने में है, प्रतिमान बनने देने में नहीं, और शायद, इसीलिये अपने अभिषेक के

लिये **रजतपत्र मण्डित नारिकेल** हाथों में थामे **अज्ञेय** जी से आप लोगों में से किसी ने भी नहीं कहा कि—**'श्रीमन्, अभी कुछ ही दिन पूर्व तो आपने कहा था कि मैं मुग्ध नहीं होता ।'**

साहित्यकार जब परदुख-कातरता पर आत्मरति को वरीयता प्रदान करता है, तो 'वृद्धस्य तरुणी भार्या' की दुर्गति को प्राप्त होता है । आत्म-प्रदिक्षणा करते हुये वह इस सनातन सत्य को भूल जाता है, कि 'चका-चौंध में चक्कर काटने', तथा 'आलोक की दिशा में अग्रसर होने' के बीच फर्क है । **अज्ञेय** जी को प्रदक्षिणा में डालते हुए आप लोगों को तिल-भर भी संकोच नहीं हुआ और किसी ने यह उन्हें स्मरण नहीं दिलाया कि—'श्रीमन्, बरसों पहले स्व० **यशपाल** जी ने आपके वैचारिक अवदान को लेकर जो फतवा दिया था—और जिसे अपनी अप्रतिहतता सिद्ध करने के निमित्त, आप वर्षों अपनी पुस्तकों के 'फ्लैप' पर लगातार छापते रहे—उसे स्वयं ही यहाँ प्रत्यक्ष क्यों कर रहे हैं ?'

जो-कुछ अशोभनीय है, उसमें सम्मिलित होना भी अशोभन है । पहले **अज्ञेय** जी के आत्माभिषेक और फिर राजनेता के यहाँ उनके तिरस्कार में सम्मिलित रहकर आप लोगों ने **गालिब** के इस कहे को साकार कर दिया कि—**'हुए तुम दोस्त जिसके, उसका दुश्मन आसमां क्यों हो ।'**

अज्ञेय जी को सुबह **'साहित्यकार की स्वतंत्र अस्मिता का प्रतिष्ठाता'** घोषित करके, शाम को राजनेता के यहाँ उनकी प्रतिष्ठा को धूल चटवाना—यह सब आप लोगों ने अनजाने किया, तो इससे यह सिद्ध होता है कि पंडितों का अज्ञान कितना अनिष्टकारी होता है—और यदि जान-बूझकर, तो इसे सिर्फ अक्षम्य ही कहा जा सकता है ।

इस स्वतन्त्र अस्मिता वाले प्रसंग पर यदि आप कहना चाहें कि इसे **अज्ञेय** जी या उनके पीछे-पीछे चलने वालों के व्यक्तिगत आचरण में न तलाशा जाये, तो स्पष्ट है कि आपका मानना यही है कि **वत्सल-निधि** के द्वारा दिये जाने वाले आर्थिक संरक्षण में से साहित्यकार की स्वतन्त्र

अस्मिता की प्रतिष्ठा होगी ! यानी प्रकारान्तर से आप यह कहना चाहते हैं कि आर्थिक कारणों से ही साहित्यकार अपनी स्वतन्त्र अस्मिता की रक्षा नहीं कर पाता है ?

इस सिलसिले में कहना सिर्फ यह है कि यदि ऐसा ही होता, तो हमसे भी पहले **तुलसीदास** और **कबीरदास** ने अपनी अस्मिता को बेच खाया होता ।

आर्थिक संकटों से मेरा साबका भी कम नहीं पड़ा है, लेकिन अनुभवों में सिर्फ यही है कि साहित्यकार अपनी अस्मिता को 'आर्थिक विपदाओं के नहीं, खुद की नैतिक दरिद्रता, आचरणहीनता और अवसरवादिता के कारण बेचता है । जिसे अस्तित्व-भय कहा जाता है, जब वह अस्मिता के हनन की हद तक जा पहुँचता है, तो घुटने सिर्फ वही साहित्यकार टेकता है, जिसमें नैतिक आचरण की तेजस्विता नहीं होती । जिसे यह चेतना या चिंता होती ही नहीं कि लेखक होने के नाते वह एक नैतिक ही नहीं, सामाजिक जिम्मेदारी से भी बँधा हुआ है, और उसका व्यक्तिगत पतन कहीं-न- कहीं समाज को भी क्षति पहुँचाता है । नैतिक मूल्यों के प्रति आस्था ही मानव-समाज की सबसे बड़ी पूँजी है । समाज के प्रतिनिधि और प्रवक्ता का चोला धारण करके अपने निहित स्वार्थों के लिए नैतिक मूल्यों की खरीद-फरोख्त करना सामाजिक अपराध है ।

आपने कह दिया, **अज्ञेय** जी ने सुन लिया और कुछ के द्वारा सबके लिए कह दिया गया मान लिया, लेकिन शहंशाह **अकबर** को **'हौं चाकर रघुनाथ को, पट्यो लिख्यो दरबार । अब तुलसी का होयेंगे, नर के मनसबदार !'** लिख भेजने वाले **तुलसीदास** या **सिकन्दर लोदी** को बद-हवास कर डालने वाले **कबीरदास** ने यह कभी नहीं कहा कि हमारे द्वारा साहित्य की मूल्यवत्ता और साहित्यकार की स्वतन्त्र अस्मिता की प्रतिष्ठा होगी ।

इसी प्रसंग में अनायास ही स्व० आचार्य **हजारीप्रसाद द्विवेदी** जी की स्मृति हो आई है। कैसा अगाध पाण्डित्य, कितना मोहक और प्रफुल्ल

व्यक्तित्व और कैसी उदात्त वाणी, लेकिन कबीर को उन्होंने भी गाया-भर, गुना नहीं। आचार्य थे न, आचरण के जोखिमों को जानते थे!

तमाम-तमाम अनाचारों, विपरीत परिस्थितियों और विपदाओं के बीच भी अपने मनुष्य होने के विवेक में हमें रहना चाहिये—यह प्रतीति देने की नैतिक जिम्मेदारी लेखक की है और जो जितनी दूर तक इसे वहन करता है, वह उतना ही बड़ा साहित्यकार बनता है। जिसमें इस नैतिक जिम्मेदारी के संवहन की चिंता और प्रतिश्रुति न हो, उसे अपने लेखक होने के मुगालतों से बचना चाहिए।

अपनी अस्मिता की रक्षा में असमर्थ होने से कहीं घातक है, दूसरों की अस्मिता का प्रतिष्ठाता होने का दम्भ। जो स्वयं अस्मिता और नैतिकता के संघर्ष में विफल हो गया हो, उसे अपने असामर्थ्य की वेदना और विषाद में रहना चाहिए, दूसरों को धोखा देने के इरादों में नहीं। अपने नैतिक असामर्थ्य के साक्षात्कार की वेदना में जीता लेखक दूसरों के सामने इस बात को उजागर करता है कि **'मनुष्य'** होने का वास्तविक साक्षात्कार सिर्फ तभी सम्भव है, जब हम अपनी अस्मिता और नैतिकता को बरतें। और यह कारण है कि जिनको मनुष्यता का प्रतिनिधित्व करना होता है, वो अपने प्राण देकर भी इनकी रक्षा करते हैं, ताकि लोगों का अस्मिता, नैतिकता और करुणा की सर्वोपरिता पर से विश्वास न उठ जाय।...... लेकिन अपने बौद्धिक चातुर्य के प्रभा-मण्डल में प्रदक्षिणा करता लेखक इस छद्म की रचना करता और इसे बाजार में फैलाता है कि **'देखो, जैसे अपनी आचरणहीनता और अनैतिकता के बावजूद मैं प्रतिष्ठित हुआ, वैसे ही, तुम सबके लिए सम्भव है।'** देश के भ्रष्ट पूंजीपतियों और राजनेताओं ने आखिर और क्या किया है, सिवाय लोगों को इस दिशा में प्रेरित करने के, कि प्रतिष्ठा वहीं विराजमान रहती है, जहाँ पैसा होता है, क्योंकि अभिनन्दन-अभिषेक के उपकरण भी पैसे से ही खरीदे जा सकते हैं।

ये लोग बखूबी जानते हैं कि जो भी पैसा उगाहने के फेर में पड़ेगा,

वह हमारे प्रभामण्डल की चकाचौंध में भुनगों की तरह चक्कर काटता रहेगा। इसलिये यदि आप लोग यह मानते हैं कि दातव्य संस्थायें खड़ी करके साहित्यकारों की स्वतन्त्र अस्मिता की प्रतिष्ठा की जा सकती है, तो इतना कह लेने की इजाजत देंगे कि आप सब लोग साहित्यकारों को पूँजीवादी व्यवस्था की जकड़ में समेटना चाहते हैं, क्योंकि किसी भी साहित्यकार से यह कहना कि उसकी स्वतंत्र अस्मिता की प्रतिष्ठा सिर्फ आर्थिक निश्चितता में से ही हो सकती है—कपट बरतना और दिग्भ्रमित करना है; क्योंकि यह '**आर्थिक निश्चितता**' बहुत ही मायावी किस्म की चीज है और जब टाटा-बिड़ला को नसीब नहीं, तो लेखक बेचारे को क्या होगी ! साहित्यकार से समाज तथा मूल्य-विरोधी व्यवस्थाओं के विरुद्ध संघर्ष में रहने की माँग करने की जगह, व्यवस्था के शरणालयों में आकर, निश्चिन्त और प्रतिष्ठित होने का आवाहन करना—ऐसे त्याग और दान के प्रति सावधान रहने में ही हित है।

यह सच है कि आर्थिक असुरक्षा लेखक को विचलित, विक्षुब्ध और हताश करती है, लेकिन सिर्फ तात्कालित तौर पर। साहित्यकार इतना तो अपने अनुभवों से जान ही लेता है कि ऐसी आजीविका से बचने में ही मुक्ति है, जो उसे आर्थिक सुरक्षा तो दे, लेकिन स्वत्व के विनिमय में। अपनी अस्मिता के प्रति सचेत साहित्यकार को निरन्तर ऐसी आजीविका की तलाश में रहना होता है, जो बाहरी तौर पर चाहे कितनी ही तकलीफदेह और फजीहतों से भरी हो, लेकिन उसके स्वत्व को, लेखक होने की उसकी प्रतीति को नष्ट न करे।

साहित्यकार होने की प्रतीति का सीधा-सीधा अर्थ होता है, मानवीय सौंदर्य और संघर्ष का प्रतिनिधित्व कर सकने की चिंता और चेष्टाओं में रहना। **साहित्यकार होने की प्रतीति व्यक्तिगत नहीं, सामाजिक धरोहर है** और इसीलिये जिस क्षण कोई साहित्यकार अपने व्यक्तिगत प्रलोभनों या कि भीतियों में इसका सौदा या परित्याग करता है, उसकी स्वतंत्र अस्मिता भी लुप्त हो जाती है। साहित्यकार का संरक्षणकामी

होना ही, उसके स्वत्वविहीन होने का प्रमाण है, क्योंकि संरक्षण की कामना ही संघर्ष-विमुखता में से उपजती है। जबकि स्वत्व के लिए कोरी आकांक्षा ही नहीं, बल्कि इसके निमित्त संघर्ष करने की कृतसंकल्पता भी अपेक्षित होती है। जो व्यक्ति अपने स्वत्व पर, वह सदैव संघर्ष में भी रहता है और सींखचों के भीतर भी स्वतंत्र तथा भिक्षाटन करके जीविका जुटाने पर भी अस्मिता के तेज में रहता है।

हमारी सांस्कृतिक परम्परा यदि मूल्यवान है, तो इसलिये भी कि इसमें भिक्षान्न से जीविका जुटाकर सम्राटों के मस्तक पाँवों पर झुकाने वाले मनीषियों का तप निहित है। इसलिये यदि हम अपने पारम्परिक दाय को अगर किंचित् भी जानते हों, तो **'आजीविका'** और **'आर्थिक संरक्षण'** के बीच के बुनियादी फर्क को भी हमें जानना ही चाहिये।

साहित्यकार को समाज-विरोधी व्यवस्था या कि मूल्यों के प्रति विद्रोही होना ही पड़ता है। यही कारण है कि व्यवस्था खुद ही अपने लेखकों-सम्पादकों को **'विद्रोही दिखने'** की छूट देने लगी है, किन्तु आर्थिक संरक्षण देने वाले व्यक्ति (या कि व्यवस्था) के प्रति विद्रोही होने का नाटक ज्यादा चलता नहीं। देर-सवेर यह स्पष्ट हो जाता है कि आर्थिक संरक्षण के दाता ने विद्रोही को ठीक वैसे ही नियुक्त किया हुआ है, जैसे दरबान !

व्यवस्था या कि व्यक्ति-विशेष के आर्थिक संरक्षण में पलता हुआ विद्रोही साहित्यकार स्वतंत्र अस्मिता का हकदार नहीं, बल्कि अपने दाता के दूषणों को ढांकने की कोशिशें करते रहने को लाचार होता है। ऐसे में, साहित्यकार की आजीविका के प्रश्न को आर्थिक संरक्षण के साथ जोड़कर गड्ड-मड्ड करना उनकी चेतना को बरगलाना है। **आवश्यकता लेखक को यह जानने की है कि उसकी जीविका के स्रोत समाज में होने चाहिये, न कि व्यवस्था में।** क्योंकि लेखक की जीविका के स्रोत समाज में हों, तभी वह अपने स्वतंत्र होने के इत्मीनान में भी होता है तथा समाज के प्रति अपने नैतिक दाय में भी। सिर्फ तभी वह व्यवस्था

या व्यक्ति-विशेषों के आर्थिक प्रतिष्ठानों को भी 'निजी जागीर' के तौर पर नहीं, बल्कि उनके द्वारा बलाधिकृत सामाजिक सम्पदा के रूप में देख पाता है।

आजीविका जीने की अनिवार्य शर्त है, लेकिन साहित्यकार को यह अन्ततः तय करना ही पड़ता है कि वह कौन-सी रोजी-रोटी चाहता है। पूँजीवादी अथवा सरकारी प्रतिष्ठानों में नौकरी करना आर्थिक संरक्षण प्राप्त करना नहीं, अपने परिश्रम के द्वारा जीविका उपार्जित करना है, लेकिन जब व्यक्ति परिश्रम का मूल्य नहीं, बल्कि चालाकी और चाटुकारिता की कीमत उगाहने पर उतर आता है, तो उपजीवी होना उसकी नियति है। किसी भी समाज के लिए ये उपजीवी तत्व ही सबसे घातक होते हैं। ये अपने स्वत्व का सौदा करने के बाद, मनुष्य-मात्र के स्वत्व के शत्रु बन जाते हैं और इस घात में रहते हैं कि कैसे दूसरे लोगों के स्वत्व और स्वातन्त्र्य को घपले में डाला जाए। स्वत्व का सौदागर हमेशा अपराधबोध से पीड़ित और इसीलिये प्रतिशोधी-वृत्ति का होता है। दूसरों में स्वतन्त्रता या अस्मिता की ललक और चेतना उसे मर्मान्तक वेदना पहुँचाती है। जैसे बन्दर अपने चेहरे को सहने की जगह शीशे को तोड़ता है, वैसे ही ऐसे लोग अपने पतन का साक्षात्कार बर्दाश्त न कर पाने पर, दूसरों के स्वत्व के हनन पर उतर आते हैं, और स्वाभाविक है कि इस सबके लिए इनको बल और साधन समाजविरोधी शक्तियों से ही प्राप्त होते हैं।

सत्ता और व्यवस्था के उच्छिष्ट पर पलने वाले लेखक ही अपने स्वत्व के लिए संघर्ष करते साहित्यकार के सबसे बड़े शत्रु होते हैं। कबीर के बारे में जो एक यह किवदन्ती है कि सिकन्दर लोदी ने उन्हें हाथी के नीचे कुचलवा दिया था, तो यह स्पष्ट करने की शायद, जरूरत नहीं कि लोदी को इसके लिए उसकाने वाले लोग कौन रहे होंगे। मनुष्य के स्वत्व के सौदागर आर्थिक संरक्षण के प्रलोभनों को मछुआरे के जाल की तरह आर-पार फैलाते हैं, ताकि उन लोगों की साफ-साफ

पहचान हो सके, जो समाज-विरोधी ताकतों के प्रति खुद सचेत रहना और दूसरों को सचेत रखना चाहते हैं। **तुलसीदास, कबीरदास, सूरदास और मीरा**—कम से कम ये चार नाम तो हमें विरासत में उपलब्ध हैं ही, जो जीवित भी रहे और न आर्थिक संरक्षण खोजा, न दातव्य संस्थान स्थापित किए। लेकिन जब कभी भी कोई भारतीय साहित्यकार अपनी स्वतन्त्र अस्मिता के प्रति कृतसंकल्प होगा, उसे प्रेरणा और दिशा इन आर्थिक दरिद्रता से ग्रस्त महाकवियों से ही मिलेगी।

यहाँ **वाल्मीकि** और **कालिदास** के नाम इसलिए छोड़ दिए हैं कि उनके समय में विचार पर राजसत्ता और पैसे की शक्तियाँ हावी नहीं थीं। निकट अतीत के **प्रेमचन्द** पर आँख टिकती है और साक्ष्य पाती है कि साहित्य क्या है। **निराला, यशपाल, मुक्तिबोध** के प्रति गहरे समादर के बावजूद इतना कहने की गुंजाइश कि पहले के विद्रोह में राजपुरुषों के द्वारा सम्मानित हो सकने की कामना भी कहीं निहित जरूर रहती थी। दूसरे ने व्यवसाय को साहित्य से मूल्यवान मानने वाली पत्नी के दबाव में आकर घुटने टेक दिए। तीसरे में नैतिकता थी और अस्मिता भी, लेकिन बहुत दूर तक संघर्ष या विद्रोह करने की क्षमता नहीं। अन्यथा यदि अपने निकट अतीत से ही प्रेरणा ग्रहण करने की बात हो, तो **प्रेमचंद, प्रसाद, राहुल, यशपाल, निराला और मुक्तिबोध ही दिखते हैं**, जिन्होंने अपने-अपने ढंग से साहित्यकार के स्वत्व और दाय का प्रतिनिधित्व करने में वैसी पहल की।

यहाँ इस बात को दोहराने की फिर जरूरत अनुभव हो रही है कि साहित्यकार को पहचानने के लिए सिर्फ इतना ही जान लेना पर्याप्त है कि उसकी रोजी-रोटी के स्रोत कहाँ पर है, क्योंकि अपने स्वत्व के संघर्ष में सिर्फ वही साहित्यकार देर तक—और दूर तक—टिक पाता है, जो निजी स्वत्व के मुगालते या अहंकार में नहीं, बल्कि सामाजिकता के विवेक में जीता है।

जो सही अर्थों में साहित्यकार हो, जिसने मनुष्य के नैतिक संघर्ष को सिर्फ भाषा से ही नहीं, अपने आचरण से भी जाना हो, उसे इस

बात की पूरी तमीज होती है कि स्वत्ववान समाज में ही साहित्यकार के भी स्वत्व की गुंजाइश हो सकती है। यह अकारण नहीं है कि विदेशी हुकूमतों के आतंक के दौर में जीते हुए हमारे चारों महाकवियों ने अपनी रोजी-रोटी के लिए समाज की शरण ली और सत्ता के बंधक न होकर, समाज के बंधक बने और अपने समय के समाज को निरंतर जागृत और प्रेरित किया कि राजनैतिक आतंक और दासता को अपने अन्त:करण तक न पहुँचने दे।

दातव्य संस्थानों की स्थापना करना साहित्यकार की स्वतंत्र अस्मिता की प्रतिष्ठा करना नहीं, तिरस्कार करना है। फिर भी यदि आप अनुभव करते हों कि **'वत्सल निधि'** के द्वारा वास्तव में साहित्यकार की स्वतंत्र अस्मिता की प्रतिष्ठा होगी, तो अपने विचार और निष्कर्षों को जानने का अवसर सुलभ करायेंगे—और मैं व्यक्तिगत तौर पर उपकृत होऊँगा, क्योंकि खुद भी आर्थिक असुरक्षा से विचलित और हताश होता हुआ एक अदना लेखक हूँ और और लगातार अपमान और फजीहतों से गुजरना पड़ता है। बहुत सम्भव है कि **'वत्सल निधि'** से प्रेरणा अथवा प्रश्रय पाकर अपनी स्वतंत्र अस्मिता की रक्षा कर सकूँ। अन्यथा अनुभव तो यही है कि जब भी अस्मिता घपले में पड़ी है, खुद के नैतिक असामर्थ्य के कारण, सिर्फ आर्थिक कठिनाइयों की वजह से नहीं। जो लेखक आर्थिक कठिनाइयों में घुटने टेक दे, उसे नैतिक होने का दावा नहीं करना चाहिए। यह बहुत सम्भव है कि स्वभावगत दुर्बलताओं और आर्थिक विपत्तियों के चलते हम अपनी अस्मिता की रक्षा न कर सकें, लेकिन दूसरों की अस्मिता का प्रतिष्ठाता होने के प्रमाद और छद्म से तो हम बच ही सकते हैं।

हम लोगों को चाहिए था कि साहित्य में ऐसा जीवंत वातावरण निर्मित करें, जिसमें लेखक अभिनंदन-अभिषेक-दातव्य संस्थानों की रचना-विमुख और समाजविरोधी दिशा में जाने की जगह, उन तमाम कुटिल व्यवस्थाओं के विरुद्ध वैचारिक संघर्ष की प्रक्रिया को तेज करे, जो

मनुष्य की अस्मिता को खरीद-फरोख्त की वस्तु मानकर चलती हैं। **अज्ञेयजी** की भी गरिमा इसी में होती कि वो लेखक के सामने यह आदर्श रखते कि जैसे किसान हल से जमीन जोतकर, वैसे ही लेखक अपनी कलम से कागज जोतकर जीविका उपार्जित करे। कर सके।

लेखक अपने लिखे हुए के पारिश्रमिक, पुस्तकों की रायल्टी में से जीविका अर्जित करे, तभी वह अपने स्वत्व की प्रतिष्ठा भी कर सकता है। पूँजीवादी अर्थव्यवस्था और सरकारी उदासीनता के तालमेल ने साहित्य को शराब और गांजे के स्तर पर उतारकर ही जीविका जुटा सकने की चुनौतियों में लेखक को डाल दिया है। हमारे मूर्धन्य साहित्यकार सिर्फ अपनी व्यक्तिगत आर्थिक निश्चिंतता और प्रचार-लोलुपता में जी रहे हैं—साहित्य और साहित्यकार के लिए निरंतर मारक और विषैली होती जाती व्यवस्था के प्रतिरोध की उनमें कोई चेतना या चिंता नहीं है तो यह सिर्फ हिंदी साहित्य और साहित्यकार का नहीं, खुद हमारा भी दुर्भाग्य है, क्योंकि हम सिर्फ समाज तथा साहित्यकार के ही नहीं, इतिहास के विपरीत भी चल रहे हैं।

इतिहास तो सदैव इस बात का साक्षी रहा है कि सारे दमन-उत्पीड़न के बावजूद मानव-जीवन में सर्वोपरिता नैतिक मूल्यों की ही है। कोई लेखक यदि नैतिक और सामाजिक मूल्यों के पक्ष में नहीं है, तो अपने इस आत्मक्षय का अभिशाप भी उसे ही भोगना है। यह नहीं कि आगे जाने वाले इतिहास में, बल्कि अपने जीते जी ही। अपने दोहरे चरित्र के चलते आज का लेखक कैसी सामाजिक अवमानना और निर्वासन भुगत रहा है, इसके लिए कसया में हुआ अभिषेक-समारोह एक उदाहरण है।

लेखक को इस बात की चिंता नहीं करनी होती है कि समाज उसकी प्रतिष्ठा कर रहा है या नहीं। इतना तो वह बखूबी जानता है—और आज तक के ऐतिहासिक साक्ष्य से जानता है—कि समाज में अंततः सिर्फ उसी व्यक्ति को प्रतिष्ठा मिलती है, जो समाज के स्वत्व को प्रकट और स्थापित करता है। साहित्यकार अपने पीछे-पीछे आने के लिए नहीं,

...ों के प्रति आस्था न त्यागने के निमित्त लोगों का आवाहन
... अपनी सारी तात्कालिक आपदा-अवमानना के बावजूद, लेखक
...भी न भूलना चाहिए कि समाज ही उसका एकमात्र सम्बोध्य
... ही उसका एकमात्र शरण्य है। जो लेखक यह भूला, वह
...सिंहासन पर पहुँच जाय, साहित्य में कभी नहीं लौटता।

...ांश लेखक तर्क देते हैं, आप भी दे सकते हैं कि चूंकि हमारा
...अशिक्षित और साहित्यिक संस्कारों से विहीन लोगों का है।
... जिस तुलसीदास को इतना बड़ा सामाजिक कवि माना जाता
...के समारोह में कितना बड़ा समाज जुटाया जा सकता है,
...इस बात को नजर-अंदाज न कर देना चाहिये कि सिर्फ इसी
... महान् साहित्यकार न तो कभी अपना जन्म-स्थल खोजने
...अभिनन्दन-अभिषेक कराने। उनमें यह विवेक था कि लेखक
...ूजा का नहीं, मानवीय मूल्यों का संवाहक होना होता है।
...त है, मूल्य साध्य। **व्यक्ति को अपने प्रति खींचना प्रभुत्व-**
... काम है—लेखक का काम है, उसे मूल्यों के प्रति अभिप्रेरित
...ुत्ववादी सोचता है कि यदि लोगों में अस्मिता की चेतना
...का जयकार क्यों करेंगे—और साहित्यकार जानता है कि
...ात्व जागृत न हुआ, तो उसकी वाणी कौन सुनेगा।

... में इसीलिए मनुष्य को अपने प्रति नहीं, नैतिक तथा
...ल्यों के प्रति उद्बुद्ध तथा अभिप्रेरित करने वाला व्यक्ति
...। मनुष्य की स्मृति में चक्रवर्ती सम्राटों और शहंशाहों को
..., कला और धर्म तथा विचार की दुनिया के फटेहालों का
...ी सम्भव नहीं हो जाता है।

...ती खुद भी अपने को द्रष्टा कहते हैं, आप लोग भी उन्हें
... के रूप में ही जानते और घोषित करते आये हैं, लेकिन
... साथ कहना पड़ रहा है कि इतिहास को देखना न **अज्ञेय**
... न आप लोगों को। अन्यथा अपनी कीर्ति खुद ही गाने के

अभ्यासी को '**उद्गाता**' याकि अपनी स्तुति का संयोजन स्वयं ही करने वाले शीलविहीन व्यक्ति को '**श्रोत्रिय**' और अपना अभिनन्दन-अभिषेक स्वयं ही देखने के मोह में भटकते व्यक्ति को '**द्रष्टा**' कहीं भी नहीं माना गया है !

ऐसा नहीं कि '**तेन त्यक्तेन भुंजीथा:**' और अब यह पत्र लिखते हुए अहसास नहीं है कि अविनय बरत रहा हूँ, लेकिन आप सब अग्रजों ने हिन्दी साहित्य के वातावरण को जिस दुरावस्था में पहुँचा दिया है, इसका प्रतिरोध न करना लेखकीय चिन्ता और जिम्मेदारी से विमुख होना है। आप लोगों के हक में भी, खुद अपने हक में भी और आने वाले लेखकों के हक में भी। लेकिन इस सबके बावजूद '**वत्सल निधि**' और '**अज्ञेय भारतीय साहित्य संस्थान**' को लेकर लिखे आपके पत्र को यथावत प्रकाशित करूँगा। आपके विचारों को जानकर, मेरा चाहे न हो, लेकिन **अज्ञेय** जी पर लिखे को पढ़ने वालों के भ्रमों का निराकरण जरूर होगा।

—शैलेश मटियानी

●●

जगदीश जी का पत्र

प्रिय भाई मटियानी जी, शहर-के-शहर में आपने २० पेजी टंकित पत्र, वह भी रजिस्टर्ड ए० डी० भेजकर मुझे ऐसी दहशत में डाल दिया कि लम्बी यात्रा से लौटकर भी मैं उससे मुक्त नहीं हो पा रहा हूँ। आपने उसे अदालती नोटिस की तरह क्यों भेजा ? क्या मुझे बुला नहीं सकते थे ? या स्वयं मेरे यहाँ आ नहीं सकते थे ? इलाहाबाद तो साहित्यिक बहसों का गढ़ रहा है, किसी गोष्ठी में जमकर बात हो सकती थी, तथापि आप जब लिखित उत्तर ही चाहते हैं, तो वही भेज रहा हूँ।

आपका पत्र विवेकशीलता से अधिक आवेशमयता एवं आरोपात्म-कता का परिचय देता है। उसमें कुछ बातों की इतनी बार आवृत्ति की गई है कि वह विपरीत प्रभाव देने लगती हैं। फिर आत्मविश्लेषण भी तो अपेक्षित है।

मैं मानता हूँ कि सारी चीजों को जिस बिन्दु से आपने देखा है, साहित्यकार के हित में उस बिन्दु से भी उन्हें देखा जाना चाहिए, पर आपने अज्ञात या अल्पज्ञात तथ्यों के आधार पर जो निष्कर्ष निकाल लिए हैं, वे संगत एवं मान्य नहीं हैं। हममें में से कोई भी किसी के यहाँ याचक बनकर नहीं गया था। मेरी भाषा पर आप फिर गौर करें। **अज्ञेय** के व्यक्तित्व एवं कृतित्व तथा उनकी विचारधारा को मैं भी आलोचना से परे नहीं मानता। यही ऐसा न होता तो नये कवि के प्रति उनके अवांछित वक्तव्य का **'नई कविता'** के सम्पादकीय में खुला विरोध क्यों करता ?

जहाँ तक **'वत्सलनिधि'** की स्थापना और योजना का सम्बन्ध है, मैं उसे साहित्यकार के स्वाभिमान और उदात्त त्यागमय संकल्प का ही द्योतक मानता हूँ। उससे साहित्यकारों की अस्मिता नष्ट होगी, ऐसी आशंका मुझे निर्मूल प्रतीत होती है। जो तर्क आपने दिये हैं, वे क्षोभजन्य अधिक हैं। साहित्यकार के स्वाभिमान की रक्षा के लिए आपका असा-धारण उत्साह देखकर आपको बड़ा भाई मान लेने का मन करता है।

स्नेहाधीन—**जगदीश गुप्त**
१८१-ए/१ नागवासुकी, **इलाहाबाद**

पुनश्च: सही स्थिति जानने के लिए **'दिनमान'** के पत्र की प्रतिलिपि संलग्न है ?

प्रिय भाई, १७ मार्च, १९८०

कसिया के वृतांत रूप में **'दिनमान'** को याद करने के लिए बहुत

धन्यवाद। पर कारणवश इसका प्रकाशन अभी न हो सकेगा। आशा है अन्यथा नहीं लेंगे।

आपका—**रघुवीर सहाय**, संपादक '**दिनमान**'

● ●

जगदीश जी के पत्र का उत्तर

आदरणीय **जगदीश** जी,

आपका १० जुलाई, १९८० का पत्र यथावधि मिल गया था, कुछ विलम्ब से लिख पा रहा हूँ। इरादा वैचारिक बहस का था, किसी व्यक्तिगत मुद्दे पर आपसी असहमतियों को दूर करने का नहीं और इस बहस को अपेक्षाकृत विस्तार दे पाने की कोशिश में ही व्यक्तिगत मुलाकात, गोष्ठी या पंच-फैसले की जरूरत अनुभव नहीं हुई। यों आप भी बेहतर जानते हैं कि पहले होती रही होंगी, अब ऐसी वैचारिक गोष्ठियों का आयोजन इलाहाबाद में कठिन है, जिनमें वैचारिक बहस को व्यक्तिगत अथवा दलगत पूर्वग्रहों की चपेट से बचाने की गुंजाइश हो। '**परिमल**' का समापन, सम्भवतः, आपको इसलिए नहीं करना पड़ा कि साहित्यिक संस्था की प्रासंगिकता ही खत्म हो चुकी। व्यक्तिगत विग्रहों के चलते ही ऐसा विघटन सामने आता है और स्पष्ट है कि वैचारिकता नहीं, असहिष्णुता इसके मूल में होती है। व्यक्तिगत आग्रहों-अपेक्षाओं को विचार पर वरीयता देने में से ही '**असंवाद**' की स्थिति उत्पन्न होती है।

मेरी लिखावट पढ़ने में दिक्कतदेह होती है, इसलिए पत्र टंकित रूप में और चूँकि २० पृष्ठों का था, इसलिए साधारण डाक में खो जाने की गुंजाइश को देखते, पंजीकृत डाक से भेजा गया। ए० डी० लगाया नहीं गया था। आपको दिखा, यह सिर्फ विस्मय की बात है। हाँ, पत्र ज्यादा विस्तृत और बिखराव-भरा हो गया, इससे सहमत हूँ और और विक्षोभ

में से लिखे होने को भी स्वीकार करता हूँ। यह भी कि जितना-कुछ पत्र में तर्क-सम्मत नहीं है, अविवेक और आवेग का सूचक ही माना जा सकता है, किन्तु यदि कथन अपने-आप में तर्कसंगत हो, सन्दर्भ से जुड़ा हो, तो आरोपात्मक होने के बावजूद उसे अवांछनीय नहीं माना जाना चाहिए, जबकि आरोप यदि मिथ्या हो, तो वह अत्यन्त संयत भाषा और विनयी 'टोन' के बावजूद गलत मनोवृत्ति का सूचक हो सकता है।

शायद, आप सहमत न हो पायें, किन्तु पत्र न पूर्वग्रह में लिखा गया और न अदालती सम्मन-जितनी शक्तिमत्ता में। विक्षोभ में अवश्य ही। आप तर्क दे सकते हैं कि **अज्ञेय** जी या कि आपका कहा-किया मेरे लिए विक्षोभ का कारण क्यों बने ? और कि आप लोगों के कहे-किये की पड़ताल में जाने की जगह **'आत्मविश्लेषण'** में मुझे रहना चाहिए। लेकिन जैसे जल से सरोवर, वैसे ही भाषा से वातावरण तैयार होता है और चूँकि हिन्दी साहित्य का वर्तमान वातावरण निरन्तर अस्वस्तिकर और दमघोंटू होता जाता प्रतीत होता है, इसलिए विक्षुब्ध होता हूँ। लिखना यदि शगल नहीं, अस्तित्व के संघर्ष का पर्याय और मानवीय तथा सामाजिक चिन्ता से जुड़ा हो, तो साहित्य और मूल्य-विरोधी वृत्तियों जे साबका पड़ने पर विक्षुब्ध होने (और अपने विक्षोभ को प्रकट करने) से लेखक बच नहीं सकता। विक्षुब्ध होने पर भी प्रशान्त दिखने की कोशिश लेखक को दूसरों से असम्बद्ध करती है। विक्षुब्ध होना अपने-आप में दोष नहीं है। द्रष्टव्य है यह कि कौन अनीति और छद्म के प्रति विक्षोभ अनुभव करता है और कौन अनीति अथवा छद्म का प्रतिकार किये जाने पर।

आपने पत्र का उत्तर दिया, इसे आपकी सदाशयता के रूप में ही ले रहा हूँ, क्योंकि मेरे पत्र की भाषा इतनी तीखी, स्वर इतना आरोपात्मक है कि सामान्यतया उसकी 'पावती' देना भी लग सकता था कि अहम्मन्यता को शह देना है।—लेकिन इतना कह सकता हूँ कि लिखा वह सिर्फ इस पहल में गया था कि आखिर हिन्दी में यह जो वैचारिक

अराजकता बढ़ती ही जा रही है कि कहते-लिखते समय न आत्मसजगता ही बरती जाती है और न चिन्ता कि श्रोता और वाचक में सिर्फ सुनने-बाँचने की ही नहीं, प्रश्न करने की वृत्ति भी हो सकती है—इस वैचारिक निरंकुशता अथवा निर्द्वन्द्वता का प्रतिरोध किया ही जाना चाहिए और आपके इस पत्र से यदि 'गुनाहे-बेलज्जत' का सा अहसास हुआ है, तो इसीलिए कि आपने बचत का रुख अपनाया है, विचार का नहीं। मैं मानकर चला था कि आप **'परिमल'** की वैचारिक परम्परा के लेखक हैं और बख्शेंगे नहीं, किन्तु आपने **'फिर आत्मविश्लेषण भी अपेक्षित है'** की संतमुद्रा ओढ़ ली !

विचार के स्तर पर बख्श दिये जाने को यों सदाशयता भी माना जा सकता है, किन्तु अधिक प्रसन्नता होती यदि जिस 'आत्मविश्लेषण' को मैं बचा ले गया, आप उसे दोटूक रेखांकित कर देते। 'छलनी का बोलना' आपत्तिजनक मान लेने में मुझे एतराज नहीं। जब मैंने आपके प्रति आरोपात्मक रुख अख्तियार किया, तब अपनी बचत का हक कहाँ रहा ? यों अपने जाने जो-कुछ लिखा आत्मविश्लेषण के बाद ही और वैचारिक स्तर पर हकदार होने की किंचित प्रतीति में ही लिखा। अपने कहे-लिखे-किये के प्रति जिम्मेदार हो सकने के संघर्ष में ही इतना जाना कि स्वीकार में ही मुक्ति है। लेकिन सवाल यह है कि **'अपना गरेबां देखिये'** बचत का तर्क तो हो सकता है, विवेक का नहीं।

हालांकि जो-कुछ लिखा, आपके लेख में निहित मुद्दों के आधार पर लिखा, फिर भी अज्ञात अथवा अल्पज्ञात तथ्यों के आधार पर लिखने में चूक होने की गुंजाइश से असहमति नहीं, लेकिन इस सिलसिले में **'हममें से कोई भी वहां याचक बनकर नहीं गया था। मेरी भाषा पर फिर से गौर करें।'** लिखकर, फिर से यह पूछ लेने का अवसर दिया है आपने कि विधिवत आमंत्रित हो कर जाने के बाद, राजनेता की संस्कारहीनता के लिए क्या उसके रूबरू आपत्ति प्रकट नहीं की जानी चाहिए थी ? और यदि आप लोगों की ओर से कोई माँग या अपेक्षा

नहीं थी, तब कार्यक्रम में न आने की दोटूक बात कहते हुए, 'एक हजार एक' रुपया भेजने की सगर्व उद्घोषणा करने की जो हिमाकत राजनेता ने की, उसका वहीं प्रतिकार क्यों नहीं किया गया ? और **'पर इतना तय है कि कोई उनके दिव्य आतिथ्य को भूलेगा नहीं ।'** में **'दिव्य आतिथ्य'** राजनेता के प्रति व्यंग की जगह, राजनेता को संस्कारहीन कह डालने की क्षतिपूर्ति की प्रतीति ज्यादा दे रहा है, तो यह भाषा की चूक है या कि मंतव्य की ?

'मेरी भाषा पर फिर से गौर करें ।' आपने लिखा, तो दुबारा पूरा लेख पढ़ गया । यदि कहूँ कि आपको भाषा का ज्ञान नहीं, तो यह कथन निश्चित ही अज्ञान का सूचक होगा । सिर्फ इतना कहना है कि **जब अनुभूति और मंतव्य में अंतरंगता और सच्चाई का अभाव होता है, तो कथन और भाषा के बीच तादात्म्य की नहीं, असंगति और अन्तर्विरोध की गुंजाइश ज्यादा होती है** । मिथ्या अनुराग और निष्ठा को भाषा के माध्यम से सच सिद्ध किया जा सकता होता, तो न आप **'इलाजी और उनकी समुपस्थिति ने वातावरण को असाधारण पारिवारिकता प्रदान की ।'** लिखते और न अतिशयप्रियता में **'सबने खेत में बने गड्ढे की मिट्टी को अपने हाथों से हटाकर पौधे रोपे ।'** की गलदश्रु भावुकता में विलीन होते, क्योंकि ऐसे अवसरों पर तो प्रायः बड़े-बड़े राजनेता तक अपने ही हाथों से मिट्टी हटा देते हैं । जैसे अतिशय प्रियता में शंका का, तैसे ही, अतिशय मिथ्या प्रशंसा में भी निरर्थक शब्दों का उपजना स्वाभाविक होता है ।

लेख के साथ छपा रेखाचित्र भी आपने अतिशय प्रतीकात्मक ही बनाया है । **केदारनाथ सिंह**-द्वारा रोपित पादप, लगता है, मार्क्सवाद के प्रति उनकी निष्ठा के कारण ही जल्दी **'प्रगति'** कर गया । पादप-रोपण का आँखों-देखा विवरण तो लगभग पूरा ही नवीनत-लेपण का पर्याय बनकर रह गया है । भाषा पर गौर करने में ही यह दिक्कत भी सामने आई कि **'समुपस्थिति'** कौन है ? **इलाजी** की माताजी, बड़ी

बहन-छोटी बहन, या कि सहेली ? और यह कि '**असाधारण पारिवारिकता**' से तात्पर्य क्या है ? पारिवारिकता की सीमा का अतिक्रमण ? या कि **पारिवारिकता की पहुंच से परे की कोई अपार अथवा अतिशय पारिवारिकता** ? आप-जैसे वरिष्ठ साहित्यकार और प्राध्यापक की भाषा में मीन-मेख निकालना प्रगल्भ कहे जाने की गुन्जाइश पैदा करना है, लेकिन आपका यह पूरा लेख मंतव्य और निष्ठा में क्षीण पंडित की स्थूल शब्दावली से भरा पड़ा है, इतना कह बैठने से अपने को रोक नहीं पा रहा ।

'**नयी कविता**' के सम्पादकीय में वर्षों पूर्व **अज्ञेय** जी का वैचारिक स्तर पर विरोध कर लेने के बाद उनकी मिथ्या स्तुति के लिये आप अधिकृत हो चुके, ऐसा मान लेने का कोई तर्क बनता नहीं । आपको चाहिये था कि **अज्ञेय** जी के बारे में अब जो-कुछ आपने लिखा है, उसके औचित्य पर बात करते । अपने लेख में **अज्ञेय** जी के द्वारा '**साहित्य की मूल्यवत्ता**' और '**साहित्यकार की स्वतन्त्र अस्मिता**' की प्रतिष्ठा की बात आपने की थी, इस पत्र में '**साहित्यकार के स्वाभिमान और उदात्त त्यागमय संकल्प का द्योतक**'—बताया है । इस दोनों कथनों के बीच बहुत गहरा फर्क है । पहले कथन में चूंकि दावेदारी बरती गयी, इसीलिये पूछने की गुंजाइश भी बनी कि क्या ऐसा संभव भी है । जिसे प्रतिमान बनाया जाय, उसकी पड़ताल को अवांछित मानना प्रतिमान बनाए गये की पोल को छिपाने की चालाकी बरतना है । इन प्रसंग में भी आप '**सारी चीजों को जिस बिन्दु से आपने देखा है, साहित्यकार के हित में उस बिन्दु से भी उन्हें देखा जाना चाहिये ।**' की टीप लगाकर, चुप साध गये हैं ।

'**दिनमान**'—सम्पादक का जो पत्र आपने नत्थी करके भेजा है, उससे सिर्फ सम्पादकीय सौजन्य का साक्ष्य मिलता है, मेरे द्वारा दिये गए कारण के न होने का नहीं ।

अज्ञेय जी के द्वारा '**वत्सल निधि**' और '**अज्ञेय भारतीय साहित्य**

संस्थान' की स्थापना को '**उदात्त त्यागमय संकल्प का ही द्योतक**' बताते हुए, आपने मेरी आशंका को निर्मूल बताया है, लेकिन कहीं यह नहीं कहा था कि इससे साहित्यकारों की अस्मिता नष्ट होगी, क्योंकि ऐसा सम्भव नहीं है। स्वतन्त्र अस्मिता की परिकल्पना के घपले और जोखिम में पड़ने की बात जरूर उठायी गयी थी। अब भी यह जानने की जिज्ञासा है कि क्या '**उदात्त त्यागमय संकल्प**' और '**आत्म-लिप्सा**', दोनों साथ-साथ सम्भव हैं? कविगुरु के रूप में ख्यात **रवीन्द्रनाथ ठाकुर** ने '**ठाकुर निकेतन**' या '**रवीन्द्र भारती**' की अपेक्षा '**शान्ति निकेतन**' अथवा '**विश्वभारती**' नामकरण किया, तो इस विवेक में से ही कि अपने द्वारा अपने नाम पर संस्था स्थापित करना, या करवाना, अशोभनीय माना जा सकता है।

यहाँ फिर दोहराना चाहता हूँ कि **अज्ञेय** जी को मैं हिन्दी का अत्यन्त महत्वपूर्ण लेखक मानता हूँ और इसीलिए विक्षोभ भी होता है कि अपने उदात्त और त्यागयय संकल्प को स्वयं ही अशोभनीय बनाने की चूक उन्होंने क्यों की? पत्र के अंत में आपने '**साहित्यकार के स्वाभिमान की रक्षा के लिए मेरे असाधारण उत्साह**' को जिस मनोभाव में मान्यता दी है, स्पष्ट है कि अपने लेख के प्रति प्रश्नवाचकता आपको अवांछनीय प्रतीत हुई, अन्यथा विचार करने में '**छोटा भाई, जेठा भाई**' के तर्क या फतवे की अनिवार्यता होती नहीं। अपने लिखे के प्रति अनुत्तरदायी होने की परिणति ही खीझ, मिथ्या विनय या निषेध में होती है। आपने निषेध नहीं बरता, उत्तर देने की सदाशयता बरती, इतना स्वीकार करता हूँ और आभारी हूँ।

आपसे मेरा सम्बन्ध सदैव आत्मीयता और आदर का रहा है। '**अवकाश**' में वैसा लेख आपने नहीं, किसी दूसरे महत्वपूर्ण साहित्यकार ने लिखा होता, तो भी प्रतिवाद करता। व्यक्तिगत विक्षोभ-जैसी कोई बात मन में रही नहीं है। शुद्ध वैचारिक बहस की मुद्रा में ही तब भी

लिखा था, अब भी लिख रहा हूँ और इस उम्मीद में ही कि इस बार आपका विस्तृत पत्र प्राप्त हो सकेगा।

स्वयं अनुभव करता हूँ कि उद्धत होने की प्रतीति मेरे लिखे में से सम्भव है और इस निमित्त क्षमा चाहता हूँ।

आपका—**शैलेश मटियानी**

(इस पत्र का उत्तर नहीं आया।)

● ●

बुनियादी नम्रता का प्रश्न

इलाहाबाद : ११ अप्रैल' ८१

प्रिय शाह,

तुम्हारा १७ जनवरी का पत्र दिल्ली से वापस आने पर देख सका। यह तुम्हारा अनुग्रह है, कि अज्ञेय जी के संदर्भ में मेरे लिखे को लेकर इस बार तुमने मुक्त भाव से असहमति और आपत्ति प्रकट की है। असहमति का बिना लाग-लपेट के व्यक्त कर दिया जाना ही संवाद की स्थिति बनाता है। तुम्हारी लगभग हर बात विचार का सूत्र देती है, इसलिये इन्हें सिलसिलेवार ले रहा हूँ।[1]

पहले संक्षेप में 'आजकल' वाली टिप्पणी के प्रसंग में।

तुमने मेरे सम्पादकीय अभिमत को संग्रह में दिया, इसमें अनौचित्य

---

१. जिस पत्र के प्रसंग में छापा जा रहा है, श्री रमेशचन्द्र शाह का वह पत्र १७ जनवरी ८१ का है। चूंकि पत्र के सारे मुद्दे उत्तर में उद्धृत हैं, इसलिये पत्र अलग सेनहीं दिया जा रहा है।

कहीं नहीं। जितनी गुणवत्ता आँकी गई, उससे कम तुम्हारी कहानियों में नहीं, इतना आज और भी निस्संकोच कहा जा सकता है। अभिमत (या कि विचार) कभी व्यक्तिगत नहीं होता। विचार और अभिमत का भिन्न-भिन्न अवसरों के लिए अलग-अलग या कि व्यक्तिगत होना गैर-ईमानदारी का सूचक ही कहा जा सकता है। पत्र में लिखे क्या, मौखिक रूप से व्यक्त किये अभिमत का भी यदि कोई कहीं उपयोग करे, तो कम से कम मुझे कोई आपत्ति न होगी। मेरा कथन तो सिर्फ यह था कि वह सम्पादकीय टीप कहानी पर थी, संग्रह पर नहीं। टिप्पणी में हिन्दी की तथाकथित मार्क्सवादी आलोचना-पद्धति के रचनात्मक लेखन के हनन की हद तक घातक हो चुकने की बात यों ही आवेग में नहीं कही गई थी। उसकी परिणतियाँ अब उजागर हैं।

तुमने लिखा है—'**खैर, इस निमित्त से ही सही, तुमने एक बहुत जरूरी मसले (आइडियालॉजिकल प्रतिबद्धता) पर अपनी एक बेबाक दृष्टि सामने रखी, इससे मुझे बल मिला। इस वक्त इस नजरिये की तानाशाही किस कदर है, कहने की बात नहीं। यह भी एक ज्वलंत समस्या बन गई है, बना दी गई है। कोई सार्वजनिक शास्त्रार्थ इस पर हो ही जाना चाहिये। बहुत भुगत लिया यह सब।**'

क्यों नहीं तुम स्वयं इसकी पहल करते ? इस मुद्दे पर कोई टिप्पणी '**जनपक्ष**' के लिये भेज सको, तो इसे एक वैचारिक बहस का रूप दिया जाय।

जहाँ तक मेरा प्रश्न है। **मार्क्सवाद** का सम्यक् तो क्या, सामान्य अध्ययन भी मेरा नहीं, इसलिये **मार्क्सवाद** के अपेक्षित सैद्धान्तिक विवेचन में जाने में असमर्थ हूँ। अलबत्ता हिन्दी के अधिकांश तथाकथित मार्क्सवादी लेखक मार्क्सवाद की जो—और जिस तरह—व्याख्या करते हैं, और उसे साहित्य के विवेचन में जिस रूप में लागू करते हैं, उससे काफी-कुछ परिचय है। हिन्दी में मार्क्सवादी आलोचना का स्तर प्रायः दुख-

ग्रही तथा एकांगी और कुल्हाड़े से खेत जोतने-जैसे अहमकपन से भरा रहा है। आखिर **मार्क्सवाद** के पैरोकार लेखक-आलोचकों को ही इस नतीजे पर पहुँचना होगा कि जमीन को **'जोतने'** और **'खूँदने'** में फर्क होता है और कि इसकी कोई सार्थकता सिर्फ तभी बनती है, जबकि उपजाया जा सके। हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में मार्क्सवादी नजरिये वाला लेखन अब अंधी गली के आखिरी मुहाने पर पहुँच चुका लगता है, क्योंकि उसका गंतव्य सामाजिक यथार्थों का साक्षात्कार नहीं रह गया, सैद्धान्तिक हवाबाजी बन गया है।

दरअसल हिन्दी के अधिकांश मार्क्सवादी लेखक खुद ही **मार्क्सवाद** के प्रति निष्ठावान नहीं। ये **मार्क्सवाद** को जीवन और आचरण के स्तर पर उतारने में नहीं, सिर्फ सिद्धान्तवाद के तौर पर बखानने में रुचि रखते हैं। मार्क्सवाद, हिन्दी के अधिकांश मार्क्सवादी बुद्धिजीवियों के लिये, फिलहाल, अपने निहित स्वार्थों की सिद्धि का साधन-भर है, साध्य नहीं। इनके लिये **मार्क्सवाद** जीवन का लक्ष्य नहीं, अवसरवादी चरित्र को ढाँके रखने का एक कारगर साधन है। इन्होंने **मार्क्सवाद** को निहितार्थों का पर्याय बना लिया है। किसी जमाने में गाँधीटोपी धारण कर लेना भ्रष्टाचार को ढाँकने का अचूक साधन माना जाता था (अब इसकी जरूरत ही समाप्त हो गई) और आजकल **मार्क्सवाद** धारण करना कारगर माना जा रहा है। **गांधीवाद सफेद टोपीवाद की शक्ल में नष्ट हुआ, मार्क्सवाद लालटोपीवाद की शक्ल में सामने आ रहा है।**

हिन्दी के तथाकथित मार्क्सवादी लेखकों-बुद्धिजीवियों को **मार्क्सवाद** का प्रतिनिधि मान लिया जाय, तो **मार्क्सवाद** की तस्वीर **गाँधीवाद** से बेहतर बन सकने की कोई गुंजाइश नहीं होगी। भारतीय बनिया और भारतीय बुद्धिजीवी, अपने बुनियादी चरित्र में ये दोनों ही सौदेबाज हैं, और स्वाभाविक है कि इन दोनों की ही सौदेबाजी का केन्द्र एक है—राजनीति !

मार्क्सवाद की जो स्थिति फिलहाल इस देश में है, यह पूँजी या सत्ता की पूँछ के अलावा कुछ और हो सकने की आश्वस्ति कत्तई नहीं देता। साहित्य को सत्ता की राजनीति का मोहरा बनाने का काम हिन्दी के मार्क्सवादी लेखकों-बुद्धिजीवियों को सत्ता के सान्निध्य में रखता है। यही वजह है कि मार्क्सवादी आलोचक सैद्धांतिक बाजीगरी को प्राथमिकता देता है, रचनात्मक मूल्यों को नहीं। अपने छद्म को ढांके रखने के निमित्त उसके पास एक अचूक मार्क्सवादी-लेनिनवादी शब्द है—**'रणनीति।'** और इस 'रणनीति' को हिन्दी के अधिकांश तथाकथित मार्क्सवादी लेखक-आलोचकों ने इतना लचीला बना लिया है कि **'व्यक्तिगत बेइमानी'** को **'सैद्धांतिक रणनीति'** सिद्ध कर ले जाना आसान हो जाय।

हिन्दी में आइडियालॉजिकल प्रतिबद्धता वाले नजरिये की पड़ताल में जाना इसलिए प्रासंगिक और जरूरी है कि **मार्क्सवाद के सर्वहारा की जगह सत्ता की तानाशाही के मोहरे के रूप में इस्तेमाल किये जाने का दुष्प्रभाव साहित्य में न सिर्फ कलात्मक, बल्कि सामाजिक मूल्यों के हनन की हद तक बढ़ता जा रहा है।** अपने-अपने राजनैतिक नेतृत्व के ही अनुसार हिन्दी के तथाकथित मार्क्सवादी लेखकों-बुद्धिजीवियों की चिंता का केन्द्र सामाजिक संघर्ष को गति देना नहीं, रूस-चीन के राजनैतिक हितों की देखभाल और यहाँ की तथाकथित लोकतांत्रिक व्यवस्था में अपने-अपने लिए महत्वपूर्ण जगह टोहना है। इनका लक्ष्य क्रांति न था, न है। ये यथास्थितिवाद के उतने ही मुरीद हैं, जितने इस देश के अन्य राजनैतिक दल। इसीलिये **मार्क्सवाद** और **अवसरवाद** के बीच के फर्क को इन्होंने इतना धुंधला कर दिया है कि पहचानना कठिन हो जाय। आपात्स्थिति के दौर में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी से सम्बद्ध (**'प्रतिबद्ध'** तो ये सिर्फ अपने निहित स्वार्थों से होते हैं) लेखकों, बुद्धिजीवियों से जिनका साबका पड़ा, वो सब अपने अनुभव से जानते हैं कि राजसत्ता की निरंकुशता का किस उत्सव-मुद्रा में इन्होंने स्वागत किया था। आपात् स्थिति के दौर के अपने आतंकवादी तेवरों को इनमें से कई अभी

तक नहीं भुला पाये हैं। ये दृष्टान्त हैं कि अपना स्वत्व राजसत्ता के हाथों गिरवी रख चुकने वाला लेखक विचार-स्वातंत्र्य का स्वाभाविक शत्रु होता है।

मार्क्सवाद को साहित्य में शिकंजे की तरह इस्तेमाल करने की प्रवृत्ति राजसत्ता के साथ की सौदेबाजी की अनिवार्य परिणति है और इसकी पड़ताल में जो जोखिम है, उसे समझे बिना ही **'सार्वजनिक शास्त्रार्थ'** में **'उत्तर पड़ने'** की चाहे जितनी हो, **'बने रहने'** की गुंजाइश कम होगी।

अब दूसरे—यानी कला-संस्कृतिवादी—छोर को लिया जाय, तो लगभग क्या, हूबहू इतना ही बड़ा छद्म और मुखौटाधारण वहाँ विद्यमान है।

मार्क्सवाद के कुछ मुद्दों से असहमत होने को मनुष्य के सामाजिक-आर्थिक उत्पीड़न और शोषण के ही नकार की हद तक खींच ले जाना कला और संस्कृति के मूल्यों की रक्षा करना नहीं, उनको धपले में डालना है। सत्ता या स्वार्थ की राजनीति का मुहावरा बन जाने पर कोई भी **'वाद'** अंततः प्रतिवाद-निषेधी होता जाता है। **मार्क्सवाद** भी यहाँ इसी प्रक्रिया से गुजर रहा है। अब कला-संस्कृतिवादी बुद्धिजीवी यदि भारतीय संस्कृति को **मार्क्सवाद** में अंतर्निहित मनुष्य की आर्थिक-सामाजिक मुक्ति की अवधारणा के ही निषेध तक ले जाने का उद्यम करता है, तो स्पष्ट है कि एक छोर अपने लिए सुरक्षित कर लेने की चालाकी बरतते हुए, दूसरा छोर अपने प्रतिद्वन्द्वियों के लिए मुक्त छोड़ देना चाहता है। संस्कृति और कला की ठेकेदारी इनके जिम्मे—आर्थिक-सामाजिक मुक्ति की ठेकेदारी मार्क्सवादियों के जिम्मे! न इन्हें संस्कृति और कला को मनुष्य की आर्थिक-सामाजिक मुक्ति के संघर्ष से जुड़ने देना है और न उन्हें मनुष्य के सामाजिक-आर्थिक संघर्ष को उसके सामाजिक स्वातंत्र्य के हनन का पर्याय बनाने के कठमुल्लेपन को त्यागना है। यह अकारण नहीं है कि प्रगतिवादी और कलावादी खेमों का सारा आपसी द्वन्द्व अंततः

सत्ता और व्यवस्था में अपने-अपने '**लाभांश**' के अनुपात को टोहने तक सीमित है। इनके बीच वैचारिक संघर्ष नहीं, निहित स्वार्थों की प्रति-योगिता है। ऐसे में आइडियालॉजिकल प्रतिबद्धता वाले नजरिये की पड़ताल में जाते समय इस कला—संस्कृतिवादी नजरिये को नेपथ्य में करना, फिर एकांगी विवेचन में ही जाना होगा, क्योंकि दायीं आँख के काने और बायीं आँख के काने के बीच का बुनियादी फर्क एक-दूसरे को जितना '**भिन्न**' बनाता है, उतना ही समान भी।

मार्क्सवाद न संस्कृति है, न उसे संस्कृति होना है। संस्कृति प्रकृत्या सामाजिक सृष्टि और धरोहर होती है और '**वाद**' को प्रायः सत्ता या कि व्यवस्था के हाथों का हथियार बन जाते देर नहीं लगती। **मार्क्सवाद** यदि वाया लेनिनवाद—माओवाद तक जा सकता है, तो इससे आगे '**इन्दिरावाद**' या '**बहुगुणावाद**' तक भी जाने का लचीलापन उसमें मौजूद माना जाना चाहिए। '**वाद**' से व्यक्ति का जुड़ा होना ही उसे इस नियति तक ले जाता है कि मूल्य उससे जाता रहे, तब भी '**वाद**' बच रहता है। किन्तु संस्कृति चूँकि बुनियादी तौर पर '**सामाजिक सृष्टि**' होती है, इसलिये अपनी परिणति में भी वह **व्यक्तिगत इस्तेमाल** के खतरों से मुक्त होती है। संस्कृति सत्ता या व्यवस्था के हाथ मजबूत करती हो, तो हमेशा समाज के स्वत्व के हनन का माध्यम बनेगी और जिस अनुपात में उसका सत्ता-व्यवस्था के पक्ष में इस्तेमाल होगा, उतना वह अपने मूल स्रोतों से कट जाएगी। हिन्दी के कला-संस्कृतिवादी लेखक ठीक उसी तरह—और उतने ही अनुपात में—संस्कृति और कला को पूँजीवादी व्यवस्था के इस्तेमाल की वस्तु बनाते जा रहे हैं, जिस अनुपात में मार्क्सवादी बुद्धिजीवी **मार्क्सवाद** को सत्ता की राजनीति का मोहरा बनाने के उद्यम में जुटे हैं। ऐसे में अब हम लेखकों को इस पड़ताल में भी जाना ही चाहिये कि आखिर इस देश के पूँजीपतियों का भारतीय संस्कृति से क्या और कितना वास्ता है? और यह भी कि इस तथाकथित भारतीय संस्कृति का इस देश के उन करोड़ों नागरिकों से

भी कोई वास्ता है या नहीं, जो संस्कृति का अधिष्ठाता होने का भ्रम रचने में जुटे पूँजीपतियों के उत्पीड़न और शोषण का दिन-ब-दिन और आखेट होते जाते हैं ?

कोई भी संस्कृति उत्पीड़कों और नागरिकों, शोषकों अथवा समाज के पक्ष में समान रूप से—और साथ-साथ—नहीं हो सकती। हमारे कला-संस्कृतिवादी लेखक-बुद्धिजीवी संस्कृति के सामाजिक पक्ष को नकार कर इसे पूँजीवादी व्यवस्था की दरिंदगी को ढाँकने का उपादान बनाने में जुटे हुए हैं, यह इनका निहायत शर्मनाक और संस्कृति विरोधी अपकर्म है। **संस्कृति को उसकी सामाजिक सत्ता से काटकर, उसे संस्कृति के ठेकेदारों के खरीद-फरोख्त की वस्तु बनाने में योगदान देने का ही आज यह दुष्परिणाम है कि हर कला-संस्कृतिवादी लेखक की चुटिया पूँजीपतियों की गिरफ्त में है** और उनके सूत्र-संचालन के हिसाब से ही वह अपनी भूमिका अदा कर रहा है। आज यदि संस्कृति, कला या मानवीय मूल्यों की बात करना ही प्रतिक्रियावादी होने की गन्ध देने लगा है, तो यह बिलावजह नहीं है। हिन्दी के कला-संस्कृतिवादी लेखकों ने इसका पूरा-पूरा आधार निर्मित कर दिया है।

क्या यह हिन्दी के कला-संस्कृतिवादी लेखक की चिन्ता का विषय सचमुच नहीं रह जाना चाहिये कि आखिर यह करिश्मा कैसे सम्भव हो पाया कि पूँजीवादी खेमा, अपने एक **हाथ से अपसंस्कृति का पनाला बहाता जाता है और दूसरे हाथ से संस्कृति की ठेकेदारी हथियाये रहता है ?** हिन्दी-के लेखकों-बुद्धिजीवियों का सारा संस्कृति-बखान और कला-कीर्तन पूँजीवादी व्यवस्था की नारीकयता से लोगों का ध्यान विकेन्द्रित और दिग्भ्रमित करने के निमित्त है। संस्कृति का विवेचन और बखान, चाहे वह कितनी ही कलात्मक शब्दावली और बौद्धिक चमत्कारिकता के स्तर पर क्यों न हो, तब तक कोई अर्थ नहीं रखता, जब तक

कि संस्कृति को मनुष्य की साम्प्रतिक सामाजिक स्थितियों से न जोड़ा जाय । संस्कृति को उसकी सतत प्रवहमान धारा और मूल उत्सों से काटकर उसे मायावल्लरी के स्तर पर हवा में फैलना, उसको व्याख्यायित नहीं, विरूपित करना है । अपसंस्कृति और सांस्कृतिक छद्म—ये दोनों एक ही नरक के दो छोर हैं । हिन्दी का आज का जो लेखक जितना चूड़ांत संस्कृतिवादी है, उसका सांस्कृतिक छद्म उतना ही बड़ा है । संस्कृति की व्याख्या अपने-आप में कोई 'स्वायत्त मूल्य' नहीं है । किस निमित्त और किसके पक्ष में संस्कृति की व्याख्या की गयी, मूल्य इससे बनता है ।

विद्वता और बौद्धिकता कोई अपने-आप में इतनी पड़ताल-निरपेक्ष नियामत नहीं कि किसी व्यक्ति के विद्वान और बौद्धिक होने को ही अपने-आप में एक मूल्य मान लिया जाय । बेईमान विद्वान से ईमानदार मूर्ख की नैतिकता बड़ी होती है । विद्वता का मूल्य तब बनता है, जब वह नैतिक हो । और सामाजिकता का नैतिकता से रक्त-सम्बन्ध होता है । अपसंस्कृति पैसे के ठेकेदारों के पक्ष में जो एक बड़ा काम करती है, वह यही कि समाज में से नैतिकता का अवमूल्यन हो । जब कोई विद्वान् लेखक सांस्कृतिक पाखण्ड धारण करता है, तो वह प्रकारांतर से अपसंस्कृति को, नैतिक क्षरण को बढ़ावा देता है । हिन्दी साहित्य या साहित्यकार को जितना मार्क्सवाद से, उससे कहीं बड़ा खतरा हिन्दी के चूड़ांत कला-संस्कृतिवादियों से है । मार्क्सवाद में मनुष्य की अन्तश्चेतना के निषेध का हौवा खड़ा करने वाले कला-संस्कृतिवादी लेखकों-बुद्धिजीवियों को यह नहीं भूलना चाहिए कि मनुष्य के उदर और अन्तःकरण एक-दूसरे के पूरक घटक हैं, विरोधी नहीं । और कि मनुष्य के अन्तःकरण के निषेध से कहीं ज्यादा अमानवीयता उसके उदर के निषेध में है, क्योंकि वह अस्तित्व का ही मूल आधार है । और कि उदर का अर्थ सिर्फ 'खाये हुए के इकट्ठा होने की जगह' नहीं होता, बल्कि वह 'मनुष्य के तमाम बुनियादी अधिकारों और सरोकारों का केन्द्रीभूत प्रतीक' है ।

इस बुनियादी शर्त के पूरे हो जाने के बाद ही मनुष्य की तरह आचरण करने की स्थिति बनती है। ऐसे में **'रोटी तो पूँजीवादी व्यवस्था भी देती ही है'**, के तर्क को हुंकारा देते वक्त यह नहीं भुला दिया जाना चाहिये कि पशु को चारा दिये जाने और मनुष्य को रोटी दिये जाने में यदि कोई अन्तर न हो, तो फिर इससे भी कोई अन्तर नहीं पड़ना चाहिये कि उसे किस वाद या कि व्यवस्था के अन्तर्गत जीना पड़ रहा है।

देखा जाय तो अपने साम्प्रतिक चरित्र में **मार्क्सवाद** और **पूँजीवाद** एक-दूसरे के विकल्प नहीं, प्रतिरूप हैं। एक सैनिक सत्ता की, दूसरा पैसे की तानाशाही की मार्ग प्रशस्त कर रहा है। मनुष्य के निजी स्वत्व का निषेध ही उसके सामाजिक स्वत्व का निषेध भी है, क्योंकि समाज और व्यक्ति अन्योन्याश्रित हैं। सर्वहारा की तानाशाही का दर्शन इसे नजर अन्दाज करता दिखाई देता है। इसे भी कि तानाशाही चाहे किसी की भी हो, असामाजिक और अमानवीय होगी।

मार्क्सवाद एक विचार-दर्शन है और कोई भी विचार-दर्शन साहित्य के वैचारिक परिप्रेक्ष्य को विस्तृति दे सकता है, यदि उसे साहित्य पर नियामकता के स्तर पर न लादा जाय। संस्कृति और साहित्य, ये दोनों जितने समन्वयी, उतने ही उदात्त होते हैं। भारतीय संस्कृति की एक जो मूलभूत उपलब्धि है, वह मनुष्य को 'राज्य' की सीमाओं में न देखकर **'वसुधा'** के परिप्रेक्ष्य में देखना और निषेधी नहीं, समन्वयी होना है। महात्मा **मार्क्स** ने भी **'राज्य'** को मनुष्य का शत्रु ही माना है।

मार्क्सवादी जीवन-दर्शन और विचार-दृष्टि का हमारे साम्प्रतिक लेखन में जो अवदान है, वह सामान्य नहीं है। कला, संस्कृति और साहित्य की सामाजिक पक्षधरता के सवाल को लेखकों-पाठकों के बीच रखना, इन्हें समाज से और समाज को इनसे जोड़ने की प्रक्रिया को

बनाये रखना है। कालान्तर में सामाजिक पुनार्जागरण की यह प्रक्रिया हमारे भक्त कवियों-द्वारा अपनायी जा चुकी है और लगभग दो हज़ार वर्षों की लम्बी दासता के युग से गुजरने के बाद भी भारतीय साहित्य और संस्कृति का सरोकार समाज से बना रह गया, तो यह चमत्कार यों ही घटित नहीं हो गया। राजसत्ता के शिकंजे से संस्कृति और साहित्य को बचा सकने की चिन्ता में ही यह सारा संघर्ष किया गया।

साम्प्रतिक हिन्दी साहित्य में से राष्ट्रीयता का स्वर **ब्रिटिश सत्ता** के निर्गमन और **गांधी** के हनन के साथ ही निरस्त होता गया और उसकी जगह जिस छायावाद और प्रयोगवाद ने ली, उसकी जड़ें साहित्य के सामाजिक निवेश में नहीं थीं। ऐसे में, चौथे दशक में विशेष रूप से **प्रेमचन्द** के **'कायाकल्प'—गांधीवाद** से **प्रगतिवाद** में संतरण—ने हिन्दी साहित्य को एक समाजोन्मुख जीवनदृष्टि दी और हिन्दी साहित्य तथा साहित्यकार का जितना भी सामाजिक चरित्र बन सका, उसमें प्रगतिशील चिन्तनधारा का योगदान सबसे प्रमुख है। अन्यथा **जैनेन्द्र** के मनोविश्लेषणवाद, **अज्ञेय** के प्रयोगवाद और **पंत-महादेवी** के निरन्तर गगनविहारी होते जाते छायावादी लेखन की गुंजलक में फँसा हिन्दी लेखक समाज से निरन्तर विच्छिन्न ही होते जाता।

यह प्रत्येक युग के साहित्यकारों पर ही निर्भर होता है कि उनमें से कौन साहित्य की मुख्यधारा को समाज से जोड़ता है और कौन **राजसत्ता** से। इतिहास में साहित्यकार के इस तरह के रुख और उसकी भूमिका की गहरी पड़ताल में जाकर ही, हम अपने साहित्यिक परिदृश्य को भी ठीक-ठीक परख सकते हैं। पहचान सकते हैं कि कौन साहित्यकार किस जगह, किसके पक्ष में खड़ा है।

साहित्य की सामाजिक पक्षधरता के सवाल को प्राथमिकता देकर, मार्क्सवादी विचारदृष्टि साहित्य और साहित्यकार दोनों के नैतिक आधार को बल देती है, किन्तु ज्यों-ज्यों वह सामाजिकता पर **राजसत्ता** को वरीयता देती है और इसे **'सर्वहारा की निरंकुशता'** के नाम पर सत्ता

की निरंकुशता तक फैला देती है, '**व्यक्ति**' की अस्मिता के ही नहीं, सामाजिकता के अंत:स्रोत भी उससे छूटते जाते हैं और अंतत: हम पाते हैं कि समाज को राजसत्ता के आतंक से बचा पाने का उसके पास भी लगभग प्रार्थना या कल्पना के ही स्तर का प्रावधान बचा रह जाता है कि **'होते-होते कभी एक दिन ऐसा आयेगा, जब मनुष्य पूर्णरूप से स्वतन्त्र होगा।'**

मनुष्य की सम्पूर्ण मुक्ति की परिकल्पना में महामना **मार्क्स** भविष्य में कम, महाभारत-काल के धर्मराज्य की परिकल्पना में ज्यादा शरण खोजते दिखाई देते हैं, तो इसीलिए कि '**कम्यूनिज्म**' के जिस प्रथम चरण का नक्शा उन्होंने बनाया है, वह उसे मानवमुक्ति के अगले किन्हीं काल्पनिक चरणों में कम, '**तानाशाही के पूर्वानुभूत मुकामों**' पर ज्यादा ले जायेगा, इसका अहसास, शायद, स्वयं **मार्क्स** को ही हो गया। '**राजसत्ता के द्वारा खुद के विकेन्द्रीकरण की गुंजाइशें**' देखना, उसे बहुत सही आँकना नहीं है। क्योंकि राजसत्ता खुद '**किसी विचार-दर्शन के अनुसार चलने**' की जगह 'विचार-दर्शन को अपने अनुसार चलाने' को ज्यादा अहमियत देती है। मार्क्सवाद इसका अपवाद नहीं और यही वह मुकाम है, जहाँ **मार्क्सवाद** को पड़ताल या कि प्रतिवाद से परे माने जाने की मुहिम शुरू होती है।

हिन्दी साहित्य में मार्क्सवादी नजरिये की संकीर्णता तब शुरू हुई, जब हिन्दी के **अवसरवादी लेखकों ने भारतीय कम्यूनिस्ट पार्टी की रूस-चीन परिचालित नीतियों के कीर्त्तन और पार्टी-अनुगमन को ही प्रगतिशील लेखक होने की बुनियादी शर्त बना दिया। तब इस आइडियालॉजिकल प्रतिबद्धता वाले नजरिये का मुख्य सरोकार सृजनात्मक लेखन नहीं रह गया, साहित्य और साहित्यकार का पार्टी-अनुगमन बन गया।** अपने इस अध:पतन में से यह खेमा साहित्य के सृजनात्मक उत्सों और मूल्यों के प्रति कठमुल्लेपन, लेकिन लेखक की आचरणगत-भ्रष्टता के प्रति परम उदारता की नीति बरतने का आदी होता गया और कालान्तर

में अपने आस-पास के लोगों को पागल, मूर्ख और गधा घोषित करने वाले प्रतिक्रियावादी लेखकों तक पर जनवादी साहित्यकार होने की मुहर लगाने में मुस्तैदी बरतने लगा।

साहित्य में कला और विचार की, अस्मिता की स्वतन्त्रता के प्रश्न को चूल पर रखने में भी कहीं कोई दोष नहीं था, क्योंकि **'मनुष्य की अस्मिता'** की जब हम बात करते हैं, तो यह प्रेतात्मा की नहीं, जीवित मनुष्य की अस्मिता का ही प्रश्न हो सकता है और उसके आर्थिक-सामाजिक पहलुओं को दरकिनार करके सोचने-विचारने-लिखने की कोई अहमियत बनती नहीं है।—लेकिन मार्क्सवादी नजरिये वालों की तरह ही कला-संस्कृति-अस्मितावादी खेमे में भी अवसरवाद-पारंगतों की कोई कमी नहीं थी और ऐसे सारे कला-प्रयोग-संस्कृतिवादी लेखक-बुद्धिजीवी साहित्य, संस्कृति, कला और अस्मिता के सवालों को कुछ इस तरह, और इस शातिरपने के साथ, परिभाषित करते चले गये कि अब स्थिति यहाँ तक आ चुकी है कि संस्कृति और साहित्य के सारे सूत्र पूंजपतियों की उँगलियों में लिपटे पड़े हैं और मनुष्य की सनातन सामाजिक निधियाँ आज पूँजीपतियों के अनाचार को ढाँकने का आच्छादन बनकर रह गई हैं। कोई भी कालाबजारिया धूर्त दस-बीस-पचास हजार, लाख, दो लाख खर्च करके साहित्य और संस्कृति का संरक्षक होने का दावेदार बन सकता है और उसे यह सहूलियत इस देश देश की प्रकृति या परमात्मा ने नहीं बख्शी है। लुटेरों के संरक्षक दिखाई देने का यह सारा मायाजाल इस देश के लेखकों और बुद्धिजीवियों के हाथों बुना गया है। **जीविका के लिए नहीं, बल्कि अर्थलिप्सा और प्रचार-लोलुपता के चलते भारतीय लेखकों और बुद्धिजीवियों ने संस्कृति को धन्नासेठों की खरीद-फरोख्त की वस्तु बन जाने दिया है।** हिन्दी का कला-संस्कृतिवादी लेखक, यदि अपने इस अधःपतन को संस्कृति की पुनर्व्याख्याओं के द्वारा अँधेरे में किये रहना चाहता है, तो इसका सिर्फ एक रास्ता है—वह संस्कृति की व्याख्या में न जाय। पारम्परिक विरासत की व्याख्या में न जाय। क्योंकि

जितना वह संस्कृति की व्याख्या में जायेगा, उतना ही अपने छद्म और अध:पतन को बेपर्दा करता जायेगा, क्योंकि जैसे भाषा, तैसे ही संस्कृति भी वस्तुगत सचाइयों को उजागर करती जाती है।

साहित्य के क्षेत्र में घुटन और दूषित वातावरण के लिए सिर्फ आइडियालॉजिकल प्रतिबद्धता के पैरोकार ही जिम्मेदार नहीं। मार्क्सवादी एकांगिता से क्या कम घातक भूमिका कला-संस्कृतिवादी एकांगिता की है? साम्यवाद के विरुद्ध हमारा मुख्य आरोप मनुष्य की अंतश्चेतना और उसके अन्त:स्रोतों के नकार का बनता है, जिसके चलते व्यक्ति की मनस्विता के सवालों को या कूड़े के ढेर पर फेंके और या कालकोठरी में डाले जाने की वस्तु से ज्यादा अहमियत नहीं दी जाती। अब इस आइडियालॉजिकल नजरिये के विरुद्ध उतने ही एकांगी संस्कृति या कलावादी नजरिये की वकालत क्या रचना के क्षेत्र में एक दूसरे किस्म के नकारवाद को प्रश्रय देना नहीं होगा?

सृजनात्मकता का मूल स्रोत मनुष्य को उसकी समग्रता में देखना है। मनुष्य के सामाजिक-आर्थिक शोषण-उत्पीड़न के प्रश्नों को हाशिये पर की चीज बनाते चलना भी समग्रता का निषेध है। निषेध मार्क्सवादी हो या कलावादी, दोनों ही अपने स्वरूप में भिन्न होते भी, सृजनकर्म के लिए समान रूप से खतरनाक हैं। नदी जब संकरी होती जाती है, तो वेगवान होती जाती है। किन्तु जब संस्कृति संकरी होती है, तो बन्द गली का रूप अख्तियार करती जाती है और अंतत: उसमें उन लोगों का भी दम घुटने लगता है, जिन्होंने इसकी निर्मिति में अपनी मुक्ति खोजी होती है। ऐसे में, हम लोग जब घुटन की बात करें तो यह भी, शायद, देख लिया जाना चाहिये कि इसके लिये हम खुद कितने जिम्मेदार हैं। क्या यह प्रश्न सचमुच विचारणीय नहीं कि आखिर जानते-पहचानते भी लोगों का नाम लेते हम कतराते क्यों हैं? इतना ही नहीं, अपने छोर के सूत्रकारों पर आक्षेप आते ही विचलित होने लगते हैं और उनकी पड़ताल में हमें 'आत्मपुण्यात्मापन' का दलदल दिखाई देने लगता है।

मार्क्सवाद या कला-संस्कृतिवाद के पैरोकारों की पड़ताल के निमित्त (सार्वजनिक) शास्त्रार्थ में जाते समय, शायद, यह तथ्य दृष्टिगत रहना चाहिये कि फिलहाल इन दोनों की ही स्थिति भारतवर्ष में सिर्फ 'वैचारिक उपनिवेश' की है ।

इसका कारण है । राजनैतिक स्वतन्त्रता संस्कृति की स्वतन्त्रता नहीं हुआ करती । कालवाद या कि मार्क्सवाद, मनुष्य अथवा मानव समाज की समग्र परिकल्पना या कि अवधारणा इन दोनों में से किसी के पास नहीं । परिणामत: दोनों ही निषेधी हैं, क्योंकि अपने-अपने दुर्बलपक्ष का नकार दोनों में ही अत्यन्त सचेत और सुनियोजित स्तर पर है । भारत की समन्वयी मूल्य-दृष्टि से साबका पढ़ने पर दोनों ही गत्यावरोध के संकट से जूझने लगते हैं और पाते हैं कि विचार या मूल्य के स्तर पर हावी होना, यहाँ की जातीय मूल्य-दृष्टि का उच्छेद करके, शायद, सम्भव नहीं । स्वाभाविक ही, दोनों को अपना मुख्य आधार राजनीति में खोजना पड़ता है और एक पैसे की, दूसरा राजसत्ता की निरंकुशता का सहारा टोहता दिखाई पड़ता है, क्योंकि इन्हीं माध्यमों से इन दोनों वैचारिक उपनिवेशों की व्याप्ति का मार्ग प्रशस्त होता है ।

हिन्दी के साहित्यिक परिवेश में कलावाद और मार्क्सवाद की इस वैचारिक औपनिवेशिकता को नजरअंदाज कर देना आसन्न संकट को अनदेखा कर जाना होगा, क्योंकि इसकी हदें सिर्फ आर्थिक अथवा वैचारिक औपनिवेशिकता तक ही सीमित न रहकर राजनैतिक औपनिवेशिकता तक भी जा सकती हैं ।

साहित्य और विचार समाज पर आसन्न संकटों के निमित्त इतिहास-दर्पण का कार्य करते हैं और हम यदि दृष्टिवान हों, तो आगत को इसमें प्रतिबिम्बित देख सकते हैं । किसी भी देश पर, जब भी उसके जातीय स्रोतों के स्तर पर संकट आता है, तब सबसे पहले और सबसे अधिक उसकी मूल्यगत सम्पदा पर प्रहार होता है । हमारी जातीय दृष्टि के

समन्वयी होने ने इतिहास में यह कर दिखाया कि जो हममें समन्वित नहीं हो पाया, उसे अन्ततः यहाँ से निष्कृति ही झेलनी पड़ी। **कलावाद** या कि **मार्क्सवाद** को अपने में समन्वित करने की जगह, इन्हें यथावत् हावी होने देना, अपने जातीय आधार को क्षीण करना होगा। जैसी हमारी सामाजिक संरचना है, उसमें विचार के स्तर पर इनका हावी होना असम्भव है, लेकिन अपने-अपने आर्थिक संसाधनों और राजनैतिक सूत्रसंचालन के सहारे ये अपनी गिरफ्त को मजबूत करने में न तो चूके हैं, न चूकेंगे। अन्यथा भारत कोई ऐसा परम्परावंचना से ग्रस्त भूखण्ड नहीं है, जिसे कि विचार और साहित्य के क्षेत्र में **'दो में से किसी एक'** का मोहताज या कि अनुवर्ती होने की नियति से बचत न हो।

किसी भी विचार-दर्शन के निषेध नहीं, समन्वय में से अपने विचार और साहित्य की मुख्यधारा के प्रवाह को गतिमान बनाये रखने में ही हमारा हित है। जो अपने जातीय विचार और मूल्यों की, वह अपने समाज की मुख्यधारा से भी कट जाता है और आज जो धुर कलावादी या धुर मार्क्सवादी लेखकों को अपने पाँवों-तले जमीन नदारद मालूम पड़ रही है, यह औपनिवेशिक विचारदर्शन की अनुगतता के बूते अपनी मूर्तियाँ बड़ी करने की चतुरता की ही स्वाभाविक परिणति है। कलावाद के मुरीद अब संस्कृतिवाद के बहाने जातीय परम्परा से जुड़े होने का विभ्रम रचने की कोशिशों में जुट गये हैं। आगे-पीछे कोरे **मार्क्सवाद** के सहारे साहित्य में रहने का मुगालता पालनेवालों का भी यही होना है। क्योंकि जब लेखक अपने अनुभवों और संघर्षों के मूलधन में से नहीं, वैचारिक औपनिवेशिकता की उधारी के बूते साहित्य के क्षेत्र में अपना दखल बनाना चाहे, तब उसे, शायद, यह भूल नहीं जाना चाहिये कि विचार **'प्रदत्त'** की जुगाली में से नहीं, **'स्वायत्त'** के अवगाहन में से सम्भव होता है। लेखक यदि विचार के स्तर पर उपनिवेशी हो जाय, तब सृजन के स्तर पर जातीय रह जाने की कोई गुंजाइश नहीं होती और जातीय होने का सीधा अर्थ है कि लेखक के पास सिर्फ साम्प्रतिक जानकारियाँ ही

न हों, परम्परागत अनुभवों का साक्ष्य भी हो। और कहने की जरूरत नहीं कि यह परम्परागत अनुभवों का साक्ष्य नाम की चीज किसी भी लेखक के हिस्से सिर्फ तभी आती है, जब वह अपने सामाजिक संघर्ष में भी खरा उतर जाय। अपने संघर्ष में खरा लेखक ही विचार और सृजन में भी खरा होता है और संघर्ष की जड़ें जमीन में हों, तभी वह देर तक, और दूर तक टिकता है।

यहाँ इतने विवेचन में जाने की प्रासंगिकता सिर्फ इस नाते मानी जा सकी है कि सार्वजनिक शास्त्रार्थ में जाते समय यह वस्तुगत सत्य हमारे सामने रह सके कि जितना आइडियालॉजिकल, वातावरण में उससे कम घुटन और प्रदूषण **'कल्चरल'** कठमुल्लापन पैदा नहीं करता। इन दोनों ही खेमों का दलगत द्वन्द्व खुद इन्हें अंधी गली के आखिरी सिरे तक पहुँचा चुका है और फिर भी अपनी इस नियति को दूसरों पर लादने की मुहिम ये चलाये हुए हैं, तो सिर्फ इसलिये कि इनका साहित्य और समाज से कट चुका होना सबके सामने उजागर न हो। पड़ताल के प्रति जितने निषेधी और असहिष्णु आइडियालॉजिकल प्रतिबद्धता के नजरिये वाले लोग हैं, इससे कहीं कुछ ज्यादा ही कला-संस्कृतिवादी खेमे वाले। **'हुक्का-पानी बन्द'** के जातिवादी कठमुल्लेपन को साहित्य में चरितार्थ करने में इनका योगदान कम आँकना ठीक नहीं।

इस तरह के विवेचन से लग सकता है कि **कलावाद** तथा **मार्क्सवाद** की वैचारिक औपनिवेशिकता के सवाल को बहुत-से समकालीन लेखकों की उपलब्धियों के नकार के धरातल पर उठाया गया है। ऐसा है नहीं। सिर्फ इस ओर संकेत करना चाहा है कि **'आगे रास्ता बन्द है'** वाले मोड़ तक ये दोनों ही आचुके या नहीं, इतना देख लेने में कोई हर्ज, शायद, है नहीं।

प्रिय शाह, तुमने चूँकि **'सार्वजनिक शास्त्रार्थ'** की बात की, इसलिए इस ओर ध्यान दिलाने की कोशिश कि पड़ताल या शास्त्रार्थ में जाने की

कोई भी सार्थकता, शायद, सिर्फ तभी बनती है, जब वह मूल्यगत हो—व्यक्तिगत या दलगत नहीं। उपकृत होऊँगा यदि आइडियालॉजिकल प्रतिबद्धता पर अपनी टिप्पणी जल्दी भेज सको। 'जनपक्ष' मई तक में निकाल लेने का इरादा है।

अब तुम्हारे पत्र की कुछ उन पंक्तियों को लूँ, जिनमें तुमने बेबाक-तरीके से मेरे लिखे हुए में के गलत मुद्दों की ओर ध्यान दिलाया है और आभारी हूँ कि तुमने नाराज होकर मौन साध लेने की जगह, अपनी प्रतिक्रिया प्रकट की और संवाद का आधार बनाया।

कोई भी लेखक निष्कर्षों को दूसरों के विचारार्थ ही सामने रख सकता है, सर्वमान्य होने का तर्क देकर नहीं। सर्वमान्यता का तर्क तानाशाही का है, विचार का नहीं। **अज्ञेय** जी पर, या उनके साहित्य को लेकर जो कुछ लिखा, वह सिर्फ मेरी धारणाओं को प्रकट करता है और इसमें चूकें रह जाने की गुंजाइश से सहमत होने के नाते ही, इस प्रसंग में, दूसरों के विचारों को भी छापने के दायित्व को स्वीकार करता चला। तुमसे पहले **बटरोही** और डॉ० **चंद्रकांत बांदिवडेकर** ने आपत्तियाँ प्रकट की थीं, लेकिन अनुरोध किये जाने पर, दोनों ही कन्नी काट गये। यह मेरे लिये परितोष की बात है कि इस बार तुमने जो-कुछ लिख भेजा है, उसे व्यक्तिगत विचारों की संज्ञा देकर, छापे जाने का निषेध नहीं किया। तुम्हारे इन विचारों को छापना प्रसन्नता अर्जित करना होगा। इस तरह की वैचारिक प्रतिक्रियायें विवेचन को एक संतुलन देती हैं।

तुम्हारे इस पत्र की कुछ पंक्तियाँ उद्धृत कर रहा हूँ।

'तुमने जो पत्र **मनोहरश्याम जोशी** को लिखा है, उस पर मैं लगातार सोचता रहा हूँ। समाज के साहित्य-विमुख होने की बात को लेकर जो तुमने लिखा कि 'वास्तविकता सिर्फ इतनी है कि समाज-विमुख लेखक को न भारतीय समाज स्थान दे सकता है, न अन्य कोई समाज'—मैं समझता हूँ यह वास्तविकता को बड़ा ही सरलीकृत कर देना है। मैं

तुम्हारे ही विचारों में से उद्धृत करके, बता सकता हूँ कि इस साहित्य-विमुखता की पीड़ा तुम्हें भी अपने ढंग से कोंचती रही है और अन्यत्र भी तुमने उसे नुकीले ढंग से परिभाषित भी किया है। चूँकि **अज्ञेय** ने और दूसरी बातों के बीच यह बात भी कही और चूँकि तुम्हारी यह पक्की धारणा बन गई है कि **अज्ञेय** का साहित्य और समाज-विमुखता तो पर्यायवाची हैं, अतः तुमने उसे इस रूप में लिया। वरना ऐसे लोग भी हो सकते हैं और हैं जिनका काम एक गहरे अंतरात्मिक स्तर पर अपने समाज का ऋणशोध ही रहा है और जो **अज्ञेय** की उक्त चिंता को किसी तरह भी उस लाइट में नहीं ले सकते, जिसमें तुमने लिया है। तिस पर तुम जातीय स्मृति का तर्क देकर बड़े-बड़े नामों से जो यह कह रहे हो कि कहाँ वे और कहाँ **अज्ञेय**—तो भाई, ऐसी तुलना का यहाँ क्या प्रयोजन है! और इतनी अतिव्याप्ति में तो जो समस्या मुँह बाये खड़ी है—उसी की धार कुंद हो जाती है।'—**शाह के पत्र का एक अंश।**

इस संदर्भ में दोहरा देना चाहूँगा कि समाजविमुखता **अज्ञेय** जी में लेखन के स्तर पर भी प्रभूत है, आचरण के स्तर पर भी और इन दरारों को ढाँकने का उद्यम सिर्फ अनुगतों ने ही नहीं, स्वयं **अज्ञेय** जी ने भी काफी किया है। उनकी यह समाजविमुखता वहाँ भी साफ-साफ प्रकट है, जहाँ उन्होंने समाज के पक्ष में दिख सकने की भरपूर चेष्टाएँ की हैं। ऐसा है, शाह, कि सामाजिकता पर व्यक्तिगतता को वरीयता देना भी समाजविमुख होना है और समाज के विपक्ष में लिखना ही नहीं, **सामाजिक शोषण-उत्पीड़न के प्रति चुप्पी साधे रखना भी समाजविमुख होना है।**

तुमने मेरी ओर भी संकेत किया है। इस संदर्भ में कहना है कि समाज के साहित्य-विमुख होने की पीड़ा यदि मेरे विचारों में समाज को लांछित करने के तौर पर व्यक्त हुई है, समाज को अशिक्षा (अथवा कुशिक्षा) का आखेट बनाने वाली समाजद्रोही व्यवस्थाओं का कहीं और उसमें जिक्र नहीं, जो समाज को साहित्य के प्रति उदासीन बनाती है

तो स्पष्ट है कि ऐसे विचार सिर्फ मेरे मतिभ्रम के प्रमाण होंगे। एक लेखक को चरम आक्रोश के क्षणों में भी दृष्टि को सम्यक् बनाये रखने का विवेक अर्जित करना होता है। ऐसा कर पाने पर ही वह ठीक-ठीक देख सकता है कि समाज में व्याप्त कुशिक्षा और कुरीतियों के वास्तविक स्रोत कहाँ हैं। हमारा समाज सैकड़ों वर्षों की दासता से गुजरता और समय-समय पर सामन्तों, शहंशाहों, साम्राज्यवादियों तथा (राजनैतिक स्वातन्त्र्य के बाद) पूंजीवाद-सत्तावाद के सूत्रकारों के द्वारा निरन्तर शोषित, उत्पीड़ित तथा दिग्भ्रमित किया जाता रहा समाज है और यह समाज की अंतरात्मिक शक्ति ही है कि इस सबके बावजूद यह पूरी तरह मूल्यच्युत नहीं हुआ है। साहित्य की वैसी परम्परा हमारे यहाँ नहीं बन पाई, जैसी योरोप में, इसका कारण यह भी है कि हमारे धर्म और दर्शन के ग्रन्थों तक में साहित्य का भरपूर समावेश रहा है और उसका विवेचन कोरे कलावादी मानदण्डों से नहीं किया जा सकता, क्योंकि वह कोरी बौद्धिक उपज नहीं। वह रूपवादी नहीं, मूल्य-प्रधान है। **पूंजीवाद** हो या **मार्क्सवाद** हो या **सर्वसत्तावाद**, अपनी जड़ें यहाँ जमाते प्रत्येक का वास्ता गत्यावरोधकों से पड़ता रहा है और तय है, ये गत्यावरोध यहाँ की सामाजिक संरचना में से प्रकट होते हैं, हवा से से नहीं। यों समाज इरादतन साहित्य-विमुख लगे, तो भी विकल्प में अपने समाज-विमुख होने का तर्क या औचित्य गढ़ने से लेखक को बचना चाहिए।

समाज में साहित्य के प्रति व्याप्त उदासीनता और अवज्ञा की गहरी पड़ताल में जाने पर हम इसके वास्तविक कारणों को टोह सकते हैं। इस निष्कर्ष तक पहुँच सकते हैं कि साहित्यविमुखता हमारा सामाजिक चरित्र या स्वभाव नहीं। यह बात दीगर है कि साहित्य की योरोपीय अव-धारणा से हम बेखबर हों। जिसे **अज्ञेय** जी और **निर्मल वर्मा** इकहरी चेतना का साहित्य कहते हैं, वह शिल्प या बिम्ब या रूप के स्तर पर संश्लिष्ट चाहे न हो, लेकिन मूल्य के स्तर पर समग्र हो सकने की दृष्टि

उसकी रही है। जहाँ-जहाँ, जिस-जिस तक भारतीय वाङ्मय की पैठ रही है, मनुष्य और समाज को एक मूल्यदृष्टि उसने निश्चित ही दी है और इस दृष्टि से मनुष्य और समाज के प्रति उसका अवदान योरोपीय साहित्य से कमतर नहीं।

हम स्थितियों के विवेचन में जायें, तभी यह जान सकेंगे कि हमें इस गहरे संकट, आत्म-विस्थापन के इस दलदल में धकेलने वाले हाथ इतने अज्ञेय या अदृश्य नहीं है। प्रारम्भ में जो संस्कृति के विवेचन की बात उठाई गयी कि ऐसा करने में निमित्त की पड़ताल मुख्य होनी चाहिये इसी सिलसिले में यहाँ किंचित अवांतर होते भी, यह कहना जरूरी लग रहा है कि अपसंस्कृति के प्रतिकार से विमुख रहकर संस्कृति की व्याख्या करना शुद्ध पाखण्ड है। यह सही मायने में संस्कृति का व्यवसाय करना है कि अपसंस्कृति की दुकानें तुम्हारे जिम्मे, संस्कृति की हमारे! जो अपसंस्कृति का विरोधी न हो, उसका संस्कृति-प्रेम सिर्फ छद्म होगा। हमारे कला-संस्कृतिवादी लेखकों के छद्म का ही करिश्मा है कि आज साहित्य और समाज के बीच इतना अंतराल आ चुका है। कदाचित् मैंने समाज की साहित्य-विमुखता की पीड़ा को अपने विचारों में व्यक्त करते समय, अशिक्षा और अपसंस्कृति के द्वारा समाज के दिग्भ्रमित किये गये होने के सवाल को नजरअंदाज कर दिया है, तो यह निश्चित ही विचारहीनता का सूचक है। तुम्हें चाहिए था कि इस तरह के विचारों को दोटूक उद्धृत करते। अब भी भेजो। अपने खोट को छिपाने में नहीं, उजागर होने देने में हित है। लगता है, तुम मित्रतावश (**'बुनियादी नम्रता'**) में लिहाज कर गये अन्यथा सूरदास की यह पंक्ति तो तुम्हें भी जरूर याद होगी कि— **खेलत में को काको गुसैंया !**

अब तुम्हें एक प्रसंग की याद दिलाना चाहता हूँ। अज्ञेय जी ने किसी कांवेन्ट के बच्चों के द्वारा उन्हें **'एइ हेमिंग्वे' ! एइ हेमिंग्वे !'** संबोधित किये जाने का जिक्र किया है और इस बात पर क्षोभ प्रकट

किया है कि इस देश के छात्र उन्हें हेमिंग्वे के रूप में तो पहचान सकते हैं, लेकिन अज्ञेय के रूप में नहीं। अपने इस परिताप को अज्ञेय जी यहाँ तक खींच ले गये हैं कि उन्होंने साफ-साफ लिख दिया कि **जैसा समाज होता है, वैसा ही साहित्य उसे मिलता है और जो समाज लेखक की चिन्ता नहीं करता, लेखक ही क्यों उस समाज की चिन्ता करे ?**

किसी कांवेन्ट के लड़कों-द्वारा न पहचाना जाना पूरे समाज के द्वारा न पहचाना जाना नहीं, इतना अज्ञेय जी भी जानते हैं और यह भी कि भारतीय समाज में उन्हें प्रतिष्ठित मूर्द्धन्य लेखक के रूप में पहचानने वाले लोग दस-पाँच नहीं, हजारों-लाखों में हैं। लेकिन चूँकि अभी भारतीय समाज ने उनको उतना कहाँ माना है, जितना अमरीकी समाज ने **हेमिंग्वे**, ब्रितानी समाज ने **शेक्सपीयर**, फ्रांसीसी समाज ने **सार्त्र** और **पिकासो** को याकि जितना खुद भारतीय समाज ने **वेदव्यास, वाल्मीकि, कालिदास, सूरदास, तुलसीदास** वगैरह को, इसलिये भारतीय समाज के प्रति उन्हें दयाभाव से कहना पड़ा है कि—जैसा समाज होता है। यहाँ तुम्हारे निष्प्रयोजन कह देने के बावजूद, मैं फिर तुलसीदास का नाम लेना चाहता हूँ क्योंकि जितनी फजीहतों से **तुलसीदास** को गुजरना पड़ा है, शायद अन्य किसी भारतीय साहित्यकार को नहीं। **'मानस'** में खलवन्दना का क्षेपक इसका प्रमाण है और भारतीय समाज के जितने बड़े शुभैषी **तुलसीदास** हैं, यह भी अन्यत्र दुर्लभ है, तो इसकी जरूर कोई वजह रही होगी। शायद, **तुलसीदास** जानते थे कि कुछ खलों के द्वारा लूटा-पीटा-अपमानित किया जाना समाज-द्वारा लूटा-पीटा जाना नहीं है और यह भी कि **जो समाज की चिन्ता करेगा, उसके दुःख-सुख और संघर्ष से जुड़ेगा, वही बड़ी रचना करेगा।**

समाज की सिर्फ ऊपरी सतहों का द्रष्टा होना अज्ञेय जी को समाज के प्रति शंकित और चौकन्ना किये रहता है, अन्यथा कोई कल्पना भी कर सकता है कि **'सर्वकालीन से तत्कालीन तक यकसाँ याचित, यथागत अस्तित्व और तथागत तत्व की विलक्षण संयुति, चिरंतन और अधुना-**

तन का संयुक्त द्रष्टा, अमरीकी विश्वविद्यालयों से लेकर हाइडेलबर्ग यूनीवर्सिटी तक भारत की काल-संकल्पना का मौलिक व्याख्याता और आज के दिशाहारा युग में सांस्कृतिक मूल्यों का अटल ध्रुव लिए खड़ा'[१] साहित्यकार इतनी बचकानी बातें लिख सकता है।

तुमने कभी यह सोचने की कोशिश की कि **पिकासो-हेमिंग्वे-सार्त्र** से लेकर भारतीय ऋषियों तक के कल्पना-बिम्ब **अज्ञेय** जी की चेतना पर इतने हावी क्यों रहते हैं ? कांवेन्ट के लड़कों ने उन्हें '**एइ हेमिंग्वे** !' सम्बोधित किया, तो कुछ समरूपता दिखने पर ही तो ? तुम्हें यह जिज्ञासा क्या सचमुच कभी नहीं हुई कि भाषा ही नहीं, भूषा के स्तर पर भी आखिर इतने अलग-अलग '**स्वरूप**' क्यों धारण करते रहते हैं **अज्ञेय जी** ? **पिकासो व हेमिंग्वे-सार्त्र-स्वरूप** वेशभूषा में तुमने **अज्ञेय** जी को कई बार देखा होगा, लेकिन कसया वाले आत्माभिषेक में उनका ऋषि-रूप देखने से वंचित ही रह गये तुम !

यहाँ इलाहाबाद में कई लोग स्वरूप-धारण का ही पेशा करते हैं और इसी से जीविका चलाते हैं, लेकिन वो खुद के **राम-कृष्ण-शिव**-तुल्य होने का विभ्रम नहीं रचते, जबकि **अज्ञेय** जी रचते हैं और इसके लिये सिर्फ वेश-भूषा की ही नहीं, भाषा, विचार और आचरण की भी समस्वरूपता का आश्रय लेते हैं और इस सबके पीछे उनकी सिर्फ यह प्रतिष्ठावुभुक्षा काम कर रही होती है कि उन्हें इतना जाना, इतना माना जाय कि इसके सामने **सार्त्र-पिकासो-हेमिंग्वे** या कि भारतीय महर्षियों-मनीषियों का माना जाना फीका पड़ जाय। अपनी इस आत्मवुभुक्षा में **अज्ञेय** जी न जाने किस-किस की मुद्रा धारण करते और न जाने किस-किस के विचार और आविष्कार का अपनी तरह से और अपने शब्दों में पुनर्सृजन करते रहते हैं, लेकिन अंततः इसी परिताप में

१—'नवनीत', अक्तूबर' ८० में अज्ञेय जी का परिचय।

रह जाते हैं कि नहीं, अभी नहीं सिद्ध हो पाया इन्द्रजाल ।

'तेन त्यक्तेन भुंजीथा:' लेख और **जगदीश** जी और **मनोहर** श्याम को लिखे गये पत्रों में **अज्ञेय** जी के इसी साहित्यिक पाखण्ड की पड़ताल की गई है, क्योंकि पाखण्ड बरतना भी समाजविमुख होना ही है, और इससे मूल्यों की क्षति होती है। समाजविमुख आचरण करने से कहीं ज्यादा गलत और क्षतिकारी होता है, अपने समाजविमुख लेखन और आचरण पर संस्कृति की मुहर लगाना ।

अंतरात्मिक स्तर पर सामाजिक होने का कोई मूल्य नहीं होता, जब तक कि व्यक्ति विचार और आचरण के स्तर पर भी न हो। माफ करना, तुम्हारा **'ऋणशोध'** शब्द उऋण हो सकने के विनय नहीं, बदला लौटाने की दर्पस्फीति का परिचायक ज्यादा प्रतीत होता है। समाज का ऋणशोधी होने का मुगालता ही **अज्ञेय** जी को समाज का प्रतिशोधी होने के कगार तक खींच ले गया है । अलबत्ता **अज्ञेय** जी की चिन्ता को जिस 'लाइट' में मैंने लिया है, दूसरों का न लेना आपत्ति-जनक नहीं, क्योंकि अन्यथा, इसी तर्क के तहत, मैं भी उन्हें उसी 'लाइट' में लेने को बाध्य हो जाऊँगा, जिसमें तुम लेते हो । अनेकों लेते हैं ।

तुम्हारी अगली बात से द्विविधाग्रस्त हो गया हूँ कि जातीय स्मृति का तर्क देते हुए बड़े-बड़े नामों के साथ **अज्ञेय** जी की तुलना करके देखने को तुमने निष्प्रयोजन किस अर्थ में माना है । क्या तुम सचमुच मानते हो कि ऐसा करना **अज्ञेय** जी के साथ ज्यादती करना है ? क्या सचमुच इतनी उनमें पात्रता ही नहीं कि जातीय स्मृति के संदर्भ में उनका नामोल्लेख भी किया जाय ? और क्या तुम बतलाओगे कि यदि साहित्य और संस्कृति के नहीं, तो अन्य किन क्षेत्रों के बड़े-बड़े नामों के साथ उनकी तुलना उचित होती ? और क्या तुम इतना भी नहीं मानोगे कि समस्या की धार व्याप्ति में जाने से ही नहीं, नकारात्मक संक्षिप्ति में जाने से भी कुंद होती है ?

तुम्हारे पत्र की अगली पंक्तियाँ हैं—'मुझे तुमसे यह सुनकर अचरज हुआ कि **अज्ञेय** जी की स्थिति अब इतिहास और परम्परा के साक्ष्यों से आक्रांत लेखक की है।···अव्वल तो यह एक फालतू बात है और गलत है। अदने से अदना लेखक भी इस तरह अपनी स्थिति बनाने के लिए या उसकी रक्षा करने के लिए नहीं लिखता। फिर **अज्ञेय** की क्या स्थिति है, चिन्तनीय तुम्हारे लिये यह क्यों है ? यह क्यों नहीं है कि हम सबकी क्या स्थिति है ? फिर सरकारी संस्थाओं के खतरेवाली बात पूँजीवादी संस्थानों के खतरे वाली बात से कटती नहीं और भी तीखी हो जाती है, यह तुम कैसे अनदेखा कर रहे हो ?'—**रमेशचन्द्र शाह**

शाह, चूँकि तुम स्वभाव से ही विनयी और संयत हो, इसलिए '**तुम्हारी**' की जगह '**हम सबकी**' लिखने की **बुनियादी विनम्रता** तुमने बरती है, लेकिन फिर इतना पूछ लेने की धृष्टता करना चाहूँगा कि यदि दूसरे की स्थिति को चिंतनीय न मानने, यानी उसकी पड़ताल में न जाने के तुम्हारे तर्क को मान लिया जाय, तब **अज्ञेय** जी के प्रति मेरा लिखा ही तुम्हारे लिए चिन्तनीय क्यों बन गया ? और तब हिन्दी साहित्य में आइडियालॉजिकल प्रतिबद्धता वाले नजरिये के लोगों के द्वारा बरती जा रही तानाशाही की स्थिति की ही चिन्ता हमें (यानी तुम्हें) क्यों इतना सताये कि उस पर सार्वजनिक शास्त्रार्थ की जरूरत महसूस होने लगे ? और कि तब समाज में चोर-डाकुओं की ही स्थिति चिन्तनीय क्यों रह जाय, जबकि '**सिर्फ अपनी स्थिति से वास्ता**' रखने का तर्क मान्य दिखने लगे ? इसके बाद भी तुम्हें असहमति की गुंजाइश दिखे, तो कहूँगा कि जिस जल-थल और हवा से मेरा वास्ता है और जो कि कहीं-न-कहीं अस्तित्व का प्रश्न भी है। तुम कह सकते हो कि इसी जल-थल-हवा में तुम भी हो और तुम्हें कोई आपत्ति **अज्ञेय** जी को लेकर कभी अनुभव नहीं हुई—तब मैं कहूँगा कि तुमने अपने को साध लिया है। तुम '**सगोत्री**' हो चुके हो।

अज्ञेय जी के इतिहास और परम्परा के साक्ष्यों से आक्रांत होने की बात सुनकर तुम्हें यदि अचरज हुआ, तो स्वाभाविक है। अक्सर अपनी ही जानकारी तक सीमित बात जब दूसरों से सुनने को मिल जाती है, तो सचमुच आश्चर्य होता है। यदि तुम मेरे उक्त कथन में सार न देखते, तो यह लिख बैठने की चूक कदापि नहीं करते कि **अज्ञेय** जी की स्थिति मेरे लिए चिन्तनीय क्यों हो। कितना ही बड़ा भाषाविद हो, जब भी वह भाषा का प्रयोग तथ्यों और वास्तविकता के नकार के लिये करे, उससे चूक होना निश्चित है।

तुमने मेरे निष्कर्षों को गलत और फालतू पाया और कहा, उसमें कहीं कुछ गलत नहीं, क्योंकि तुम्हें यदि लगा कि **अज्ञेय** जी के बारे में गलत बातें कही गयी हैं, तो इसकी चिन्ता तुम्हारा दायित्व बन गई। गलत बातों का यदि प्रतिकार न किया जाय, तो उन्हें बढ़ावा मिलता है। लेकिन तुमने **अज्ञेय** जी की पड़ताल में ही न जाने का तर्क गढ़ा, यह गलत किया। मेरी स्थिति **अज्ञेय** जी से बहुत कमतर है, लेकिन इससे यह तय नहीं हो जाता कि **अज्ञेय** जी की पड़ताल का अधिकार मुझे नहीं। इस तर्क के तहत तो फिर आलोचना का अस्तित्व ही संकट में पड़ जायेगा। तब किसी भी आलोचक के लिए किसी लेखक की साहित्य में क्या स्थिति है, यह चिन्तनीय क्यों हो ? और चिन्तनीयता खत्म मान लिए जाने पर, वह किसी लेखक के साहित्य के विवेचन में जाने की चिंता ही क्यों करे ?

जिसके द्वारा—या जिसके बारे में—दावेदारी बरती जाय, उसकी पड़ताल न किये जाने के प्रति आग्रही होना ही इस बात का सूचक होता है कि प्रतिमान या मानक बनाये गये व्यक्ति (या वस्तु) में खोट है और चूंकि इसे दावेदारी बरतने वाले स्वयं बखूबी जानते हैं, इसलिये निषेध करते हैं। **जिस प्रतिमा की पड़ताल से परहेज बरता जाना हो, उसे सार्वजनिक पूजा के निमित्त प्रतिष्ठित नहीं किया जाना चाहिये, क्योंकि प्रतिमा की पोल सिर्फ 'पड़ताल' से ही नहीं खुलती,**

'अभिषेक' से भी खुलती है। कसया में हुआ **'पवित्र जलाभिषेक'** इसका सटीक उदाहरण है।

रह गई अदने से अदना लेखक के द्वारा भी अपनी स्थिति को बनाने या उसकी रक्षा की चिन्ता न करने की बात। आश्चर्य है कि यह बात तुमने लिखी है और इतने दावे के साथ!

तुम्हारे इस तर्क से तो खुद **अज्ञेय** जी ही सहमत नहीं हो पायेंगे। जो व्यक्ति साहित्य के क्षेत्र में अंगरक्षकों की टुकड़ियाँ तैनात करता आ रहा हो, उसके स्थिति-निरपेक्ष होने की बात सिर्फ हास्यास्पद हो सकती है। **अज्ञेय** जी **'स्थितप्रज्ञ'** नहीं, **'स्थितिप्रज्ञ'** हैं और उनका न जाने कितना वक्त अपनी स्थिति को बना और उसकी रक्षा कर सकने में ही बीता है। जिस व्यक्ति ने अपनी स्थिति-रक्षा की चिन्ता को अपने अनेकों अंगरक्षकों तक व्याप्त कर रखा हो, उसके बारे में यह कहना कि वह स्थिति की चिंताओं से परे है, इसलिए साहित्य में उसकी स्थिति की आलोचना करना फालतूपन का द्योतक है, यह सचमुच सिर्फ अद्भुत है। दूसरों की चिन्ता में जाना जरूरी नहीं कि अपनी चिन्ता में बने रहना ही हो। इस तर्क की परिणति एक ऐसी उदासीनता का आदी होते जाने में भी हो सकती है, जिसे हम प्रायः सिर्फ इस निमित्त धारण किये रहते हैं कि वह हमें एक खास तरह की सुरक्षा प्रदान करती है। अपने-अपने गिरोह में 'होने' की सुरक्षा। इस सुरक्षा को पाने और बनाये रहने की चिन्ता ही प्रायः अपने पक्ष के अगुआ की पड़ताल के प्रतिकार में ले जाती है।

रह गया सरकारी संस्थानों के खतरे का सवाल, मैंने उसे अनदेखा कत्तई नहीं किया है, जबकि **अज्ञेय** जी ने (और यहाँ तुमने भी) पूँजीवादी संस्थानों के खतरे को पूरी तरह अनदेखा किया है। **अज्ञेय** जी ने पूँजीवादी संस्थानों के खतरों को न सिर्फ यह कि अनदेखा किया है, बल्कि छिपाने की कोशिश की है और इसके इतने प्रभूत प्रमाण हैं कि शायद, खुद तुम माँगना नहीं चाहोगे।

सरकारी संरक्षण के खतरे के विरुद्ध लेखकों को सावधान करने का काम **अज्ञेय** जी और **महादेवी** जी के हाथों हो—यह करिश्मा भी सिर्फ हिन्दी साहित्य में ही घटित हो सकता है। इन लोगों का सरकार-विरोध वैचारिक संघर्ष नहीं, सौदेबाजी के स्तर पर होता है। और यह **अज्ञेय** जी भी जानते हैं, तुम भी और अन्य बहुत-से लेखक भी कि सरकारी संस्थानों के खतरे के विरुद्ध बिगुल फूंकने की जरूरत **अज्ञेय** जी को इसलिए नहीं आ पड़ी कि राजसत्ता के द्वारा लेखकों के विचार-स्वातन्त्र्य के हनन की चिंता उन्हें सालने लगी—बल्कि इसलिए कि **अशोक वाजपेयी** के दरबार का बड़ा होता जाना उन्हें कुंठित करने लगा। **अज्ञेय** जी-जैसे स्थिति-निरपेक्ष साहित्यकार को **अशोक वाजपेयी**-जैसे अफसर लेखक से भीति अनुभव हो, यह क्या सचमुच दुखद नहीं? जब जनता पार्टी की सरकार **अज्ञेय** जी को प्रेस आयोग का सदस्य बनाये, तब सरकारी संरक्षण का खतरा उत्पन्न नहीं होता, लेकिन जब इन्दिरा सरकार **अशोक वाजपेयी** को लेखकों में तकावी बाँटने का जिम्मा सौंपे, तब **'सरकारी संरक्षण का खतरा'** उत्पन्न हो जाता है—यह बात किसी भी विचारवान व्यक्ति के गले उतरनेवाली है नहीं, बन्धु!—और हिन्दी के लेखकों को विचार-स्वातन्त्र्य का खतरा सरकार की ओर से फिलहाल कतई नहीं है, क्योंकि विचार-स्वातन्त्र्य अस्मिता से पहले, कीमत वसूलने की चीज है हमारे लिए। हिन्दी के अधिकांश साम्प्रतिक मूर्द्धन्य खरीदे जाने की वस्तु हैं। खतरे में पड़ने की गुंजाइश ये रखते ही नहीं।

अंत में तुमने लिखा है—**'लेख का समापन तुमने जिस तरह किया है, मैं क्या कहूँ शैलेश, तुम्हारे-जैसे लोग भी अगर इस तरह सोचते हैं तो फिर भगवान ही मालिक है। आत्म-पुण्यात्मापन के जिस दलदल में आज साहित्य की दुनिया डाली जा रही है, उससे उबारने और उबरने के लिए लिए बुनियादी नम्रता और सहज विवेक की जरूरत है। मैं समझता था कि तुम उसका प्रतिनिधित्व करते हो पर तुम्हारा**

यह पत्र पढ़कर मुझे कुछ कहना ही नहीं आ रहा है। बहस नहीं करूँगा—क्योंकि उसका कोई अर्थ नहीं, पर इतना ही कहूँगा कि तुम मुझे गलत न समझो कि बिना इस दलदल को सुखाये या इससे सुरक्षित रहे, अब कोई विचार-बीज उग नहीं रह सकता। सकुशल नहीं रह सकता।'

प्यारे शाह! 'कुछ कहना नहीं आ रहा है।' कहकर ही तुम इतना कह गये हो कि लोहा मानना पड़ेगा।—लेकिन इससे बचत नहीं कि जो कुछ सोच-विचार मैंने अज्ञेय जी को लेकर व्यक्त किया, उसकी पूरी जिम्मेदारी मेरी है और इससे यदि आत्मपुण्यात्मापन के दलदल के निर्मित होने की स्थिति तुम्हें दिखाई पड़ी है, तो इसे मैं कैसे झुठला सकता हूँ? गनीमत है कि तुम इस तरह के दलदलों को पहचानते हो और इसलिये सुरक्षित रह सकते हो। ····· लेकिन क्या यह पूछ सकता हूँ कि 'आत्मपुण्यात्मापन' का यह दलदल तुम्हें अज्ञेय जी के बारे में मेरे लिखे हुए के अलावा और कहाँ-कहां दिखाई पडता है? याकि मात्र मेरे आत्मपुण्यात्मापन से ही इतना बड़ा दलदल तैयार हो गया है कि उसमें साहित्य की पूरी दुनिया ही डूब जाय? 'साहित्य की दुनिया' की आखिर तुम्हारी परिकल्पना कितनी बड़ी है, शाह? फिर सिर्फ तुम खुद ही इसके प्रति सावधान—और सुरक्षित—क्यों रहना चाहते हो, इस दलदल के बारे में विस्तार से बताकर अन्य साहित्यकारों को भी सावधान क्यों नहीं करते? साहित्यकार सबकी कुशल का आकांक्षी होता है, इतना तो तुम भी मानोगे। तुम्हारे कथन से ही यह सिद्ध है कि इस दलदल की पूरा-पूरी पहचान और पड़ताल तुम्हें है, क्योंकि इसको सुखाये बिना कोई विचार-बीज अब उग नहीं सकता, इतना तुम साफ-साफ देख रहे हो! तब क्या तुम आत्मपुण्यात्मापन के इस महादलदल का सिर्फ खुद ही द्रष्टा होने तक सीमित रहना चाहोगे? या कि इसे सुखा सकने के निमित्त भी कुछ करना चाहोगे? आत्मपुण्यात्मापन का दलदल

हो या व्यक्तिगत-दलगत निहित स्वार्थों का प्रदूषण, ये न प्राकृतिक प्रकोप से साहित्य में फैलते हैं और न दैवी प्रकोप से। इसके लिये हम लेखक ही जिम्मेदार होते हैं। **यदि मैं अकेला हूं तब ठीक है, लेकिन यदि कुछ अन्य भी हैं, तो क्या उनके नाम गिनाना चाहोगे ? और यदि नहीं तो, क्या सिर्फ इसलिये कि 'व्याप्ति' में पड़ने का कोई अर्थ नहीं होता ?**

जहाँ तक मैं समझता हूँ वैचारिक बहसों में जाने से ही समस्यायें सुलझेंगी, लेकिन जिन लोगों की सारी खेती ही समस्यायें उगाते जाने की है, वो बीज के उगने, न उगने, सकुशल रहने, न रहने की चिन्ता में क्यों जायेंगे ? बहस में पड़ने का कोई अर्थ न होने का तर्क यदि तथ्यों और वास्तविकता के नकार तक जाता हो, तब बात दूसरी है—अन्यथा बहस और संवाद में जाने और रहने से ही स्थितियों के वास्तविक संदर्भ और सूत्र हाथ लगते हैं और तब सिर्फ अंतरात्मिक स्तर पर ही समस्याओं के देखने-अनुभव करने तक सीमित होने की वेदना भी जाती रहती है, क्योंकि तब हमें पता होता है कि स्थितियों के प्रति जिम्मेदार लोग कौन हैं और कि हमें इस मुगालते में नहीं रहना है कि उनकी स्थिति हमारे लिये चितनीय क्यों हो। तुम्हारे कथन से इसका पूरा संकेत मिलता है कि दलदल निर्मित करने वालों को तुम बखूबी पहचानते हो, लेकिन इंगित, फिलहाल, सिर्फ मेरी ओर किया है तुमने। और मुझे मानना पड़ेगा कि पूरी-पूरी बुनियादी नम्रता के साथ।

मेरे प्रति तुम्हारा मोह-भंग हुआ, सो ठीक, लेकिन यह बताने का अनुग्रह करोगे कि क्या हिन्दी साहित्य में अज्ञेय जी के लिये बुनियादी नम्रता और सहज विवेक का विशेष प्रावधान रखा गया है ? और यदि नहीं, तो बुनियादी नम्रता की कमी तुम्हें उस टिप्पणी में क्यों नहीं खटकी, जिसमें आइडियालॉजिकल प्रतिबद्धता वाले नजरिये की कटु आलोचना की गयी ? मूल्यगत आलोचना और पड़ताल में व्यक्तिगत या

दलगत लगाव या दुराव के स्तर पर बातों को बरतना गलत है। बुनियादी नम्रता और सहज विवेक का बरता जाना बहुत जरूरी होता है, लेकिन ऐसे लोगों से साबका पड़ने पर इन्हें बरतना कठिन हो जाता है, जहाँ इन मानवीय गुणों की पहुँच खत्म हो चुकी हो। बहरे को जोर से चिल्लाकर पुकारने में उद्देश्य बुनियादी नम्रता या सहज विवेक का निषेध नहीं होता। **उद्देश्य होता है कि बहरा सुन सके।**···और यदि कदाचित न सुने, तो दूसरे लोगों को यह मालूम पड़ जाय कि वह 'वज्रबहरा' हो चुका और अब उसे 'शब्दों' में पुकारने का कोई अर्थ नहीं रह गया।···कभी-कभी इसका एक लाभ यह हो जाता है कि बहरे के साथ चलते लोग बहरे के बारे में कहे गये का जवाब दे देते हैं, चाहे वह सिर्फ इतना ही हो कि **'अरे साहब, आप क्यों फालतू इस तरह चिल्ला रहे हैं। जाइये, अपना काम देखिये।'**

साहित्य और आचरण में से उदाहरण देते हुए यह कहा गया था कि **अज्ञेय** जी पाखण्डी हैं। अब इसे बुनियादी नम्रता और सहज विवेक में कैसे कहा जायेगा, बतला सकोगे ?

'तेन त्यक्तेन भुंजीथाः' पढ़कर भाषा में शील के बरते जाने की बात डॉ० **वांदिवडेकर** ने भी उठाई थी, लेकिन इस समस्या का कोई निदान उन्होंने भी नहीं सुझाया कि भाषा में कोढ़ी को कुष्टरोगी कहने से अधिक शील बरते जाने की गुंजाइश है भी ?

भाषा के संदर्भ में द्रष्टव्य होता है कि वह किसके द्वारा, किसके प्रति और किस निमित्त बरती जा रही है। 'कालू ने लालू की हत्या कर दी' का निराकरण **'कालू जी ने लालू को भवसागर के बन्धनों से मुक्त कर दिया !'** की बुनियादी नम्रता में से नहीं, कालू के हत्यारा न होने को प्रमाणित करने पर ही सम्भव है।

तथ्यों के सन्दर्भ में मुख्य प्रश्न बुनियादी नम्रता के बरते या न बरते गये होने का नहीं, तथ्यों के गलत या सही होने का होता है। किसी व्यक्ति को हत्यारा कहा जाय, तो वहाँ बुनियादी नम्रता का सवाल

फालतू हो जायेगा और उसके विरुद्ध लिखी नामजद रपट '**आत्मपुण्यात्मापन**' में दर्ज करायी गयी होने के बहाने नहीं, तथ्यों के आधार पर ही निरस्त होगी। तुमने बुनियादी नम्रता, सहज विवेक और आत्मपुण्यात्मापन की शर्त कुछ इस लहजे में सामने रखी है कि उसकी धार कुंद हो गई है, क्योंकि तुम्हारे पत्र में यह शर्त **अज्ञेय** जी की पड़ताल के निषेध में बरती गयी है, मूल्यगत स्तर पर नहीं।

अज्ञेय जी के प्रति जो-कुछ लिखा, उनके विचारों को पढ़कर और उनके साहित्यक-सामाजिक आचरण को दृष्टिगत करके ही, इसलिए यदि उसमें '**बुनियादी नम्रता**' का अभाव कहीं दिखता हो, तो इसका कारण सिर्फ मेरा अविनम्र-अविवेकी नहीं, **अज्ञेय** जी का पाखंडी होना भी हो सकता है। संकट यह कि **अज्ञेय** जी असंवादी हैं और असंवादी, खासतौर से साहित्य और विचार के क्षेत्र में, वही व्यक्ति होता है, जो अपने गलत होने को बखूबी जानता है और इसके बावजूद गलत आचरण करना ही नहीं, बल्कि उस पर सही और श्रेष्ठ होने की मुहर लगाकर, उसे बाजार में चलाना चाहता है। **अज्ञेय** जी के पास संस्कृति से लेकर आधुनिकता, पुरातन से लेकर अद्यतन और राष्ट्रीय से लेकर अंतर्राष्ट्रीय स्तर तक की मुहरें मौजूद है, इसमें संशय नहीं।

यहाँ उनके पाखण्ड के कुछ उदाहरण पुनः दे रहा हूँ - साहित्य में से भी और आचरण में से भी। यह फिर दोहराना चाहता हूँ कि **अज्ञेय** जी सचमुच इतिहास और परम्परा के साक्ष्यों से आक्रांत लेखक हैं और आक्रांत व्यक्ति '**चीखता**' ही नहीं है—**रचता भी है**। **अज्ञेय** जी भी रचते हैं—**प्रतिविचार और प्रतिमूल्य**। मूल्यच्युत हो जाने पर भी, मूल्यवत्ता का संवाहक होने का छद्म।

'**सवत्सर**' तुमने जरूर पढ़ा होगा, जो व्यक्ति '**काल की वैसी संकल्पना**' सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय में न होने की दर्पस्फीत घोषणा कर सकता है, जैसी को वह खुद महाशय इन की काल-संकल्पना में से उड़ा लाया हो, उसे प्राच्य और पाश्चात्य संस्कृतियों का सेतु-शिल्पी कहने वाले

लोगों की यदि हिन्दी साहित्य में कमी नहीं है तो यह जितना हिन्दी साहित्य का, इससे कहीं बड़ा दुर्भाग्य खुद उन लोगों का है, जिन्होंने **अज्ञेय** जी की प्रतिमा का खोल इतना बड़ा बना दिया है कि उसे सँभालने में खुद **अज्ञेय** जी ही असमर्थ हैं।

कोई व्यक्ति यदि लंगोट को सिर पर बाँधे और लंगोट की जगह पर टोपी धारण किये सड़क पर चिल्लाने लगे कि **'वस्त्र धारण करने की ऐसी संकल्पना उससे पूर्व कोई नहीं कर पाया'** तो उसे पागल की जगह, अप्रतिम अन्वेषी की संज्ञा देने वाले लोगों का, शाह, सचमुच भगवान ही मालिक हो सकता है। काल की वैसी संकल्पना भारतीय वाङ्मय में नहीं, जैसी **अज्ञेय** जी ने की है, तो इसमें **'काल'** और भारतीय वाङ्मय दोनों का शायद हित ही है, लेकिन **'संवत्सर'** शब्द को शीर्षक बनाते हुए **अज्ञेय** जी को या तो कृतघ्नता नहीं बरतनी चाहिये थी, या ऐसे शीर्षक का आविष्कार कर लेना चाहिये था, जो उनकी काल-संकल्पना जितना ही अपूर्व होता। **संस्कृति की टोपी और आधुनिकता के लबादे में कोई भी व्यक्ति जितना कालवेत्ता दिखाई पड़ सकता है, उससे कम विदूषक नहीं।**

मित्र, प्रतिभा चाहे जितनी बड़ी हो, जब तक उसका परिप्रेक्ष्य बड़ा न हो, तब तक बड़ी रचना सम्भव नहीं, इस सच्चाई को **अज्ञेय** जी भी बखूबी जानते हैं और यह भी कि उनमें प्रतिभा चाहे जितनी बड़ी हो, उनके रचना-कर्म का न तो मंतव्य बड़ा है, न गंतव्य। **विचार, अनुभव और संवेदन की सीमाओं का अतिक्रमण कोरे शब्दों के इन्द्रजाल-द्वारा सम्भव नहीं होता,** यह भी **अज्ञेय** जी जानते हैं, लेकिन चूँकि अपनी प्रतिष्ठाबुभुक्षा पर उनका कोई नियन्त्रण नहीं, इसलिए इसके बावजूद अप्रतिम और अपूर्व रूप से बड़ा दिखना चाहते हैं, और इसी-लिये दूसरों के विचारों और आविष्कारों का अपने शब्दों में पुनर्सृजन

का उद्यम करते हैं और उजागर होते जाते हैं, क्योंकि आविष्कृत का पुनर्लेखन कितनी भी बड़ी प्रतिमा के द्वारा किया जाय, वह सृजन नहीं ही बन पाता। चूंकि अज्ञेय जी 'नकल' को पुनर्लेखन या पुनर्सृजन का पर्याय शायद नहीं मानते, इसलिये 'पेड़ों को बलि' घोषित कर चुकने के बावजूद वैचारिक पुनर्सृजन का उद्यम छोड़ते नहीं हैं। अपने सृजन से बहुत बड़ा दिखाई देने की हविश व्यक्ति को वस्तुगत के नकार में ले जाती है और यह नकार ही उसे तरह-तरह के 'मैन्यूपुलेशन' और छद्म में ले जाता है।

परम्परा और इतिहास में से तुलसीदास ने कम नहीं लिया—बल्कि शायद सबसे ज्यादा लिया—लेकिन उन्होंने 'नाना-पुराण-निगमागम सम्मत' होने को कोरे कागद पर लिखकर अपनी मौलिकता को और ज्यादा महान् बना लिया—'संवत्सर' का कालसंकल्पी महाशय इन से भी कहीं निम्नतर कालवेत्ता बनकर रह गया है, तो इसीलिये कि उसमें कृतज्ञता नहीं है। वह ज्ञान को 'अपने में से निस्सृत' दिखाने के प्रविड़ प्राणायाम में विचार को प्रतिविचार और मूल्य को प्रतिमूल्य से अति-क्रमित करने की कलाबाजी दिखाता और अपने छद्म तथा क्षरण को स्वयं ही उजागर करता जाता है।

ऊपर अज्ञेय जी को प्रतिमूल्यवादी कहा गया। हमारा परम्परागत साक्ष्य यह है कि लेखक अपने मौलिक अवदान में भी खुद को जितना नेपथ्य में रख सके—जैसे वेदों में—उतना ही महान होता है। मौलिक अवदान को भी अत्यन्त विनत भाव से ही लेने को अनिवार्य माना गया तो इसीलिए कि निरा व्यक्तिगत या मौलिक अवदान सिर्फ आदिम जाति के लोगों का भी मुश्किल से ही हो सकता है, क्योंकि 'अवदान' में सिर्फ दिया गया होने की प्रतीति ही नहीं निहित होती—पाये गये होने का स्वयं-सिद्ध साक्ष्य भी होता है।……लेकिन अज्ञेय जी को तो 'अपूर्व' होने की आत्मरति दबोचे बैठी है, इसलिए उनका तेवर यह है कि भारतीय वाङ्मय और महाशय इन तक को उनका कृतज्ञ होना चाहिये

कि काल की वैसी अपूर्व संकल्पना **अज्ञेय** जी ने दी। और कहने को तो यहाँ तक कहा जा सकता है कि काल की संकल्पना कोई जब भी करता है, तो व्यक्तिगत इस्तेमाल के लिये नहीं, **'दूसरों के निमित्त ही'** करता है और **अज्ञेय** जी के लिये **'दूसरे'** और **'समाज'** पर्यायवाची हैं ही।

दूसरों के विचार और अन्वेषण को भी दावे के साथ अपना बनाकर प्रस्तुत किया और इसका श्रेय लिया जा सकता है—इस प्रतिविचार-प्रतिमूल्य की परिणति इसमें भी होती है कि ऐसा किया जाना चाहिये। क्योंकि **अज्ञेय**-जी ने जब कहा कि **'आ, मेरे पीछे-पीछे आ।'** तो इसी में यह गुरुमन्त्र भी अंतर्निहित माना कि **' जैसे मैं प्रतिष्ठित हुआ, तू भी होगा।'**

'शाश्वती' में **अज्ञेय** जी ने कहा है कि **'किसी भी बड़े सत्य को कहने के लिये मुखौटे की आवश्यकता पड़ती है। मानव इतना बड़ा कहाँ है कि बिना मुखौटे के किसो बड़े सत्य को जबान पर ला सके।'**

सत्य को निराडम्बर-निष्कवच होकर ही कहा जा सकता है, इस परम्परागत विचार के समानान्तर अब अज्ञेय जी के इस **'प्रति-विचार'** को रखकर देखो, **शाह !** और देखो कि किस सफाई के साथ उन्होंने अपने मुखौटाधारी होने का औचित्य गढ़ लिया है। उनके इस कथन से लोगों को इन बातों को मान लेना चाहिए—(१) **यदि अज्ञेय जी ने कभी-कभी** (या कि हमेशा) **मुखौटा धारण किया, तो सिर्फ 'बड़े सत्यों' को कहने के निमित्त** ही। (२) **अज्ञेय जी जितने बड़े हैं, उनसे बड़ा मानव यदि हमें कहीं अन्यत्र दिखता है, तो यह सिर्फ हमारा भ्रम है, क्योंकि वैसा सम्भव हो नहीं है।** और कि इतिहास में जितने ऐसे महापुरुष हुए हैं, जिन्होंने बड़े-बड़े सत्यों का कथन किया, उनके भी हम सिर्फ मुखौटे ही देख पाये हैं। **और यदि हम उन्हें मुखौटाधारी मानने को तैयार नहीं, तो हमें यह मान लेना होगा कि उन्होंने कोई बड़ा सत्य कहा नहीं।** (३) **मानव जब भी किसी 'बड़े सत्य' को कहने की स्थिति में होता है, कहने से पहले वह मुखौटा खोजने और धारण करने में**

उजागर होते जाते हैं, क्योंकि आविष्कृत का
ी प्रतिभा के द्वारा किया जाय, वह सृजन नहीं
िय जी 'नकल' को पुनर्लेखन या पुनर्सृजन का
इसलिये 'पेड़ों को बलि' घोषित कर चुकने
र्जन का उद्यम छोड़ते नहीं हैं। अपने सृजन से
हविश व्यक्ति को वस्तुगत के नकार में ले
ो उसे तरह-तरह के 'मैन्यूपुलेशन' और छद्म

में से तुलसीदास ने कम नहीं लिया—बल्कि
ा—लेकिन उन्होंने 'नाना-पुराण-निगमागम
गद पर लिखकर अपनी मौलिकता को और
'संवत्सर' का कालसंकल्पी महाशय इन से
बनकर रह गया है, तो इसीलिये कि उसमें
को 'अपने में से निस्सृत' दिखाने के द्रविड़
तविचार और मूल्य को प्रतिमूल्य से अति-
दिखाता और अपने छद्म तथा क्षरण को
ा है।

मूल्यवादी कहा गया। हमारा परम्परागत
' मौलिक अवदान में भी खुद को जितना
' में—उतना ही महान होता है। मौलिक
भाव से ही लेने को अनिवार्य माना गया
ा या मौलिक अवदान सिर्फ आदिम जाति
हो सकता है, क्योंकि 'अवदान' में सिर्फ
नहीं निहित होती—पाये गये होने का
।……लेकिन अज्ञेय जी को तो 'अपूर्व'
है, इसलिए उनका तेवर यह है कि
' इन तक को उनका कृतज्ञ होना चाहिये

कि काल की वैसी अपूर्व संकल्पना अज्ञेय जी ने दी। और कहने को तो यहाँ तक कहा जा सकता है कि काल की संकल्पना कोई जब भी करता है, तो व्यक्तिगत इस्तेमाल के लिये नहीं, **'दूसरों के निमित्त ही'** करता है और **अज्ञेय** जी के लिये **'दूसरे'** और **'समाज'** पर्यायवाची हैं ही।

दूसरों के विचार और अन्वेषण को भी दावे के साथ अपना बनाकर प्रस्तुत किया और इसका श्रेय लिया जा सकता है—इस प्रतिविचार-प्रतिमूल्य की परिणति इसमें भी होती है कि ऐसा किया जाना चाहिये। क्योंकि **अज्ञेय**-जी ने जब कहा कि **'आ, मेरे पीछे-पीछे आ।'** तो इसी में यह गुरुमन्त्र भी अंतर्निहित माना कि ' जैसे मैं प्रतिष्ठित हुआ, तू भी होगा।'

'शाश्वती' में **अज्ञेय जी** ने कहा है कि **'किसी भी बड़े सत्य को कहने के लिये मुखौटे की आवश्यकता पड़ती है। मानव इतना बड़ा कहाँ है कि बिना मुखौटे के किसी बड़े सत्य को जबान पर ला सके।'**

सत्य को निराडम्बर-निष्कवच होकर ही कहा जा सकता है, इस परम्परागत विचार के समानान्तर अब अज्ञेय जी के इस **'प्रति-विचार'** को रखकर देखो, **शाह !** और देखो कि किस सफाई के साथ उन्होंने अपने मुखौटाधारी होने का औचित्य गढ़ लिया है। उनके इस कथन से लोगों को इन बातों को मान लेना चाहिए—(१) **यदि अज्ञेय जी ने कभी-कभी** (या कि हमेशा) **मुखौटा धारण किया, तो सिर्फ 'बड़े सत्यों' को कहने के निमित्त ही।** (२) **अज्ञेय जी जितने बड़े हैं, उनसे बड़ा मानव यदि हमें कहीं अन्यत्र दिखता है, तो यह सिर्फ हमारा भ्रम है, क्योंकि वैसा सम्भव ही नहीं है।** और कि इतिहास में जितने ऐसे महा-पुरुष हुए हैं, जिन्होंने बड़े-बड़े सत्यों का कथन किया, उनके भी हम सिर्फ मुखौटे ही देख पाये हैं। **और यदि हम उन्हें मुखौटाधारी मानने को तैयार नहीं, तो हमें यह मान लेना होगा कि उन्होंने कोई बड़ा सत्य कहा नहीं।** (३) **मानव जब भी किसी 'बड़े सत्य' को कहने की स्थिति में होता है, कहने से पहले वह मुखौटा खोजने और धारण करने में**

समय लगाने को बाध्य होता है।

गनीमत है, **अज्ञेय** जी ने यह नहीं कहा कि मुखौटे के साथ-साथ **'नकली जीभ'** भी धारण करनी पड़ती है। और कि **जिसका जितना बड़ा सत्य उतना ही बड़ा मुखौटा अथवा यों कह लें कि जितना बड़ा मुखौटा, उतना ही बड़ा** सत्य होगा !

बड़े-बड़े सत्यों के ऐसे अपूर्व और अप्रतिम प्रवक्ता-व्याख्याता को **'बुनियादी नम्रता'** और 'सहज विवेक' के तहत किन शब्दों में साधुवाद दिया जाय, यह तो, शाह, तुम ही ठीक-ठीक बता सकोगे न ?

अब आचरण के स्तर पर प्रतिमूल्य की बात ली जाय। तुम कहोगे कि बार-बार उलट-पुलटकर कसया का अभिषेक-वृतांत ही क्यों, तो इस संदर्भ में इतना ही कहूँगा कि कोई भी आचरण अपने में कोरा 'स्वायत्त' नहीं होता, उसके पूर्वापर संदर्भ और सूत्र होते हैं। साहित्य में प्रयोगवाद और जीवन में आरतीवाद की ही परिणति साहित्य में संस्कृतिवाद तथा आचरण में अभिषेकवाद में हुई है।

इस प्रसंग में याद आया कि तुमने अपने पिछले किसी पत्र में लिखा था कि आमंत्रित **विद्यानिवास** जी ने तुम्हें भी किया था, लेकिन तुम गये नहीं। अन्य बहुत-से लेखक भी हैं जो उस अभिषेक-समारोह को अशोभनीयता को आँकते हुए उसमें सम्मिलित नहीं हुए।—लेकिन जिन लोगों ने उक्त अभिषेक-समारोह की अशोभनीयता के बारे में स्पष्ट न लिखकर, **'परिस्थितिवश'** उसमें सम्मिलित न हो पाने का तर्क इस्तेमाल किया, उन सब लोगों ने समारोह में सम्मिलित होने वाले लेखकों की तुलना में ज्यादा गैर-ईमानदारी बरती। उन्होंने दोटूक क्यों नहीं कहा-लिखा कि इस तरह का आयोजन अनुचित और अशोभनीय होगा। यदि कल कहीं मेरे द्वारा (या निमित्त) डाका डाले जाने की कोई योजना बनाई जाय, तो उसमें **'परिस्थिति-वश'** सम्मिलित न हो पाने का तर्क गढ़ने वाले मेरे शुभचिन्तकों को क्या कहा जायेगा ?

दिल्ली गया था, तब **केदारनाथ सिंह** से भेंट हुई थी। **जगदीश** जी के नाम लिखा पत्र पढ़ चुके थे **'जनपक्ष'** में और उनका कहना था कि वह सारा समारोह कितना शर्मनाक हो गया था, इसका अंदाजा इस बात से लगाया जा सकता है कि परम अज्ञेयभक्त **लुठार लुत्से** तक को निहायत अफसोस के साथ कहना पड़ा कि—**'केदार जी, यह सब क्या तमाशा हो रहा है यहाँ ?'**

गैरिक वस्त्र, कांजीवरम् का उत्तरीय, चाँदी की थाली में रजतपत्र-मण्डित नारिकेल, अगरुधूम-अर्चना और वेदपाठ—**सारे बाहरी उपादन सांस्कृतिक, लेकिन आचरण संस्कृति-विमुख** ! हमारी संस्कृति के अनुसार मनुष्य के जीवन काल में सिर्फ तीन ही संस्कार मुख्य माने गये हैं—नामकरण, उपनयन-संस्कार और विवाह। चौथे को **अंतिम संस्कार'** कहा गया। (राज्याभिषेक को **'मानव-संस्कारों'** में नहीं गिनाया गया।)

और **'आत्माभिषेक'**, वह भी कवियों और मनीषियों के द्वारा ? चूंकि हमारा सांस्कृतिक मूल्य है, आत्मलिप्सा को त्यागते जाना, इस लिए **अज्ञेय** जी को **'प्रतिमूल्य'** रचना है और सिर्फ रचना ही नहीं है, उस पर संस्कृति की मुहर भी लगानी है।

अज्ञेय जी कई बार सचमुच **'अपूर्व'** ही करते हैं, लेकिन उनका अपूर्व होना श्रेयस्कर ही नहीं शर्मनाक भी हो जाता है, इस स्थिति की या तो **अज्ञेय** जी सचमुच चिंता नहीं करते हैं और या चिंता करने का जिम्मा उन लोगों पर छोड़ देते हैं, जो उन्हें समाज का ऋणशोधी होने की 'लाइट' में देखते हैं।

अज्ञेय जी को उस आत्माभिषेक के निमित्त जंजीरों में जकड़कर नहीं ले जाया गया था और उनको **'साहित्य तथा साहित्यकार की अस्मिता और स्वतंत्रता का प्रतिष्ठाता'** घोषित करके उनका मजाक मैंने नहीं उड़ाया था। ऐसे में यदि उनके आचरण को संस्कृति-विरोधी और समाज-विमुख कहा गया, तो उनके शुभ-चिन्तकों को बुनियादी नम्रता,

आत्मपुण्यात्मापन या कि आत्मालोचन और भाषा में शील के सवालों को उठाने की जगह, इस बुनियादी पड़ताल में जाना था कि क्या मेरा लिखा सचमुच गलत और फालतू है। **अज्ञेय** जी के आत्माभिषेक को संस्कृति-सम्मत सिद्ध कर देने-भर से ही सारे आरोपों का निराकरण हो गया होता, लेकिन, शायद ऐसा सम्भव है नहीं। संस्कृति कभी ऐसे मूल्यों को मान्यता नहीं देती, जिन्हें उसके ही विरुद्ध इस्तेमाल किया जा सके।

तुमने, शायद, इस दिशा में कभी सोच-विचार किया ही नहीं कि आखिर वह कौन-सी भीति है, जो **अज्ञेय** जी के अनुगतों (**बुनियादी नम्रता** में पीछे-पीछे जाते सहयात्रियों) को उनके अनुचित और अशोभनीय के प्रति भी चुप्पी साधे रखने को बाध्य करती है ? यही न कि यदि सच को कह दिया गया, तो बड़े सत्यों के मुखौटाधारी प्रवक्ता **अज्ञेय** जी बख्शेंगे नहीं ? क्योंकि जानते तो '**सत्य**' को वो खुद भी हैं। और **अज्ञेय** जी का तो सीधा-सा तर्क है कि जिसे वो सही और शोभनीय सिद्ध करने जा रहे हों, उसे वैसा मान लेने में जिसे आपत्ति हो, वह उनके पीछे-पीछे आये ही क्यों ?

अज्ञेय जी, जैसा कि मैं पहले ही लिख चुका, जितनी बड़ी प्रतिभा, उतनी ही बड़ी बिडम्बना भी हैं और विडम्बना सदैव ही चिंतनीय होती है। **अज्ञेय** जी की इस विडम्बना के प्रति सबसे पहले खुद उन्हें और फिर सहचरों को चिंतित रहना चाहिये था, लेकिन यदि ऐसा है नहीं, तो इसके दुष्परिणाम भी इन्हीं सबको भुगताने हैं—यह कह बैठना (कालांतर में ही सही) जितना बुनियादी नम्रता के अभाव का, उससे कम वास्तविकता का सूचक नहीं होगा।

ऐसा है, शाह, कि **अज्ञेय** जी को लेकर जो-कुछ लिखा, यह सोच-समझकर ही कि **अज्ञेय** जी हिन्दी साहित्य में सिर्फ एक 'व्यक्ति' नहीं हैं—एक प्रवृत्ति हैं, एक पक्ष हैं। और चूँकि व्यक्तिगत विद्वेष में नहीं लिखा, तार्किकता और वैचारिकता के किंचित आवेग में चाहे बहुत-कुछ लिखा हो, इसलिए सदैव इस बात के लिए प्रस्तुत रह सका कि उनके

पक्ष में जो-कुछ लिखा जाय, उसे भी जरूर छापा जाय, चाहे फिर उससे अपना गलत होना क्यों न प्रमाणित होता हो।

अज्ञेय जी में जितनी प्रतिभा, जितना अध्यवसाय है और उनके लेखन में गुणवत्ता—उसके प्रति मन में समादर है और रहेगा। जितना उनमें पाखण्ड दिखाई पड़ा, उसको बेलाग लिखा, तो इसलिए कि जितनी बड़ी प्रतिभा हो, उसके पाखण्ड से उतनी ही बड़ी क्षति होती है। दूसरे यह कि इसी बहाने बहुत-से साहित्यिक-वैचारिक मुद्दों पर बहस हो जाय। वाद-वादे जायते तत्त्वबोधः।

शेष तुम्हारा पत्र आने पर। सानन्द होंगे।

तुम्हारा—**शैलेश मटियानी**

• •

श्री शाह का पत्र

१६/४/१०८१

३/२ **प्रोफेसर्स फ्लैट्स, भोपाल**

प्रिय शैलेश,

परसों रजिस्टर्ड डाक से तुम्हारा पत्र मिला। तुमने अपने पत्र में एक ऐसी बात लिखी है, जो मेरे मर्म को कँपाती है। '**भीतिजीवी**' होने की बात। इसे और कोई इस तरह समझ ही नहीं सकता, जिस तरह मैं इसे अपने भीतर अनुभव कर रहा हूँ। कहीं गहरे एक त्रासद तादात्म्य की सिहरन है यह, जिसे बताना-खोलना भी भारी पड़े। यही वध्यता, यही निरीहता की अनुभूति अपनी भी बुनियादी जीवनानुभूति है। इसी से टटोल-टटोलकर जीना होता रहा है और तुम्हारी घुटन मेरे लिए कल्पना और तर्क से नहीं निरे स्नायुओं पर संवेद्य है, पर यह कहकर ही जैसे मैं बात को हल्का और सस्ता बनाये दे रहा हूँ।

नहीं जानता कब तक मैं तुम्हारे पत्र के साथ न्याय कर पाऊँगा। न्याय-व्याय की भी नहीं सोचता—जैसा भी उत्तर मुझसे बन पड़ता, मैं देता—इस तथ्य के बावजूद कि मैं अभी तक इस ढंग से इन ध्रुवों को लेकर—साहित्यिक दृश्य को उनके हिसाब से देखने और पूरी '**पोलं-मिक्स**' के तेवर में चीजों से निबटने की स्थिति में नहीं हूँ। एक मिजाज होता है इसके लिए, जो मुझमें नहीं है और न वैसी तत्परता और Presence of mind—पर अपने ढँग से, अपनी प्रेरणा से कुछ करने की जरूरत मैं जरूर महसूस करता हूँ और सार्वजनिक शास्त्रार्थ वाली बात इसी सिलसिले में उठी थी। हम कोई तर्कतीर्थ-वाग्मी नहीं हैं। तुम्हारे-हमारे लिए 'इमोशनली कन्विंस' होना भी उतना ही महत्व रखता है, जितना 'इन्टैलेक्चुअली' कन्विंस होना। बौद्धिक स्पष्टता तो स्पृहणीय है, पर भाव-संवेगात्मक स्पष्टता में से ही उसकी धार बनती है, हमारे ऐसे लोगों के लिए और यही कठिनाई है। जीवनानुभूति के उस समग्र में से वह न्याय-संवेदन उत्तीर्ण करने की, जो समन्वयबाजी के घपले और दलदल से ऊपर, उसके अस्तित्व और व्यक्तित्व, दोनों की सचाइयाँ एक तीखी परिभाषा में एकाग्र कर सके। मैं अपना संस्कार हूँ। मैं अपनी वह संवेदना भी हूँ, जो मुझे अपने संस्कार को भी बेधने को प्रेरित करती है। मैं एक नितांत अकेला व्यक्ति हूँ। मैं एक पूरा जनसमूह हूँ। मैं कुछ नहीं हूँ। मैं तुम्हारी तल्खी से तल्ख हो सकता हूं। मैं उस अंतरात्मा की पीड़ित विवेक-चेतना से स्वयं एकजान हो जाता हूँ, जो तुम्हारी उस तल्खी के पार कहीं छटपटाती मुझे दीख जाती है।

मैं तुम्हारी उत्तेजना और बौखलाहट तक को औरों की ठंडी मक्कार तर्कसंगतियों से ज्यादा मानवीय और मूल्यवान समझता हूँ। इस पुण्यात्मा समय में, जहाँ लेखक होने का मोल पूरी तरह चुकाने वाले लोग भी साँड़ों की तरह दागे जाकर ही अपना पहचान-पत्र हासिल कर पायें, ऐसी गलीज व्यवस्था—उस गलीज व्यवस्था की होड़

में ही मानोकायम की जा रही है। कुछ है, जो मुझे धोखा नहीं खाने देगा, शेखी नहीं बघारने देगा। तुमने मेरी बातों को जिस गम्भीरता से लिया है, वह मेरे लिए सर्वथा विचार योग्य है, महज एक तात्कालिक उत्तेजना से राहत पाने का निमित्त नहीं। कभी-न-कभी मैं अवश्य अपना मन तुम्हें लिखूँगा। जहाँ तुम अपनी भीतिजीवी अस्मिता के साथ मेरी भीतिजीवी अस्मिता का भी अर्थ पढ़ सको—फिलहाल इतना ही। तुमने इतना लम्बा पत्र लिखा, इतना दीर्घ मन्थन किया, मेरे निमित्त से—अच्छा-बुरा लगने से परे तुम्हारी बातों की उपयोगिता है।

तुम्हारा—रमेशचंद्र शाह

● ●

बौद्धिक रेजीमेंटेशन का प्रश्न

प्रिय मटियानी जी, ७, शाकुंतल, बांद्रा पूर्व, बम्बई

सादर नमस्कार ! १५ जून १९८०

आपका पत्न मिला । आपका पत्न और आपका लेख, दोनों को पढ़कर कुछ बातें मन में पैदा हुईं । आपकी आंतरिक ईमानदारी के प्रति और लेखक के रूप में विलक्षण सर्मापित भाव एवं निष्ठा के प्रति हिन्दी का बेवकूफ पाठक ही संदेह करेगा, लेकिन आपके सभी विचारों से सहमत होना कठिन है। इस संक्षिप्त पत्न में कुछ बातें लिखना चाहता हूँ ।

आपके विचारों में बौद्धिक असहमति की स्वीकृति है, परन्तु विचारों के प्रति असहमति दिखाने वाले व्यक्तियों के प्रति एक प्रकार का आवेग आपमें दिखाई पड़ता है । मैं समझता हूँ कि अगर आप वैचारिक असहमति को स्वीकार करते हैं, तो उसके साथ आने वाली सहिष्णुता को भी व्यक्तित्व में पचाना होगा और उसका प्रभाव लेखन की शैली में होगा ।

शील और शैली के निकट सम्बन्ध को मैं भी मानता हूँ। आप जानते हैं, एक समय जिन्होंने **मार्क्सवाद** को बौद्धिक और भावनात्मक स्तर पर स्वीकार किया था, वे **एम० एन० राय**-जैसे लोग व्यवहार में क्रांतिकारी रहे और अनेक जोखिमें उन्होंने झेलीं। परन्तु वे मार्क्सवाद से निराश हो गये—ऐसे बौद्धिकों की संख्या कम नहीं है। मैं मानता हूँ कि ऐसे लोगों को आप बूर्ज्वा कहकर, उनके वैचारिक बदलाव की उपेक्षा नहीं करेंगे। एक समय **लेनिन** को रहनुमा मानकर चलने वाले रूस-जैसे देश को भी **मार्क्सवाद** में निष्ठा रखने वाले लोग **'साम्राज्यवादी'** कह रहे हैं। **स्टालिन** की अवस्था रूस में ही क्या हुई, यह बताने की आवश्यकता नहीं है। क्या चीन में सही मार्क्सवादी विचार शेष रहा है ? मार्क्सवादियों में आपस में जो फूट-फुटव्वल है, वह क्या दर्शाता है ? यही न कि आखिर हम जिसको सैद्धान्तिक निष्ठा कहते हैं, वह भी पूर्णतः वस्तुनिष्ठ नहीं है। एक उदाहरण और लें। सामान्यतः लोग ईश्वरनिष्ठा और अनीश्वरवाद में बँटे हुए हैं। क्या आप ईश्वर में आस्था नहीं रखते तो आपको उन पर ताने कसने का अधिकार है, जो आस्तिक हैं ? आप जानते हैं कि प्रख्यात वैज्ञानिक **आइन्सटाइन** भी आस्तिक था और दुनिया में अधिकांश वैज्ञानिक ईश्वर या धर्म में आस्थावान हैं। मेरे कहने का तात्पर्य यही है कि आपके लेखकीय व्यक्तित्व में इतनी समाई होनी चाहिए कि दूसरों के अस्तित्व को भी (विचार भी अस्तित्व ही है) स्वीकार किया जावे। सर्जनशील साहित्यकार को तो अधिक सहिष्णु होना चाहिए, क्योंकि अनुभव के विभिन्न आयामों को वह इस सहिष्णुता और समावेश के अभाव में देख ही नहीं सकता। पीड़ा तभी तो पैदा होगी और रचनात्मक धरातल पर चढ़ेगी जब गहन तल में कहीं तनाव से—तनाव के लिए विरोधी स्थितियों का संघर्ष हो। जो भी पसन्द नहीं, उसको आप तुरन्त फेंक दें, काटकर टुकड़े कर दें, तो यह एक प्रकार का 'बौद्धिक रेजिमेंटेशन' नहीं है ? मैं अपनी राह के प्रति दुर्धर्ष श्रद्धा को स्वीकार कर सकता हूँ, लेकिन विरोधी को उखाड़कर

मिटा देने की आवेगमय प्रवृत्ति सर्जनशील साहित्यकार के लिए हानिकर समझता हूँ। क्या आप बता सकते हैं कि आज दुनिया में कौन-सा देश, कौन-सी पार्टी है, जो विशुद्ध वैचारिकता को सुरक्षित रख सकी है? इन्दिरा गांधी से वैयक्तिक स्तर पर विरोध करना और उसकी पार्टी को सत्ता पर पांच वर्षों की अवधि तक रहने देने की इच्छा अंर्तविरोध नहीं है?

यह केवल पत्र की पहुँच के रूप में।

मित्रता बनी रहे—दृढ़ हो।

आपका

चंद्रकांत बांदिवडेकर

●●

शील और शैली का निकट सम्बन्ध

प्रियवर चंद्रकांत जी, २७ जून ८०

आपका १५-६ का पत्र। मेरी ईमानदारी के प्रति जो असंशय आपने प्रकट किया प्रभु से प्रार्थना कि निभ सके।

असत् को अंधकार यों ही नहीं कहा गया है। असत् ही हमें आत्मभीति में ले जाता है और आत्मभीति ही अपनी पड़ताल के निषेध में। यदि हम असत् पर होने का निराकरण बुद्धिजीवी होने के नाते चातुरी से करने पर उतर आयें, तब अंत:करण का आधार छूटता जाता है। सत् हमें अपने अँधेरे में होने को जानने और असत् दूसरों को अँधेरे में रखने में प्रवृत्त करता है। तब कदाचित् हम ईमानदारी या कि सचाई बरतें, तो यह अपने को परिष्कृत करना ही होगा। दूर-दूर

तक और सही-सही तभी दिख सकता है, जब आँखों में धुंध न हो। असत् को जितना हम बरतते जाते हैं, उतना ही यह हमारी दृष्टि को भी बाधित करता जाता है और श्रुति को भी।

लेखक को '**द्रष्टा**' ही नहीं, '**श्रोता**' भी होना होता है। क्योंकि उसका देखना-सुनना खरा रहे, तभी उसका रचना भी खरा होता है। आपने अपने पत्र में असहमति के प्रति वैचारिक सहिष्णुता की बात उठाई है। इतना कहना है कि **हिन्दी के अधिकांश लेखकों के लिए निषेध और सहिष्णुता के बीच का बुनियादी फर्क ही समाप्त हो चुका है।** निषेध जब व्यक्ति में अपने, तभी दूसरों के प्रति भी होता है। अपने निषिद्ध पर दूसरे की आँख का पड़ना सचमुच तकलीफदेह होता है, लेकिन मुक्ति, शायद, दूसरों की दृष्टि के निषेध में नहीं, निषिद्ध के परित्याग में है। हमारा जिया अन्यत्र कहीं नहीं जाता, हममें ही संचित होता रहता है, इसलिए जो-कुछ निषिद्ध हो, उसे जीने से भी बचने का संघर्ष करना होता है, और रचने से भी।

अज्ञेय जी हों, या अन्य—मेरी चित्तवृत्ति तो साहित्यकार के सत्कार की है, नकार की नहीं। भाषा में शील और सौजन्य का परित्याग लेखक के नैतिक पतन का सूचक है, इसमें भी संशय नहीं, लेकिन '**भाषा**' सिर्फ अपने बाहरी खोल में ही नहीं, अंतर्भूत अर्थ में भी होती है और यह सचमुच परखे जाने की बात है कि भाषा में शील और सौजन्य के प्रश्न कहीं हमारे बौद्धिक कवच के कील-काँटों की शक्ल तो नहीं ले चुके।

बौद्धिक युयुत्सा से अभिप्रेरित होकर नहीं, अस्तित्व के संघर्ष में से गुजरते हुए ही वैचारिक बहस का जोखिम मोल लिया, तो यह जानकर ही कि हिन्दी जगत में आज जैसी मानसिकता व्याप्त है, संवाद को विवाद के रूप में देखे जाने से बचने की गुंजाइश है नहीं। इतना अनुभवों से जाना है कि आज के दमघोंटू और संघातक वातावरण के

लिए जिम्मेदार कौन लोग हैं। आपने भाषा-शैली में शील की बात उठाई है, लेकिन ये इतनी मोटी छाल के लोग हैं कि सात्विक भाषा की इन तक पहुँच ही नहीं। असम्बोध्यता का कवच धारण किये रहने की कला में ये निष्णात हैं। साहित्य में शील के तर्क को ये नैतिकता नहीं, बल्कि इस चालाकी के तहत बनाये हुए हैं कि संवाद का निषेध किया जा सके —क्योंकि छद्म विवाद से नहीं, संवाद में ढहता है।

इतना तो आप भी जानते होंगे, कोढ़ी को **'कुष्टरोगी'** कहने-लिखने-भर का शील ही भाषा में बरता जा सकता है, और मैं समझता हूँ, **'त्येन त्यक्तेन भुंजीथा:'** में यह शील सर्वत्र बरता गया है। ऐसे में देखना यह जरूरी है कि शीलविहीनता दरअसल है कहाँ—भाषा में, या कि जिस निमित्त भाषा बरती गई, वहाँ ? आप क्या सहमत न होंगे कि प्रश्नों के प्रति बहरा बनना भी शीलविहीन होना ही है ?

यों ही आवेश या आवेग में नहीं लिख दिया है, **अज्ञेय** जी को उनकी विमथगामी यायावरी के संघातक मोड़ों पर देखा है, तब लिखा है और अपने जाने स्वयं अज्ञेय जी के हित में और अपने समय के एक महत्वपूर्ण बुजुर्ग लेखक के प्रति अपना नैतिक दाय निभा पाने की चिन्ता में लिखा है।

हम अन्ततः सिर्फ अपने मंतव्य के प्रति असंशयी हो सकते हैं, दूसरों की प्रतिक्रिया के प्रति नहीं। इतना कह सकता हूँ कि आज जो **अज्ञेय** जी अशोभनीयता की हद तक अपने अभिनन्दन-अभिषेक में प्रवृत्त हैं और परम्परा-भंजक हो सकने के मुगालते में उन्होंने जिस तरह अपने स्वयं के नैतिक बोध का विध्वंस किया है, इसमें उनके पीछे-पीछे चलने वालों का योगदान कम नहीं है। **अज्ञेय** जी अत्यन्त महत्वपूर्ण लेखक हैं। हिन्दी में ऐसे लेखक अत्यन्त विरल हैं, जिनका वैचारिक लेखन बहस की दृष्टि से महत्वपूर्ण हो। अज्ञेय जी ने अपने जीवन को एक निरन्तर सोचने-विचारने वाले लेखक की तरह तपाया है। उनमें अपने समय

और साहित्य के प्रति गहरी संलग्नता और रागात्मकता भी है, लेकिन प्रतिष्ठाबुभुक्षा में उनके व्यक्तित्व का क्षय हुआ है।

अज्ञेय जी हिन्दी के उत्सर्गी लेखक हैं। उन्होंने अपने लगभग पचास वर्ष साहित्य के प्रति समर्पित किए हैं, साहित्य के नैतिक-वैचारिक पक्ष को रेखांकित करने का अनवरत उद्यम किया है और काव्य, कथा तथा विचार-साहित्य के क्षेत्र में उनकी उपलब्धियों को नकारा नहीं जा सकता। **अज्ञेय** जी की अवज्ञा करना सिर्फ अविवेक का परिचय देना होगा, लेकिन उनके व्यक्तित्व और लेखन में बहुत-कुछ ऐसा है, जो कवि-विवेक से वंचित है। **'शील और शैली के निकट सम्बन्ध'** के तर्क में उसे अनदेखा करना ठीक नहीं। सवाल यह भी कि आखिर शील और सहिष्णुता के तर्क के तहत हम जाना कहाँ चाहते हैं? मूल्यगत बहस में, या कि छद्म के अभिरक्षण में?

चूँकि बहैसियत एक लेखक **अज्ञेय** जी हमें सिर्फ सम्बोधित ही नहीं करते, दृष्टि-दिशा-निर्देशक और मूल्यों का **'प्रवक्ता'** ही नहीं, बल्कि **'प्रतिष्ठाता'** होने का दावा भी करते हैं—इसलिये उन्हें केन्द्र में रखकर विवेचन करना ज्यादा सार्थक होगा, ऐसा मानकर ही संवाद की कोशिश की गई। उद्देश्य था समकालीन हिन्दी साहित्यकार की यह पड़ताल कि अपनी परम्परा तथा सत्ता और समाज के साथ के ताल्लुकात में उसकी भूमिका क्या है।

क्या यह पड़ताल जरूरी नहीं कि आज हम लेखकों की कुल मिलाकर स्थिति क्या है? समाज और सत्ता, दोनों जगह आज हम अधिकांश लेखक यदि प्रासंगिकता ही खो चुके हैं, तो इसलिये नहीं कि हमारे समय का समाज ही साहित्य के प्रतिकूल हो चुका, जैसा कि **अज्ञेय** जी ने भी कहा है। निहित स्वार्थों की मार में, जान-बूझकर हमने स्वयं को समाज से अलगाया है, क्योंकि समाज के पक्ष में रहकर सत्ता और व्यवस्था को दुहना सम्भव नहीं हो पाता। आज हम अपनी पड़ताल किये जाने का निषेध करना चाहते हैं, तो सिर्फ इसलिए कि विपथगामी

होते गये हैं। लेखक का नैतिक चिन्ता से विमुख होना ही समाज-विमुख होना भी है, क्योंकि समाज की अवधारणा ही नैतिक बोध के 'अनेकों' के द्वारा स्वीकार में से बनती है। यह कारण है कि साहित्य 'एक' के नहीं '**अनेक**' के प्रश्नों में जाता है। और फिर इतना तो प्रत्येक लेखक को जानना चाहिए कि उसकी वास्तविक मुक्ति कहाँ है—व्यक्तिगत लोलुपताओं में या कि वैचारिक-नैतिक सामाजिक चिन्ता में।

अज्ञेय जी समाज के साहित्य-विमुख होने का बार-बार जिक्र करते रहे हैं, लेकिन अपने समाज-विमुख होने का नहीं। और इस चूक की पड़ताल में जाना सिर्फ उन्हीं लोगों के निकट शील और शैली की अन्योन्याश्रितता का परित्याग हो सकता है, जो विनय को चाटुकारिता से अलगाने में असमर्थ होते हैं।

विचार और नैतिकता को चक्रवर्ती सम्राटों की भी सत्ता-शक्ति से ऊपर रखने की लम्बी परम्परा वाले इस देश में आज यदि साहित्यकार सामान्य पत्रकारों से भी महत्वहीन स्थिति में पहुँच गया है, तो यह अकारण नहीं है और इसकी सारी जिम्मेदारी स्वयं हम लोगों पर है। लेखक जब अपने नैतिक दाय पर व्यक्तिगत सहूलियतों को तरजीह देता है, तब वह व्यापक मानवीय संसर्ग और सामाजिक सरोकारों से कटता जाता है। लेखक की अस्मिता और तेजस्विता के मूल स्रोत नैतिक मूल्य ही होते हैं और इनसे कटकर वह न सिर्फ परम्परा से, बल्कि अपने स्वत्व से भी विच्छिन्न हो जाता है, इसीलिए लेखक यदि समाज-विच्छिन्न है, तो उसे मान लेना चाहिए कि वह मूल्य-विच्छिन्न भी है।

हमारे उस जिये और रचे का कोई मूल्य नहीं, जो हमें दूसरों से न जोड़कर, आत्मवुभुक्षा में ले जाता हो। प्रभुत्ववादी, अहम्मन्य और लोलुप व्यक्ति बाहर से चाहे जितना शक्तिशाली और यशस्वी दिखे, लेकिन अपनी नियति में वह कुल मिलाकर आत्मभक्षी होता है। उसका उत्सर्ग भी वुभुक्षा का सूचक होता है, विनय का नहीं।

लेखक होने का अर्थ जानना है और यह हमें जानना ही चाहिए कि उत्सर्ग बिना लेखक होना सम्भव होता नहीं। जो जितना, और जब तक, उत्सर्ग में है, सिर्फ उतना—और तब तक ही लेखक भी हो पाता है। चूँकि **अज्ञेय** जी ने **'उत्सर्ग'** का दावा किया, इसलिए पड़ताल भी की गई कि इस **'उत्सर्ग'** का वृत्त कितनी दूर तक जाता है। यह यदि शील और शैली के निकट संबंध की क्षति हो भी, तो मुक्ति इस पड़ताल के निषेध में नहीं, पड़ताल को गलत सिद्ध करने में होगी। लिखा है, तो उसमें निहित चूकों की जिम्मेदारी मेरी है, लेकिन इससे प्रसंग का समापन कैसे होगा ? आवश्यक तो यह होगा कि **'निषेध'** को **'बचाव'** का पर्याय न बनाया जाय। असंवाद की स्थिति तभी उत्पन्न होती है, जब हम निषेध में जाते हैं। लेखक जो-कुछ लिखता, कहता और स्थापित करता है, उसके प्रति अपने उत्तरदायी होने से यदि मुकरता है, तो साफ है कि वह दोहरे व्यक्तित्व का रोगी है और दोहरे व्यक्तित्व वाला लेखक जितना बड़ा होता है, उतना ही अधिक संक्रामक भी, क्योंकि वह अपने साधन-स्रोतों के बूते छद्मजीवियों की एक पूरी कतार अपने पीछे खड़ी करता है। अंगरक्षकों के स्तर पर इस्तेमाल किए जा रहे लेखकों को वह यदि मूल्यों के लिए संघर्ष करते व्यक्तियों की छवि प्रदान भी करता है, तो इसलिए कि उनका प्रतिष्ठाता होने के नाते वह स्वयं अपनी मूर्ति बड़ी बना सके। **बुद्धिजीवी होने के नाते वह इतना तो जानता ही है कि ईश्वर तक का मूल्य प्रतिमा के बड़े या छोटे होने से प्रभावित होता है।**

कलावादी तथा प्रगतिवादी, हिन्दी के दोनों खेमों में प्रभुत्वकामी लेखक इस दिशा में निरन्तर सक्रिय रहे हैं और इन लोगों के चरित्र में बुनियादी एकरूपता रही है। इनके व्यक्तिगत अथवा दलगत स्वार्थों को यदि अपने विवेक तथा स्वत्व पर वरीयता देने को आप तैयार हैं, तो स्वागत है—अन्यथा इनके-आपके बीच संवाद की न कोई गुंजाइश

है, न जरूरत। आज हिन्दी का प्रत्येक दलविहीन लेखक इस दबाव में ही जी रहा है कि सहकार पाने की शर्त **'समझौता'** है, **'संवाद'** नहीं।

आपने असहमत के प्रति सहिष्णुता बरते जाने की बात उठाई है। दुःख तो इसी बात का है कि हिंदी का जो लेखक वैचारिक स्वतन्त्रता और सहिष्णुता का जितना बड़ा पैरोकार है, अपने वस्तुगत चरित्र में वह उतना ही असहिष्णु और प्रतिशोधी वृत्ति का है। राजनीति के लोगों के बराबर वैचारिक सहिष्णुता भी हिंदी के अधिकांश लेखकों में नदारद है। खास तौर पर प्रभुत्वकामी लेखकों में, फिर चाहे वह कलावादी घटक के हों, या प्रगतिवादी खेमे के। अपने से असहमत के प्रति नकार इनका प्रथम अस्त्र है, प्रतिशोध अंतिम। अपनी मानसिकता में ये लोग राजनीति के व्यक्ति से भी बदतर हैं।

जब कोई व्यक्ति सिर्फ अपना अनिष्ट कर रहा हो, तब भी उसे रोकना होता है। दूसरों के लिए संघातक होने पर तो उसका प्रतिरोध आवश्यक हो जाता है। **अज्ञेय** जी को भारतीय साहित्य की परम्परा और नैतिक मूल्यों के हनन में प्रवृत्त देखकर ही उनका प्रतिरोध आवश्यक माना गया। अपने व्यक्तित्व के प्रभावशाली और स्रोतस्वी होने के बूते उन्होंने अपनी एक विशाल प्रतिमा गढ़ रखी है, जो अभी अधर में ही है और उनकी पड़ताल को ही अवांछित मानने वाले अनुगतों की एक पूरी कतार हिन्दी में है, क्योंकि **प्रतिमा का छद्म उद्घाटित होने में भागीदारों के हित भी बाधित होते हैं।**

असहमतियों को प्रकट करना नहीं, बल्कि असहमत के प्रति नकारवादी तथा प्रतिशोधी होना वैचारिक असहिष्णुता का सूचक होता है। और **'पाचन शक्ति'** भी अपने में स्वतःसम्पूर्ण अथवा निरपेक्ष नहीं होती है। व्यक्तित्व में चीजों को पचाने की प्रक्रिया जब प्रश्नों को ही डकारने तक पहुँचने लगे, तो उसे सहिष्णुता की संज्ञा देना सिर्फ बौद्धिक

चालाकी और छद्म विनय बरतना बनकर रह जाता है। जहाँ तक भाषा का प्रश्न है, फिर निवेदन करना है कि तार्किकता वैचारिक बहस में वर्जित कभी नहीं होती और अपने को असम्बोध्य कर लेने में निष्णात व्यक्ति के निमित्त जब भाषा बरती जाएगी, तो उसमें बेधकता अनिवार्य रूप से होगी, क्योंकि कवच को भेदकर ही वाण भी मर्म तक पहुँच सकता है और शब्द भी। **ऊँची आवाज में संबोधित किया जाना उसे कभी नहीं खलता, जो वस्तुतः बहरा होता है, लेकिन बहरेपन का कवच धारण किए हुए और उस वज्र बहरे के साथ चलते लोगों को तकलीफ होती है, इसे दोहरा जाने को अप्रासंगिक न मानेंगे।**

ऐसा है, वांदिबडेकर जी, कि जो अपने गंतव्य के नैतिक होने के प्रति असंशयी हो, वही असहमतों के प्रति सहिष्णु भी होता है। जो स्वयं विपथगामी हो, किन्तु दूसरों का पथप्रदर्शक होने का छद्म रचे बैठा हो—जो अपने कर्म में निहित खोट को जानता हो, किन्तु उसे त्यागने की जगह, भुनाने में प्रवृत्त हो—वह कभी असहमत के प्रति सहिष्णु नहीं होगा। विपथगामी और छद्मवेशी के जिस खोट पर उँगली रखी जाती है, उसे वह स्वयं भली-भाँति जानता होता है। जानता होता है, इसलिए विक्षुब्ध होता है। हालाँकि अपनी विक्षुब्धता को **'व्यक्तित्व में पचाने'** की कला वह जानता खूब है, लेकिन **'शब्द' तो जहाँ मर्म तक पहुंचा, कभी-न-कभी, कहीं-न-कहीं, किसी-न-किसी रूप में प्रकट होता जरूर है।** इतना जरूर है कि प्रज्ञावान में निहित निषिद्ध को उजागर करिये, तो वह पश्चाताप प्रकट करता है—प्रभुत्ववादी के खोट पर उँगली रखिए, तो वह प्रतिशोध में जाता है। वैचारिक असहमति के बदले में प्रतिशोध का आखेट होने का अनुभव है, इसलिए असहमति व्यक्त करने के जोखिमों का भी। साँप अपनी प्रतिशोधी वृत्ति के लिए बदनाम है, लेकिन जो बात हिन्दी के प्रभुत्ववादी लेखकों में है, वह साँप में कहाँ।

जैसा कि अन्यत्र भी कहा, प्रतिरोध जो-कुछ है, अस्तित्व के संघर्ष में से है, शील-विहीनता में से नहीं। आज एक लेखक की तरह का जीना अपनी बलि देने-जितना जोखिम-भरा हो गया है, तो इसके कुछ मूलभूत कारण हैं और इनमें से एक कारण हिंदी का प्रभुत्वकामी लेखक भी है। साहित्येतर सहूलियतें जुटाने के निमित्त उसने सिर्फ अपने ही स्वत्व का सौदा किया होता, तो गनीमत थी, लेकिन वह बुद्धिजीवी है। **अपना बेचने के बाद, दूसरों के स्वत्व की ठेकेदारी लेता है।** उसकी इस ठेकेदारी का चरम, क्रांतिकारी लेखन अथवा संस्कृति का व्याख्याता किंवा साहित्य एवम् साहित्यकारों की अस्मिता का प्रतिष्ठाता घोषित किए जाने के सुनियोजित षड्यंत्र में प्रतिफलित होता है। ऐसे छद्मवेशी लेखकों के प्रति सावधान रहना ही नहीं, करना भी लेखक का नैतिक दायित्व है। और जल में रहते मगर से बैर न लेने के मुहावरे को जानना जितना जरूरी होता है, इससे कम यह जानना नहीं कि **बैर मोल न लेना मगरों से मुक्त हो जाना नहीं।**

सवाल किसी व्यक्ति-विशेष का नहीं, हिन्दी साहित्य में व्याप्त प्रदूषण के प्रतिरोध में जो भी लेखक पहल करेगा, आवेगी और अभद्र कहे जाने के जोखिम से बचत है नहीं। किंतु आज नहीं, तो कल—हमारे जिये-किये की पड़ताल होगी जरूर।

आज हम न अपने समय के लिए प्रासंगिक रह गये हैं, न समाज के लिए। नयी पीढ़ी के लेखकों को नैतिक-वैचारिक संघर्ष से विमुख करने में हिन्दी के मूर्द्धन्य लेखकों की भूमिका कम नहीं है। अज्ञेय जी भी ऐसे ही मूर्द्धन्य लेखक हैं, इसमें जिसे हो, मुझे संशय नहीं और इसीलिए उनके प्रतिवाद का जोखिम मोल लिया गया। लेखकों की जितनी बड़ी फजीहत आज है, उतनी हिन्दी में पहले नहीं रही होगी। लेखक होना जितना निरर्थक और अप्रासंगिक आज है, ऐसा पहले कभी न रहा होगा और लेखक होने के मूल्य

को इस घपले में डालने का काम उन्हीं प्रभुत्ववादी लेखकों ने किया है, जो दोहरे व्यक्तित्व के धनी हैं। जिन्होंने शील और शैली के निकट सम्बन्ध को अपने व्यक्तित्व में सचमुच कुछ इस तरह—और इस हद तक—पचा लिया है कि भाषा और संवेदना की व्याप्ति से ही परे हो चुके मालूम पड़ने लगे हैं।

आपने शील और सहिष्णुता की बात उठाई, इसलिए फर्ज समझा कि इस विवेचन में जाने का अनुरोध आपसे भी किया जाय कि वास्तविक खोट कहाँ मानी जाय ? भाषा में, या कि जिस निमित्त भाषा बरती गई ?

आपने लेख पढ़ा है, उसमें उठाये गये जिन मुद्दों पर आप असहमत हों, लिख भेजें, तो अनुग्रह मानूंगा और 'जनपक्ष' के इस अंक में सादर प्रकाशित करूँगा।

मार्क्सवाद के सन्दर्भ में फिलहाल सिर्फ इतना ही कहना है कि सांस्कारिक स्तर पर न होना तो स्वाभाविक ही होता, वैचारिक स्तर पर भी मार्क्सवाद का समग्र अनुमोदन हो नहीं पाया, तो सिर्फ इसीलिए कि मनुष्य की आर्थिक मुक्ति के विकल्प में उसकी वैचारियत दासता की अनिवार्यता का तर्क पल्ले नहीं पड़ता। भारतीय होना यदि अपने सही अर्थ में है, तो यह कहीं-न-कहीं एक सुदीर्घ वैचारिक परम्परा का व्यक्ति होना भी है। हमारी—या कह लिया जाय कि हमारे निमित्त—स्मृति में इतना है कि उसका उच्छेद आसान नहीं। बल्कि कहा जाय कि यह लेखक-मात्र की नियति का प्रश्न है कि विचार करने का काम सत्ता का और सत्ता पर के लोगों के आदेशानुसार जीवन व्यतीत करने का काम समाज का है—यह दलील उसके रक्त में घुल नहीं पाती।

मार्क्सवाद की प्रासंगिकता सामान्य नहीं है। मनुष्य की आर्थिक मुक्ति के बिना उसकी सामाजिक या वैचारिक मुक्ति भी सम्भव नहीं और कि मनुष्य-मनुष्य के बीच समता का सेतु हो, यह प्रारम्भ से ही

कहा जाता रहा है। वेदों तक में कहा गया कि बिना अन्न-जल-वस्त्र की समानता के मनुष्य और मनुष्य के बीच समानता की कोई गुंजाइश नहीं होगी। लेकिन **आर्थिक समता की परिकल्पना को व्यावहारिक जीवन-दर्शन का स्वरूप पूरे मानव इतिहास में पहली बार मार्क्स ने दिया और इसकी नैतिक बुनियाद तथा वैचारिक व्याप्ति सामान्य नहीं है।** लेकिन **मार्क्सवाद** की विडम्बना यह लगती है कि अधिनायकवाद के अन्तर्गत ही यह अस्तित्व में रह सकता है और अधिनायकवाद चूँकि बन्दूक की शक्ति पर ही टिकता है, इसलिए उसमें विचार का मूल्य बारूद से कमतर होना निश्चित है।

किसी भी तरह के अधिनायकवाद को सिर्फ अभिशाप ही कहा जा सकता है, लेकिन **मार्क्सवाद** के नकार में पूँजीवादी व्यवस्था को विकल्प बने रहने देने के दुष्परिणाम भी कम भयावह नहीं होंगे। **पूंजीवादी व्यवस्था भी प्रकारांतर से तानाशाही व्यवस्था ही है। फर्क सिर्फ यह कि सैनिक तानाशाही में बन्दूक की, पूँजीवादी व्यवस्था में पैसे की शक्ति सर्वोपरि होती है।** और यह फर्क मनुष्य को उत्पीड़न से बरी रखने वाला नहीं, सिर्फ उत्पीड़न की प्रक्रिया के दीगर होने का फर्क है।

हमारे देश में जो राजनैतिक पतन और भ्रष्टाकार व्याप्त है, इसीलिए कि सत्ता पर पूँजी का आधिपत्य है। हमारा सांसद या विधायक जन-प्रतिनिधि नहीं, पूँजीवादी व्यवस्था का चाकर है, क्योंकि वह बाधित लोकमत के द्वारा '**चुनवाया**' जरूर जाता है, लेकिन लोक-चिंता से वास्ता न होना उसकी बुनियादी शर्त है। हमारा प्रतिनिधित्व कौन करे, यह तय करना हमारे हाथ में नहीं। सामाजिक नेतृत्व का यहाँ कोई अस्तित्व ही नहीं रह गया। **महात्मा गांधी** के साथ ही वह समाप्त हुआ और अब शुरू कब हो पायेगा, कोई नहीं जानता।

हम लोकतंत्र में नहीं, लोकतंत्र के विभ्रमों में जी रहे हैं। **पैसे की ताकत से चुनाव कराये जाने और बन्दूक की नोक पर चुनाव कराये जाने में कोई खास अन्तर है नहीं। जन-समाज को दोनों ही स्थितियों में अंधेरे में रखा जाता है।**

जन-जागृति को दोनों ही व्यवस्थायें खतरनाक मानती हैं—पूँजीवादी भी, समाजवादी भी। और एक इसे पैसे की ताकत से रोकती है, दूसरी बन्दूक की ताकत से, तो साफ है कि एक जगह आकर पैसे और बन्दूक की नियति एक हो जाती है—अधिनायकवादी सत्ता के पैसे और उसकी बन्दूक में सिर्फ बनावट का अन्तर होता है, वृत्ति का नहीं। इस अर्थ में श्रीमती इंदिरा गांधी पूँजीवादी व्यवस्था-द्वारा नियुक्त अधिनायक की भूमिका में काम करती दिखाई पड़ती रही हैं, तो यह कोई विस्मय की वस्तु नहीं।

इन्दिरा जी वाले आपके कथन को लेकर इतना ही कहना है कि **'जनपक्ष'** के मार्च १९८० के अंक में प्रकाशित सामग्री का अवलोकन किया होगा आपने और उनकी वापसी यदि गलत है तो इसके लिए सिर्फ विपक्ष ही उत्तरदायी है, भारतीय जनता नहीं। भारतीय जनता के मत्थे दोष मढ़ने की मूढ़ता इस बात का प्रमाण है कि विपक्षी दलों की राजनैतिक चेतना धुंधला गई है। कुंठा और विवेकांधता में से सार्थक और उत्तरदायी राजनीति सम्भव नहीं। ५ वर्षों तक **श्रीमती गांधी** के सत्ता पर बने रहने का तर्क **श्रीमती गांधी** के नहीं, विपक्ष की राजनीति को व्यापक जनाधार दिये जाने के पक्ष में दिया गया। आपात् स्थिति का नरक लादे जाने के समय इस बात का गहरा अहसास हुआ कि सत्ता की राजनीति कितनी समाज तथा राष्ट्र-द्रोही बन चुकी है। **'राजनीति'** करने में रुचि न कभी पहले थी, न आज है। सिर्फ इतना है कि अनीति का विरोध नितांत नगण्य स्तर पर ही सही, किन्तु अपने

को लेखक मानने के नाते करना ही चाहिए, ऐसा माना। **जो कुछ मनुष्यता के प्रतिकूल है, उसके प्रतिरोध की नैतिक जिम्मेदारी लेखक पर सबसे पहले और सबसे ज्यादा है**—इस मनोभाव में ही '**जनपक्ष**' निकालने की बात तय की गयी। पूर्व-प्रकाशित तीनों अंक भेज रहा हूँ। आप स्वयं देखें कि '**जनपक्ष**' के पीछे व्यक्तिगत स्वार्थों को सिद्ध करने की वृत्ति निहित है या कि मूल्यों की चिंता।

समाज तथा मूल्य-विरोधी शक्तियों के विरुद्ध भाषा प्रयोग में लाने के जोखिमों को किन्हीं आने वाले लेखकों के जिम्मे छोड़ जाने के शील-सौजन्य में मेरी आस्था नहीं।

मनुष्य को अंततः यह तय करना ही होता है कि वह किससे अभिप्रेरित हो? विवेक से, या दबावों से। भीति से, या नीति से। आकांक्षा से, या कि अवसरवादिता से। प्रलोभनों से, या कि प्रज्ञा से। दुरभि से या कि निश्छलता, कपट से या कि करुणा से। अपने द्वन्द में से गुजर कर ही आदमी किसी एक दिशा में अग्रसर होता है और यह अग्रसरता ही उसकी नियति को तय करती है। सत्ता और पैसे की दुनिया के लोगों से अपने लेखक होने की कीमत उगाहना इनकी अनीति की मार से पीड़ित जनसमाज के प्रति करुणा त्याग कर ही सम्भव है और यह करुणावंचना ही लेखक को तमाम प्रकार की कुटिलताओं में ले जाती है।

करुणा काव्य का मूल स्रोत है। करुणा 'दीनता' में से नहीं, दाय में से उदित होती है। दाय की चेतना ही लेखक को भाषा के मर्म तक ले जाती है और वह जान पाता है कि '**शब्द**' ही है, जो मनुष्य को उसकी समग्रता में सम्बोधित कर सकता है और इसीलिए, जो जितना बड़ा साहित्यकार हो, '**शब्द**' के प्रति उतना ही सर्मपित और संवेगी और सावधान और संशयमुक्त होता है। वह जानता है कि '**शब्द**' ही

है, जो मनुष्य की श्रुति और दृष्टि को ही नहीं, स्मृति को भी आलोकित करता है। **'शब्द'** जब लेखक के अन्तःकरण में से प्रकट होता है, तब काव्य, और जब कोरी बुद्धि में से प्रकट होता है, तब कूड़ा बनता है। **'शब्द'** यदि अनीति और असुन्दर के प्रतिरोध में है, तो मनुष्य को आन्दोलित और अभिप्रेरित करता है, और यदि नहीं, तो कुंठित, बाधित और दिग्भ्रमित करता है।

कहना यह था कि हिन्दी में शब्दों की पड़ताल में जाना ही इस वेदना में होना भी है कि नहीं, यह जोखिमों से मुक्त नहीं। मैंने कुछ नहीं किया, सिर्फ समय-समय पर कुछ मूर्द्धन्य लेखकों के द्वारा कहे—लिखे गये शब्दों की पड़ताल-मात्र की और परिणामः क्रुद्धता का आखेट होना पड़ा। किन्तु जो भी आपदा स्वयं के संघर्ष की उपज हो, उसके प्रति पश्चात्ताप नहीं, विनत स्वीकार को ही अभीष्ट मानना चाहिये। कदाचित् आपने भी कभी तय कर लिया कि आप व्यक्तियों के लिहाज में नहीं, विचारों के बेबाक विवेचन में जाने की **'शुरुआत'** करेंगे, तो हिन्दी के लेखक के वास्तविक चरित्र से आपका भी साबका पड़ेगा और तभी आप अनुभव कर सकेंगे कि वैचारिक सहिष्णुता नाम की चीज कहाँ, और कितनी है। और कि **'बौद्धिक रेजीमेंटेशन'** का कारगर तरीका शील और शैली के निकट संबंध को व्यक्तित्व में पचाकर बैठ जाना भी होता है।

रचना या आलोचना, कोई भी माध्यम तब तक अपनी समग्रता में प्रतिफलित नहीं होता, जब तक उसके कर्त्ता में प्रतिश्रुति न हो और **प्रतिश्रुति व्यक्तिगत लिहाजों में नहीं, बल्कि मूल्यगत विवेचन में ले जाती है।** मूल्यों के विवेचन में जाने पर ही संघर्ष में होने की स्थिति सामने आती है। कहे और लिखे गये की पड़ताल में से ही किसी भी लेखक का वास्तविक व्यक्तित्व पकड़ में आता है और जो भी अपने लिए **'नेपथ्य'** रचता है, किन्हीं कारणों से रचता है।

अन्त में सिर्फ इतना और कि लेखक ने जो दावे किये हों, उनके प्रति प्रश्न उपस्थित करना उसको टुकड़ों में काटकर फेंकना दिखाई पड़ने लगे, तो यह अच्छा लक्षण नहीं माना जाना चाहिये। तर्क और प्रश्नों में जाने से बचने का उपाय अपने को 'विरोधी' घोषित करके, 'उखाड़े जाने' से बचने के स्वतःस्फूर्त्त सिद्धांत में मिलना कठिन होता है। वैचारिक बहस में कुछ भी सार्थक सहेज पाने का उपाय सिर्फ 'संवाद' है और इससे कतराना शील नहीं, चतुराई बरतना हुआ करता है। लेखक के प्रति वैचारिक प्रश्न उपस्थित करना, उसका समादर करना है, उसे काट फेंकना नहीं। लेखक की क्षति प्रश्नों से नहीं, प्रमाद और प्रतिष्ठाबुभुक्षा से होती है। खरी बात यह कि जो लेखक प्रश्नों और तर्कों से विदीर्ण और विचलित होता हो, उसे विचार व अस्मिता का व्याख्याता-प्रतिष्ठाता या कि शील-विनय-सहिष्णुता का सिद्धान्त-निरूपक होने की दावेदारियाँ नहीं बरतनी चाहिए।

पत्र बहुत विस्तार से लिख गया, लेकिन प्रीतिवश ही, अस्तु क्षम्य मानेंगे। सानंद होंगे आप। आशा है, मित्रता न सिर्फ कि बनी रहेगी, बल्कि सचमुच दृढ़ होगी।

आपके पत्र और टिप्पणी की प्रतीक्षा रहेगी।[1]

आपका

शैलेश मटियानी

● ●

1—इस पत्र का कोई उत्तर बांदिबडेकर जी ने दिया नहीं।

संघे शक्ति कलौयुगे

अन्त में सिर्फ इतना और कि लेखक ने जो दावे किये हों, उनके प्रति प्रश्न उपस्थित करना उसको टुकड़ों में काटकर फेंकना दिखाई पड़ने लगे, तो यह अच्छा लक्षण नहीं माना जाना चाहिये । तर्क और प्रश्नों में जाने से बचने का उपाय अपने को **'विरोधी'** घोषित करके, 'उखाड़ जाने' से बचने के स्वत:स्फूर्त्त सिद्धांत में मिलना कठिन होता है । वैचारिक बहस में कुछ भी सार्थक सहेज पाने का उपाय सिर्फ **'संवाद'** है और इससे कतराना शील नहीं, चतुराई बरतना हुआ करता है । लेखक के प्रति वैचारिक प्रश्न उपस्थित करना, उसका समादर करना है, उसे काट फेंकना नहीं । लेखक की क्षति प्रश्नों से नहीं, प्रमाद और प्रतिष्ठाबुभुक्षा से होती है । खरी बात यह कि जो लेखक प्रश्नों और तर्कों से विदीर्ण और विचलित होता हो, उसे विचार व अस्मिता का व्याख्याता-प्रतिष्ठाता या कि शील-विनय-सहिष्णुता का सिद्धान्त-निरूपक होने की दावेदारियाँ नहीं बरतनी चाहिए ।

पत्र बहुत विस्तार से लिख गया, लेकिन प्रीतिवश ही, अस्तु क्षम्य मानेंगे । सानंद होंगे आप । आशा है, मित्रता न सिर्फ कि बनी रहेगी, बल्कि सचमुच दृढ़ होगी ।

आपके पत्र और टिप्पणी की प्रतीक्षा रहेगी ।[1]

आपका

शैलेश मटियानी

• •

१—इस पत्र का कोई उत्तर **बांदिबडेकर** जी ने दिया नहीं ।

संघे शक्ति कलौयुगे

लेखकीय सरोकारों को लेकर राजेन्द्र से प्राय: बातचीत होती रहती थी—विशेष रूप से आपातस्थिति के दौर में। दिल्ली में आपात स्थिति को भुनाने में प्रवृत्त या साँप के सूँघे में से अवसन्न-से लेखकों के बीच जो गिनती के साहित्यकार थे, जिन्हें आपातस्थिति के प्रति गहरा विक्षोभ था—राजेन्द्र यादव उनमें एक थे। वो इस बारे में दो टूक मत के थे कि यह मनुष्य की अस्मिता में हस्तक्षेप है। बाद में, 'दूसरी आजादी' के दौर में भी उन्हें यह चिन्ता बनी रही कि लेखकों की हैसियत जो होनी चाहिये, सत्ता के स्वैराचार के विरुद्ध उसके प्रतिवाद की जो अहमियत बननी चाहिये, है नहीं।

इसी बीच १९८० में डॉ० धर्मवीर भारती और रवीन्द्र कालिया के साथ के विवाद में जिन स्थितियों से गुजरना पड़ा, रवीन्द्र कालिया ने संजय गाँधी का खास आदमी होने का दावा शपथ-पत्र में प्रस्तुत किया, जिस तरह राजनैतिक दबाव से मामला प्रभावित हुआ—और डॉ० भारती के भ्रष्ट आचरण के विरुद्ध हिन्दी के अधिकांश लेखकों ने जैसा मौन साधा—राजेन्द्र बहुत विक्षुब्ध थे। ऐसे में जनवादी लेखक संघ में उनके शामिल होने को लेकर, जब जिज्ञासा प्रकट की, तो उनका जो पत्र आया, उससे संवाद का एक सिलसिला बनता गया।

●●

संघबद्धता बनाम व्यक्तिवाद

प्रिय शैलेश,

२ मार्च १९८२

तुम्हारा पत्र मिला। इस बार पत्र में जो थकान और पस्ती है, उसने मुझे चिंतित और दुखी किया। यह ठीक है कि तूफान निकल जाने के बाद की स्तब्धकारी थकान ऐसी स्थितियों में हम सब पर छाती है, मगर केवल अपने तक सिमट जाने वाली पराजय और आध्यात्मिक पलायन का यह स्वर कहीं दूसरों को भी तोड़ता है।

अगर मैं कहूँ कि **'जनवादी लेखक संघ'** में शामिल होने की स्वीकृति देने के पीछे तुम्हारे साथ वाला यह संघर्ष ही रहा है, तो क्या तुम विश्वास करोगे ? तुम जानते हो कि मैं कभी भी ऐसी चीजों के पीछे नहीं भागा। अभी तो मुझे यही लग रहा है कि यह संघ शायद दूसरों से अलग हो—कम-से-कम अपनी घोषणाओं के तेवर की इज्जत की खातिर ही।

तुमने देखा है कि लड़ाई आज चाहे जितने बड़े लक्ष्य और आदर्श को लेकर की जाये, वही अकेले दो-एक लोगों की व्यक्तिगत बन कर रह जाती है। जो साथ आ सकता है, वह भी इस बात पर विश्वास नहीं करता कि कहीं इसमें व्यक्तिगत मान-प्रतिष्ठा या स्वार्थ का ही सवाल तो नहीं है। इस तंत्र में किसी भी बनी-बनाई, सधी और साधन-सम्पन्न व्यवस्था के खिलाफ व्यक्ति की लड़ाई सिर्फ, व्यक्ति को ही तोड़ती है। यह व्यक्ति अपने आत्मविश्वास, महान आदर्श, लगन और संघर्ष की पूंजी से जितने दिन चल पाता है, चल लेता है। वर्ना फिर आध्यात्मिकता या शारीरिक 'आत्महत्या' में शरण खोज लेता है। हो सकता है, चलता-फिरता फिर भी दिखाई देता रहे। व्यवस्था में दरार तभी लाई जा सकती है, जब व्यक्ति अकेला न हो और इसीलिए संघ होते हैं, यूनियनें होती हैं, संगठन होते हैं। मुझे कोई मुगालता नहीं है कि कोई भी यूनियन किसी भी मजदूर को अद्वितीय या विलक्षण कारीगर बना सकती है। हाँ, वह उसके अधिकारों, अस्तित्व की मूल सुरक्षा और संरक्षण की शर्तों की हिफाजत जरूर कर सकती है। अगर तुम्हारा यह केस, संघ-जैसी किसी संस्था ने उठाया होता, तो क्या हम लोग इतने अकेले पड़ गये होते ? मैं बिलकुल मानता हूँ कि चरित्र की कमजोरियों, प्रलोभन, लालच, बड़ी पत्रिकाओं को खुश करने की चालाकियाँ सब जगह पर होती हैं और इस तरह के संघ में भी होंगी, जहाँ सही आवाज को भी उतना महत्व देने की कोई उम्मीद मुश्किल हो। मगर फिर भी एक वातावरण बनाकर बात को किसी न किसी धरातल पर उठाया जा सकता है। हम किसी भी संघ में शामिल होकर बेहतर या अधिक महत्वपूर्ण, सार्थक लेखन कर सकते हैं, यह भ्रांति मुझे नहीं है। मगर अभिव्यक्ति और लेखन के अधिकारों की आवाज को सामूहिक रूप से उठाया जा सकता है, यह आश्वासन मुझे जरूर लगता है।

अगर तुम यहाँ यह तर्क दोगे कि लेखक को सामान्य नागरिक से अधिक कुछ भी क्यों पाने की आकांक्षा हो या क्यों उसे दिया जाए, तो मैं

कहूँगा कि तुम मूलतः हर संगठित प्रयास के विरोधी हो। उस हिसाब से न तो यूनियनें बननी चाहिए और न ही संघ बनने चाहिए। कलाकार होने का नाम लेकर क्या तुम यह तर्क दोगे कि फिल्मी दुनिया में एक्सट्रा लोग क्यों अपने संघ बनायें, या वेश्याएं क्यों अपनी सुरक्षा की सुविधायें खोजें ? क्योंकि ये उनके निहायत व्यक्तिगत पेशे हैं। जिस प्रकार बार-कौंसिल की तरफ हम **योगेश अग्रवाल** के केस के लिए देख रहे हैं, तो क्या वह भी एक ऐसा ही संघ नहीं है ? या किसी को यह भ्रम हो सकता है कि बार-कौंसिल का मेम्बर होने से कोई अत्यंत कुशल और कुशाग्र वकील बन सकता है ?

संघबद्धता के विरोध को कहीं हम व्यक्तिवाद की इस हद तक न ले जाएं जहाँ दूसरे किसी से भी संवाद या सामान्य स्थितियों में पड़े हुए की मानसिक एकता को एकदम ही नकार दिया जाए।

और इसीलिए मैं लेखक संघ में शामिल हुआ हूँ कि लेखकीय सवालों, अधिकारों और खतरों की बात प्रभावशाली ढंग से उठाई जा सके। वहाँ से कुछ भी लेने का मेरा कोई इरादा नहीं है। अब भी अगर तुम इसे गलत समझते हो, तो मैं कल ही इससे मुक्त हो सकता हूँ। तुम्हें मालूम है कि मैं तुम्हारी राय की बहुत कद्र करता हूँ। इसलिए निस्संकोच लिखो और अपने समाचार दो।

श्री शैलेश मटियानी — तुम्हारा
इलाहाबाद — **राजेन्द्र यादव**

पुनश्च : दूसरा पत्र भी मिल गया है। व्यक्तित्व के सारे स्खलनों के बावजूद क्या कुछ लोगों के मिलने की कोई मिनिमम भूमि नहीं हो सकती ? जो नाम तुमने लिये हैं, क्या उनके विषय में मेरे लिए कुछ भी जानना शेष है ? वैसे सूचनार्थ यह भी बता दूँ कि इनमें **डॉ० रमेशकुंतल मेघ** भी हैं, जो कुछ वर्ष पहले अपनी रॉयल्टी के लिए कुर्की का समन लेकर आए

थे। उनके साथ बैठना ही मैंने अपने प्रति यही तर्क देकर किया कि क्या अपनी सीमाओं को लाँघकर किसी बड़ी चीज को बनाया जा सकता है ?

••

संघबद्धता का निमित्त

राजेन्द्र भाई, इलाहाबाद : १५ अप्रेल ८२

आपका २/३ का पत्र।

आपको फिर शिकायत हो सकती है कि विस्तार में, किन्तु अन्यत्र अब कहाँ इतने अवसर हैं कि वार्तालाप में हुआ जा सके। फिर जाने क्यों लगता है कि 'आलाप' सिर्फ शास्त्रीय संगीत का ही नहीं, विचार का भी अंग है और यह सध जाय, तभी बात सधती है।

यहाँ पहले उंगलियों की नोक तक आ गई यह बात कि इस पिछले कुछ अरसे में आपसे काफी खतो-किताबत हुई और बहस-मुबाहिसा भी। ......वैचारिक असहमतियों व आलोचना के प्रति जैसी और जितनी सहिष्णुता आपमें दिखी—विरल पहले ही थी, अब समाप्ति के पथ पर अग्रसर दिखती है और यह कारण है कि घुटन और असंवाद है।

स्थिति यह आ चुकी दिखाई पड़ने लगी है कि इधर आपने अपने को खुली किताब बनाया, प्रपंच में रहने की जगह, दोटूक कहा और सम्बन्ध गया।......लेकिन उपाय क्या है ? क्या यह कि विचार, विवेक और संवेदना को समेटा जाय और निहित स्वार्थों की अन्तर्भूत शर्त्तों के अनुरूप हुआ जाय ? देर-सबेर लेखक में इतना देखना तो बन ही जाता है कि सामने के लेखक में क्या है। उसकी अपेक्षायें क्या हैं, गंतव्य क्या है। और ऐसे में जब आपको लगे कि दिशा और गंतव्य ही भिन्न हैं, तब कितनी दूर तक ? इसलिए पहली चीज है—गंतव्य एक होना। जिनके

हैं, तो साथ-साथ हैं और संघबद्ध भी।······लेकिन—और वास्तविक प्रश्न इसी लेकिन से प्रारम्भ होता है—साथ-साथ या कि संघबद्ध होना-मात्र क्या स्वयंसिद्ध रूप से सही गंतव्य में होना भी होता है ? और जहाँ कि आप हों, वहाँ से क्या सिर्फ इसलिए परावर्त्तन कर लें कि भीड़ अन्यत्र है ? या कि इस विवेचन में जायें कि मूल्य कहाँ है ? क्योंकि किसी भी चीज का सही होना मूल्यों से तय होता है, व्यक्तियों से नहीं।······और अब इस विवेचन में जाने और समूह में होने को ही सही भी होने का स्वयंसिद्ध प्रमाण मानने से इन्कार करने को ही यह माना जा सकता हो कि यह संघबद्धता के निषेध में होना या कि निरी व्यक्तिगत अहम्मन्यता, परास्तता या आध्यात्मिक वायवीयता या कि शारीरिक आत्महत्या में जाना है, तो निस्संकोच स्वीकार कर लेना चाहूँगा कि मेरे साथ स्थिति यही है।

अब पहली बात यह कि निष्कर्षों को सदैव वस्तुगत तथ्यों और उपस्थिति में से निकालना चाहिए। मेरे संघबद्धता के ही विरोध में होने का तर्क न कहीं मेरे व्यवहार में से निकाला जा सकता है, न विचारों में से और न उन पत्रों से, जिनके संदर्भ में आपका यह कथन है। अनुपस्थित को तर्क के लिए गढ़ना अपने पक्ष को कमजोर करना है। कह लेने दीजिये और फिर आप स्वयं इस प्रश्न पर जाइये कि क्या गहरे चिन्तन-मनन और चीजों की तह तक आँख रखने के बाद आप जनवादी लेखक संघ में सम्मिलित हुए हैं ? क्या अभिव्यक्ति या लेखक के अधिकारों अथवा व्यवस्था-विरोध की सही और सार्थक लड़ाई की आपकी अपेक्षायें इस लेखक-संघ से जुड़े हुए लेखकों के चरित्रों के आधार पर हैं ? या सिर्फ इसलिए कि चूंकि समसामयिक समाज, मूल्य या कि लेखन-विरोधी वातावरण के विरुद्ध आपके मन में विषाद और विक्षोभ है ? और यह बेचैनी कि इस दमघोंटू वातावरण के विरुद्ध संघर्ष किया जाना चाहिए ?

अब आपसे कहना है कि आप सिर्फ अपनी बेचैनी, घबराहट, सदाशयता और सद्विश्वास में इस संघ में शामिल हुए हैं, आस्था में नहीं। न अनुभवों के साक्ष्य से। और सिर्फ शामिल होने के लिए शामिल हो जाना वैचारिक उतावली बरतना है—संघर्ष करना नहीं। कैसी और कितनी भी बेचैनी, सदाशयता या कि कैसा भी सद्विश्वास—स्वतःसम्पूर्ण कहीं कुछ नहीं होता।

अब यहाँ इस बात को दोहरा लेने दीजिये कि आगे-पीछे, या तो इस संगठित छद्म का स्वयं भी हिस्सा बनने, या फिर वहीं वापस लौट आने के सिवा और कोई स्थिति आपकी बनती दिखती नहीं, जहाँ से कि न-जाने कितनी स्वयंस्फूर्त अपेक्षाओं का पिट्ठू पीठ पर लादे आप इसमें शामिल हुए हैं।

हो सकता है, मेरा आकलन गलत हो—लेकिन जाने क्यों लगता है कि अभी दोटूक देखना और चलना आपसे बन नहीं पाया। यह कारण है कि **'अकेला पड़ जाने'** या **'सामूहिक हो जाने'** के सवाल आपको द्विधाग्रस्त करते हैं। संघबद्धता की पुरजोर वकालत और व्यक्तिवादी अध्यात्म की भरपूर कुटम्मस करने के बाद, आपने जिस आत्मीय, किन्तु परास्त स्वर में **'त्याग-पत्र'** का प्रस्ताव सामने रखा है—यह स्थिति चिंतनीय है। इसका सीधा अर्थ यही निकलता है कि जनवादी लेखक संघ की विश्वसनीयता स्वयं आपकी ही दृष्टि में संदिग्ध है। कहीं जुड़कर, अनुभवों से गुजरने के बाद अलग हो जाना भिन्न बात है, लेकिन वापसी के विकल्प को **'एनेक्सचर'** के रूप में जोड़ते हुए शामिल होना—यह आधे चित्त का जुड़ना है। और आगे-पीछे यही संकट उत्पन्न करता है।

अद्भुत अन्तर्विरोध है यह कि **'संघेशक्ति कलौयुगे'** का उद्गाता उस व्यक्ति के कहने पर **'संघ'** त्यागने को तैयार बैठा रहे, जिसके व्यक्तिवादी अध्यात्म की धुंध आत्महंता आभासित होती हो—और जिसका पलायनवादी स्वर विश्वास को तोड़ने वाला प्रतीत होता हो ?

कद्र तो मैं भी करता हूँ आपकी, लेकिन पत्र में के ढुलमुल विचारों के लिए नहीं—एक लेखक की हैसियत की जो यह बेचैनी और वैचारिक छटपटाहट आपमें है, इसके लिए। और हालाँकि लगता तो यही है कि वापसी के सिवा और कोई रास्ता निकलता दिखता नहीं, फिर भी पूछ लेने का प्रसंग पूरा-पूरा बनता है कि मान लीजिए, लिख दूँ कि हाँ—तो क्या आप सचमुच **जनवादी लेखक-संघ** से अलग हो जायेंगे? और यदि हो जायेंगे, तो यह किसके गलत होने का सूचक होगा—मेरे? आपके? या कि **जनवादी लेखक-संघ** के?

भाईजान,

आपका यह मेरे विचारों का कद्रदान होना जितना आत्मीयता, इससे कम अस्थिरचित्तता का सूचक कदापि नहीं है। यह भाषा की अत्यन्त गम्भीर किस्म की असावधानी है और किसी लेखक का भाषा के प्रति असावधान होना इतना स्पष्ट आभास देता है कि स्थितियों की सिर्फ ऊपरी सतहों पर ही विचरण किया गया है।

आप मेरा पिछला पत्र देखें, तो इस ओर इंगित उसमें है कि अंततः संकट आप—या कि आप-जैसे कुछ अन्य—के लिए उपस्थित होगा। जिस तेवर में और जिन उद्घोषणाओं के प्रति जनवादी लेखक संघ प्रतिबद्ध हुआ है, वैसा अगर इसका चरित्र बनता नहीं है, तो यह अँधेरे को बढ़ायेगा। पाँच सौ लेखकों के ऐतिहासिक महत्व के संघ के द्वारा व्यवस्था के विरुद्ध—या कि लेखकों के पक्ष में—कोई कारगर भूमिका न निभा पाना लेखकों के महत्व को ध्वस्त करेगा और विश्वास को तोड़ेगा। और तब मोहभंग की यातना से सिर्फ उन्हीं लोगों को गुजरना होगा, जो निहित स्वार्थों की तलाश में नहीं, बल्कि लेखक होने के सद्विश्वास में शामिल हुए हों। आपने स्वयं कुछ लोगों का जिक्र किया है और तब क्या आप यह मानते हैं कि संघबद्ध हो जाने मात्र से ही लोगों का व्यक्तिगत चरित्र खुद-ब-खुद घोषित आदर्शों के अनुरूप हो

जाता है ? इतना तो आप मानेंगे कि चाहे व्यक्ति हो या संघ, दोनों की बुनियादी माँग चरित्र की होती है ? चरित्र ही है, जो विश्वसनीयता या संदिग्धता उत्पन्न करता है—वह चाहे व्यक्ति का हो, या कि पार्टी का। माफ कीजिएगा, आपके स्वयं के तर्कों से ही यह स्पष्ट ध्वनित है कि इस लेखक संघ से सम्बद्ध लेखकों का चरित्र स्वयं आपको असंदिग्ध नहीं लगता।···और ऐसे में आप क्या सचमुच यह तर्क देना चाहेंगे कि व्यक्तियों का चरित्र ही संघ का चरित्र भी बनता हो, यह कोई जरूरी नहीं ?

यदि **जनवादी लेखक संघ** के घोषणा-पत्र में यह होता कि इससे सम्बद्ध लेखक अनुभव करते हैं कि बिना किसी सशक्त राजनैतिक दल से जुड़े ही लेखक सामाजिक परिवर्तन की प्रक्रिया में अपनी वास्तविक भूमिका नहीं निभा सकता।···और कि वर्तमान स्थितियों के गहरे विवेचन के बाद इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि **सी० पी० एम०** ही एक ऐसी राजनैतिक पार्टी है, जिसके इस समाजविरोधी व्यवस्था के सही विकल्प होने की प्रतीति बँधती है और लगता है कि संघर्ष की प्रक्रिया को तेज कर सकते हैं—सम्भावनायें दिखाई पड़तीं।··· क्योंकि इतना तय है कि जहाँ भी लेखक निष्ठा और आस्था में जुड़ेंगे, उनकी उपस्थिति का अर्थ बनेगा। लेकिन स्थिति इससे भिन्न है।

कोई भी सार्थक संघर्ष समाज के सहकार के बिना सम्भव नहीं, लेकिन इतिहास में ऐसे अनेक अवसर आते रहते हैं, जबकि सामाजिक प्रश्नों से जुड़े लोग अकेले पड़ गये दिखाई देते हैं और उन्हें अपनी इस नियति में बने रहना होता है। जो व्यक्ति सिर्फ इसलिये भीड़ में शामिल हो जाता हो कि चूँकि अकेला पड़ गया है, वह कभी समाज से प्रतिबद्ध नहीं हो सकता। **बंधन। उसी का कोई अर्थ रखता है, जिसमें कुछ दृढ़ता हो और यह दृढ़ता या कि बद्धता नाम की चीज चरित्र का प्रश्न होती है, कोरी बुद्धि या कि बौद्धिक किस्म की लफ्फाजियों का**

प्रश्न नहीं। जिसमें चरित्र गायब हो, दृढ़ता भी नदारद होती है। वह मूल्यों पर न जाकर, संख्या पर जाता है। उसकी यह नियति होती है कि अकेला दिखाई पड़ते ही घबराहट महसूस करने लगे। वह भूल जाता है कि मात्र संख्या का तर्क 'संघ' को 'गिरोह' की नियति तक भी ले जा सकता है। और कि क्या आप सचमुच अनुभव करते हैं कि वेश्याओं के संघ बनाने तथा **जनवादी लेखकों के संघ** बनाने में समरूपता है?

आपने मेरे पत्रों से निहायत ही गलत निष्कर्ष निकाला है कि किसी भी प्रकार के सामूहिक प्रयत्न के विरुद्ध हूँ। मैं सिर्फ इस आधारहीन सद्विश्वास में असमर्थ हूँ कि भ्रष्ट लोग जब संगठन खड़ा कर लेते हैं, तो व्यवस्था के विरुद्ध संघर्ष में समर्थ हो जाते हैं। कोरी संघबद्धता को भ्रष्टता-निवारण का अचूक उपाय मान लेना अपने सद्विश्वास के दीवालियेपन का सबूत देना है।

मजदूर—या कि अन्य यूनियनों का उदाहरण भी आपने निहायत गलत सन्दर्भ में तथा प्रसंग से काटकर दिया है। जहाँ लोग अस्तित्व के प्रश्नों से जुड़कर संघबद्ध होते हैं, वहाँ हमेशा उसके सार्थक परिणाम निकलते हैं। लेकिन बिना अस्तित्व के प्रश्नों या कि मूल्यों के स्तर पर जुड़े ही, संघबद्ध होने की कोई प्रासंगिकता बनती नहीं—इतना कहना संगठन-मात्र का विरोधी होना माना जा सकता हो, तो यह किसी विचारवान व्यक्ति की चिंता का विषय बनना नहीं चाहिए।

क्या आपने इस सारे प्रसंग को सम्यक् देखा है? देखा है कि जिन प्रश्नों का जनवादी लेखक संघ की उद्घोषणाओं में समावेश किया गया है, ये इन लेखकों के अस्तित्व के प्रश्न हैं? और कि ये लोग एक भीड़ जुटाकर व्यवस्था में अपने-अपने लिए सहूलियतें तलाशने नहीं, बल्कि वास्तव में इस संघर्ष में जाने वाले हैं कि व्यवस्था में दरार उत्पन्न कर सकें?

इस लेखक-संघ के अधिकांश मूर्द्धन्य संघर्ष नहीं, संघर्ष का छद्म खड़ा करने में रुचि रखने वाले लोग हैं और इतना मान लेने में आपत्ति नहीं कि इनसे जितनी भी दरार बन पड़ेगी, बनायेंगे—लेकिन सिर्फ उतनी ही, जितने से 'मधु-मधु-मधु-मधु' की स्थिति बनती हो। वैसी या उतनी बड़ी दरार नहीं, जिससे लेखक-मात्र के या कि समाज के हित में कुछ हो सकने की सम्भावना तो बनती हो, लेकिन इनके व्यक्तिगत स्वार्थों पर आघात पड़ता हो।

जनवादी लेखक संघ की उद्घोषणाओं का तेवर इतना क्रांतिकारी और आक्रामक इसलिए है कि इन्हें सिर्फ कागजी ही रखा जाना है। यदि इन उद्घोषणाओं को चरितार्थ कर दिखाने की प्रतिश्रुति इसके सर-संचालकों में होती, तो इनके दस्तावेजों में वह भाषा भी होती, जो समाज-विरोधी व्यवस्था में दरार डालने को कृतसंकल्प लोगों में होनी चाहिए। जिस भाषा में समाज-विरोधी व्यवस्था से टकराने के जोखिमों की पहचान और उनसे जूझने की प्रतिश्रुति का अभाव हो— वह अपने बाहरी खोल में जितनी अधिक आक्रमक, वास्तविक चरित्र में उतनी ही फुफ्फुस, अंतर्विरोधी और निष्प्रभावी होती है।

लेकिन स्थिति का यह तर्क बनता है कि **जनवादी लेखक संघ** से आप तब तक जुड़े रहें, जब तक कि स्वयं आपको न लगे कि अलग होने में ही हित है। ध्यान यह भी रखें कि यदि कल, परसों या कभी भी **जनवादी लेखक संघ** से जिस भी लेखक ने अपने को अलग करना है, इस तोहमत को मोल लेते हुए ही कि अपने घृणित उद्देश्यों की पूर्ति न होने पर उसने यह मक्कारी की है।

आप जरा '**कथन**' में **रमेश उपाध्याय** के सम्पादकीय के अंतिम अंश देख लें। किस सफाई के साथ उन्होंने पहले ही यह स्थापना दे दी है कि **जनवादी लेखक संघ** से निकट भविष्य में जो भी लेखक बाहर निकलेंगे

(या निकाल दिये जायेंगे) वो सिर्फ मक्कार लोग होंगे। **जनवादी लेखक संघ** के सर-संचालकों के छद्म तथा अवसरवाद से मोहभंग के कारण भी कुछ लेखक अलग हो सकते हैं, इसकी गुंजाइश उन्होंने पहले ही अंतिम रूप से समाप्त कर दी है।

जैसे कि पहले भी भाषा का प्रश्न उठाया गया था, आप इस **जनवादी लेखक संघ** के मूर्द्धन्यों के वक्तव्यों की भाषा के बाद भी क्या आशा करते हैं कि ये लेखकों के या कि समाज के लिए कुछ कारगर संघर्ष कर सकते हैं ? यहाँ **फेदिन** का यह कथन याद आ रहा है कि **'सचाई भाषा की पहली शर्त है।'** और आप देखें कि इन लोगों के वक्तव्यों, यहाँ तक कि घोषणा-पत्रों में भी सिर्फ झूठ है, क्योंकि इनमें सच या कि विश्वसनीय लग सकने वाली बातें भी सिर्फ झूठ के आवरण के रूप में इस्तेमाल की गई हैं। आप क्या ऐसा सम्भव मानते हैं कि विश्वयुद्ध के खतरों, देश में अधिनायकवादी रुझान के खतरों, पूंजीवादी व्यवस्था के द्वारा जनता के शोषण-उत्पीड़न के खतरों, तमाम पूंजीवादी प्रकाशन-प्रसारण माध्यमों के जनवादी साहित्य तथा जनवादी लेखकों के विरुद्ध खतरों—एक ओर इन तमाम सर्वग्रामी खतरों के विरुद्ध संघर्ष, तथा दूसरे छोर पर लेखकों की आत्मनिर्भरता के लिए रायल्टी की समस्या हल करने तथा सहकारी प्रकाशन संस्थाओं की स्थापना की योजनायें, ये दोनों साथ-साथ किये जा सकने वाले काम हैं ? कोई व्यापारी यदि जुझारू उद्घोषणा करे कि वह अपने उद्योगों के द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार जगत में भूकम्भ की स्थिति उत्पन्न करेगा—लेकिन आत्मनिर्भर होने के लिए दिल्ली की पराँठेवाली गली में चाँट-पकौड़ी का खोमचा लगायेगा···तो आप मानेंगे कि वह और कुछ न सही, तो कम से कम अपनी उद्घोषणाओं के तेवर की इज्जत रखने के निमित्त जरूर कुछ करेगा ?

मुझे मन्नूजी का वक्तव्य ज्यादा प्रासंगिक और ईमानदार लगा। लेखक का यह दायित्व है कि वह सन्दर्भों के गहरे विवेचन में जाये और

शंकायें बनती हों, तो उन्हें प्रकट करे। शंका—यह मूलभूत रूप से अपेक्षित पक्ष है, क्योंकि यह विवेचन और पड़ताल के बाद खरी उतरने वाली बात को विश्वसनीय मानती है—भेड़चाल या भेड़ियाधसान में से निकलने वाले तर्कों के अन्धस्वीकार को नहीं। शंका करना निषेध करना नहीं होता।

क्या आपको यह जरा भी शंका नहीं हुई कि ये जो लेखक यहाँ ऐन **दिल्ली-दरबार** के सामने मेला मना रहे हैं, इनके भीतर कहीं भी उन सब बातों के निमित्त संघर्ष करने का कोई संकल्प तो क्या, सामान्य इरादा तक क्यों नहीं है, जिनका कि इन्होंने अपने घोषणा-पत्रों, दस्तावेजों तथा वक्तव्यों में उल्लेख किया है? **क्योंकि वैसी संकल्पबद्धता इनमें होती, तो अपने कर्म का औचित्य खुद की ही पीटी हुई तालियों की गड़गड़ाहट और 'जिन्दाबाद' के नारों से सिद्ध करने की आत्मतुष्टियों में इन्हें नहीं जाना पड़ता।**

क्या इतनी मोटी बात भी आपको दिखी नहीं कि पाँच सौ लेखकों के महासंगठन का ऐतिहासिक महत्व का अभ्युदय हो और यह उस व्यवस्था के लिए कहीं से भी किसी चिंता का विषय नहीं हो—जिसे कि ये उखाड़ने जा रहे हों? यह स्थिति पाँच सौ लेखकों के लिए क्या कहीं से भी विचार का प्रश्न नहीं बनना चाहिए था कि उनका ऐतिहासिक महत्व का महागठबन्धन व्यवस्था की दृष्टि में पेट बजाने वाले लेखकों की हाय-तौबा से ज्यादा कोई अर्थ क्यों नहीं बना पा रहा? क्या व्यवस्था सचमुच इतनी ही उदात्त होती है? जबकि वास्तविकता यह है कि **जनवादी लेखक संघ** के महाभियान में तो पाँच सौ लेखक इकट्ठा हुए—किन्तु समाज से प्रतिश्रुत सिर्फ पाँच लेखक इकट्ठा हों, तो व्यवस्था उनका **'उपाय'** शुरू कर देगी। और तब वहाँ तालियों की गड़गड़ाहट और 'जिन्दाबाद-जिन्दाबाद' के प्रफुल्ल निनाद का वातावरण अन्तर्धान होगा।

माफ कीजियेगा, इस तरह के आनन्दोत्सवों का औचित्य सिर्फ अवसरवादियों के लिए होता है और आकर्षण सिर्फ उन लेखकों के लिए, जो अनुभवहीन, लेकिन भावप्रवण होते हैं और जिन्हें समाजविरोधी व्यवस्था की कोई समझ नहीं होती है। हैरत है कि इनमें से बहुत-से लेखक **मार्क्सवाद** का विशेषज्ञ होने का दावा करते हैं, लेकिन इनकी लफ्फाजी **मार्क्सवाद** की समझ से पूरी तरह शून्य है। अन्यथा ये '**जनवाद**' को '**सर्वधर्म समभाव**' के मुहाने तक नहीं ले जाते।

पाँच सौ सम्मेलनी लेखकों की उत्सव-मुद्रा और तालियों की गड़गड़ाहट से व्यवस्था में कैसी और कितनी दरार पड़ सकती है, इसका कोई पूर्वानुमान जिस लेखक में न हो, उसका नाम **राजेन्द्र यादव** हो, यह अत्यन्त दुखद है। व्यवस्था में क्रांतिकारी परिवर्त्तन से प्रतिश्रुत लेखकों में नौटंकी के पात्रों की जैसी निर्द्वन्द्वता कभी नहीं होती। उनमें व्यवस्था की गहरी समझ, और उसी अनुपात में उसके विरुद्ध जाने के जोखिमों का पूर्वानुमान होता है और उसी परिमाण में भाषा, आचरण और कार्यनीतियों में गम्भीरता। और गहराई। और विश्वसनीयता। अब यहाँ इस बात को दोहराने की अनुमति देंगे कि ये सब बातें चरित्र की माँग करती हैं—नकली भाषा और छद्म आक्रामकता की नहीं। जिनमें लेखक का चरित्र नहीं होता, उनकी हद दर्जे की क्रांतिकारी भाषा से भी सिर्फ पेट बजाये जाने की आवाज उत्पन्न होती है और लेखक का पेट कितना बीहड़ होता है, यह देखने के लिए **प्रगतिशील लेखक संघ** के लेखकों के पेट पर्याप्त मान लिये जाने चाहिए थे।

जनाबे आला, व्यवस्था-विरोध जब प्रदर्शन की वस्तु बन जाय, तब उसका हश्र व्यवस्था की शोभायात्रा में न्यौछावर किये जा रहे खील-बताशे-सिक्के बीनने से आगे कभी जाता नहीं। और आपके लिए वेदना है, तो इसीलिए कि आप यह सब बीनने के इरादे में से **जनवादी लेखक संघ** में गये नहीं हैं और मिलना इसके सिवा कुछ नहीं है।

माफ करेंगे, आप सिर्फ **सद्विश्वास** (गुडफेथ) में शामिल हो गये और ध्यान रखा ही नहीं कि सद्विश्वास का प्रश्न भी **तथ्य का प्रश्न** है और कि तथ्य के किसी भी प्रश्न को बिना पड़ताल के ही हल हुआ मान कर चलना ठीक नहीं ! **प्रगतिशील लेखकसंघ, भारतीय लेखक संघ, समांतर लेखक संघ**–जैसे लेखक सम्प्रदायों की जो दस्तावेजी गवाहियाँ हमें सुलभ हैं, उनका आपने निषेध किया है। और गवाहियों का निषेध करना या तो गैर-ईमानदारी बरतना है और या असावधानी।

अपने सद्विश्वास में आप लेखक के चरित्र की इस बुनियादी माँग से ही बेखबर हो गये कि उसे शंकाओं और जिज्ञासाओं में जाना कभी नहीं चूकना चाहिए।

आप कुछ बतायेंगे कि आखिर १९३६ में स्थापित **प्रगतिशील लेखक संघ** के प्रत्यक्षानुभावों के बाद, वो कौन-से आधार होंगे, जो इस **जनवादी लेखक संघ** की यह विश्वसनीयता सिद्ध करते हों कि चाहे सूर्य पश्चिम से आने लगे, लेकिन इस **जनवादी लेखक संघ** की वही नियति नहीं होनी है ? जबकि पाँच सौ की तादाद में होने के बावजूद इसका साहित्यिक वजन **प्रगतिशील लेखक संघ** से काफी कम है। या आप मानते हैं कि आकाश में ग्रहों के एक कोण में आने[1] के बाद लेखकों का पतन होना असम्भव हो जाता है ? मार्क्सवादी समालोचक **शिवकुमार मिश्र** जी से ही आपने पूछ लिया होता कि छब्बीस साल प्रगतिशील लेखक-संघ में रहने के बाद जिनका मोहभंग हुआ हो, जनवादी लेखक-संघ से मोहभंग होने में उन्हें कितना समय लगेगा ?[2] या कि वहाँ से मोहभंग के बाद, यहाँ मोहभंग न होने की गारंटी क्या होगी ? सिर्फ

---

१. तब सारे ग्रहों के एक कोण में होने की उद्घोषणा थी।

२. **डॉ० शिवकुमार मिश्र** और **असगर वजाहत** ने ज० ले० सं० के सम्मेलन में वक्तव्य दिया था कि ये लोग प्र० ले० सं० से मोह-भंग के बाद इसमें शामिल हो रहे हैं।

क्रान्तिकारी तेवरों वाली उद्घोषणायें ? या कि **जनवादी लेखक संघ** के मुखपत्र **'कथन'** का वह सम्पादकीय वक्तव्य, जो उस प्रत्येक लेखक के लिए शर्मनाक और अपमानजनक है, जो **जनवादी लेखक संघ** में इस शर्त्त पर सम्मिलित किया गया है कि उसकी अवसरवादी-व्यक्तिवादी प्रवृत्तियों तथा मक्कारी से संघर्ष करने के बाद ही संगठन जनवादी ढंग से चल सकेगा ? पहले अवसरवादी-व्यक्तिवादी मक्कारों को संघ में शामिल करके, फिर उनसे संघर्ष की मुहिम चलाने वाले लोग व्यवस्था के विरुद्ध कितनी दूर तक जायेंगे, यह अनुमान लगाना क्या सचमुच कठिन होना चाहिए ।

एक दिन आपने कहा था कि आप अविश्वास से आरम्भ करके विश्वास तक जाते हैं, लेकिन यहाँ आपने विश्वास से प्रारम्भ किया है और लगता यही है कि भोग आपको भुगतना होगा । माना कि विश्वास ही मनुष्य का सबसे बढ़ा सम्बल है, लेकिन जिन चीजों की अविश्वसनीयता हस्तामलकवत् सामने हो, उन पर सिर्फ इस स्वंयस्फूर्त्त सद्‌विश्वास में आस्था केन्द्रित करना कि हो सकता है यह अपनी सीमाओं को लांघकर किसी बड़ी चीज को बनाये जा सकने का निमित्त बन जाय, यह अपने सद्विश्वास की दुर्गति का निमित्त बनना है । बहरहाल फिर कहूँगा कि यह 'व्यक्तिगत आकलन' है और हो सकता है पूरी तरह दुराग्रह, कुढ़न अथवा आध्यात्मिक परास्तता की उपज हो और बहुत सम्भव है कि **जनवादी लेखक संघ** अपनी उद्घोषणाओं के तेवर की इज्जत रखने की खातिर ही सही, सचमुच कुछ सार्थक और मूल्यवान कर ले जाय । ऐसे में आप जब इससे बँध चुके हैं, तो अपना दाय आपको निभाना है । क्योंकि जैसा कि पहले भी लिख चुका कि नैतिक रूप से न बँधना, अनैतिक होना है । **जनवादी लेखक संघ** से प्रतिबद्ध होने के बाद, अब यह आपकी गहरी नैतिक जिम्मेदारी है कि अपने लेखकीय व्यक्तित्व का सम्पूर्ण अवदान इसे दें । हर सम्भव प्रयत्न करें कि जन-

बादी लेखक संघ सचमुच प्रतिमान बन सके कि लेखकों का संगठन हो, तो उसका तेवर और चरित्र कैसा होना चाहिए। लेकिन यह जो आपने लिखा कि यदि **डॉ० धर्मवीर भारती** और **रवीन्द्र कालिया** के विरुद्ध संघर्ष किसी लेखक संघ के माध्यम से किया गया होता, तो हम इतने अकेले नहीं पड़ गये होते—यह सिर्फ सद्विश्वास और विषाद का तर्क है, विचार का नहीं।

कह लेने दीजिये कि तब यह लड़ाई इतनी दूर तक भी कदापि नहीं पहुँचती—न तेवर में, न परिणाम में। सिर्फ तीन-चार लेखक ही इसमें प्रतिश्रुति के स्तर पर थे, लेकिन हमने जहाँ तक इसे पहुँचाया, वहाँ तक जितने मौजूदा लेखक संघ हैं, ये सब मिलकर भी न पहुँचा पाते और इसका जो समापन होता, वह इसमें निहित मूल्यों के नहीं, इस संघर्ष में से कुछ अपने निहितार्थ में निकाल लेने को उत्सुक लेखकों के अनुरूप होता और इसकी परिणति प्रश्नों में नहीं, प्रश्नों के शमन में होती। मूल्यों के संघर्ष में सिर्फ व्यक्तिगत लगावों की हद तक सीमित होना ही द्विविधा और कुंठा में ले जाता है, अन्यथा **संघर्ष, सदैव, स्वयं ही अपना परिणाम भी होता है।** मूल्यगत संघर्ष, सदैव, मनुष्य को वृहत्तर संदर्भों से जोड़ता है। अवमानना का प्रश्न मानवीय मूल्यों का प्रश्न है और मूल्यों का कोई भी संघर्ष कभी भी कोर्ट के फैसलों के साथ समाप्त नहीं होता।

किसी निराशा, कुंठा या आवेग में नहीं—एक लेखक की हैसियत के विचार और विवेचन के आधार पर कहना चाहता हूँ कि फिलहाल की स्थिति यह है कि जितने भी लेखक-संघ चलन में हैं—मेरी बात हिन्दी के लेखकों तक सीमित मानी जाय—एक भी लेखक ऐसा नहीं, जो इस समाज-विरोधी व्यवस्था से समझौता किये नहीं बैठा है। इन तमाम लेखक-संघों की संरचना ही ऐसी है कि इनका रास्ता व्यवस्था की दिशा में जाता है—समाज की नहीं। ये साहित्य अथवा समाज के हितों की चिन्ता में जोखिम उठाने वाले लोग नहीं। ये जहाँ हैं, साहित्यिक या

सामाजिक मूल्यों की तलाश में नहीं, सिर्फ निजी सुविधाओं और सुरक्षाओं की तलाश में विचरण करते लोग हैं ! क्षमता तो दूर, व्यवस्था में दरार डालने की कोई आकांक्षा तक इनमें नदारद है । इससे संकेत यह नहीं कि संघों से बाहर के लेखकों में व्यवस्था में दरार डालने की क्षमता है । यह बाहर-भीतर, सर्वत्र लेखकीय प्रतिश्रुति के अकाल का दौर है ।

आश्चर्य है कि आपको आँखों के आगे का प्रत्यक्ष हुआ नहीं दिख रहा । **प्रगतिशील लेखक संघ** के मूर्द्धन्य लेखकों ने मध्यप्रदेश में पहुँचकर क्या किया है ? क्या इन्होंने उन परिस्थितियों और कारणों के विरुद्ध संघर्ष की नींव डाली है, जिनमें **प्रेमचन्द** या **निराला** या **मुक्तिबोध** को समय से पहले ही अपने समाप्त हो जाने की स्थिति का चुनाव करना पड़ा ? **शमशेरबहादुर सिंह, हरिशंकर परसाई, निर्मल वर्मा**— ये तीनों प्रगतिशील साहित्यकार **प्रेमचन्द, निराला** और **मुक्तिबोध** की पीठ पर, तथा बाकी बचे हुए इनके इर्द-गिर्द क्यों इस तरह जमकर बैठ गये कि समाज की चिंता में अपने को गला देने वाले लेखक जिन प्रश्नों को उपस्थित कर गये थे, वो तमाम ज्वलंत प्रश्न ही नेस्त-नाबूद हो जायें ? और आपको भ्रांति यह सताये जाती है कि लेखकों का संघ-बद्ध होना ही उपाय हो सकता है कि लेखकों के तथा समाज के शोषण-उत्पीड़न के विरुद्ध सार्थक संघर्ष किया जा सके और व्यवस्था में दरार उत्पन्न हो ? आपको क्या सचमुच यह मुगालता है कि **जनवादी लेखक-संघ** व्यवस्था में **प्रगतिशील लेखक संघ** से बड़ी दरार उत्पन्न कर देगा ?

जिस तरह के लेखक इस **जनवादी लेखक संघ** के शिखर पर हैं, ये सामाजिक विक्षोभ और संघर्ष के प्रश्नों को पूँजीवादी व्यवस्था के हित में गडमड करने के अलावा और कुछ नहीं करेंगे, लेकिन आप सद्‌विश्वास में इनमें शामिल हो गये कि ये लेखकीय हितों की सुरक्षा करेंगे ? आप कोरे सद्‌विश्वास में गये, जबकि किसी भी विचारवान लेखक को स्थितियों की ऊपरी सतहों पर नहीं, उनके तलस्पर्शी विवेचन में जाना चाहिए ।

व्यवस्था में दरार डालने के निमित्त कोई लेखक-संघ बने और उसमें **'कुम्भ-स्नान'** को आतुर हिन्दू अध्यात्मवादियों की सी व्याकुलता के स्तर पर सैकड़ों लेखक इकट्ठा हो जायें, तो शंका का न होना समझ का नदारद होना नहीं, तो और क्या माना जाये ? क्या व्यवस्था के विरुद्ध संघर्ष सचमुच इतना ही आनन्दवर्द्धक होता है ? अभयारण्य में निर्द्वन्द्व कुलांचे मारने वाले मृगों में और व्यवस्था के विरुद्ध संघर्ष में वरपक्ष के लोगों की-सी मुद्राओं में उपस्थित होने वाले लेखकों में क्या सचमुच बहुत ज्यादा फर्क होता है ?

भैरव जी का विदाई-भाषण आपने नहीं सुना ? यह बेटी को विदा करते बाप का-सा आकुल-व्याकुल स्वर—यह किसी व्यवस्था में दरार डालने को कृतसंकल्प लेखक संगठन के अध्यक्ष का स्वर हो सकता है ? पाँच सौ लेखकों के द्वारा व्यवस्था के विरोध में किये जा रहे अधिवेशन का उद्घाटन और समापन यदि जैन मुनियों के सम्मेलन या कि **'ब्यूटी कांटेस्ट'** समारोह का-सा स्वस्तिप्रद वातावरण बनाता हो, तो अपने संख्या-बल से वह जो सेतु तैयार करेगा, वह लेखकों और व्यवस्था के बीच का सेतु होगा—लेखकों और समाज के बीच का सेतु नहीं।

पाँच सौ व्यवस्था-विरोधी लेखकों का आनन्दमय महाअधिवेशन—यह सिर्फ तभी सम्भव है, जब व्यवस्था ने **'भो लेखको, ममगृहे, ममगृहे'** कहा हो ! हम हिंदी के लेखक यदि व्यवस्था को इतना बुद्धू सिद्ध करना चाहते हैं कि पाँच-पाँच सौ व्यवस्था-विरोधी लेखकों की गतिविधियों, उनके गंतव्य, चरित्र तथा नीयत से वह पूरी तरह बेखबर है—तो यह सिर्फ धुंध उत्पन्न करना है।

अभी-अभी आँखों के सामने-सामने ही हमारे कुछ क्रांतिकारी लेखक बंधु व्यवस्था में दरार डालने की उद्घोषणायें करते हुए **'व्यवस्था के भीतर'** तक पहुँचे थे ? लेकिन व्यवस्था ने हमारे उन विप्लव-विह्वल

बंधु-बांधवों की वास्तविक मनोवांछा को पहचानते हुए, अपने सर्वग्रासी उदर के किस कोने में, कहाँ इन्हें समो लिया—कुछ पता नहीं चला। …पता चला तो सिर्फ इतना कि—**जे-जे गये, बहुरि नहिं आये।**

अब आप भी व्यवस्था में दरार डालने की मुहिम पर निकल पड़े दिखाई दे रहे हैं, तो मेरे चिंतित होने को स्वाभाविक मानेंगे—और एक पलायित अध्यात्मवादी की इस प्रार्थना को भी कि आपकी वापसी **'गजभुक्त कपित्थ'** की वापसी न बने।

अब आप कहिये कि तुम भी तो बहुत व्यवस्था-विरोधी बनते हो? बनता नहीं, सचमुच हूँ—मगर इस 'अभिज्ञान' के साथ कि—**'कहँ पंडुक, कहँ सिन्धु अपारा'**…दरार डालने में समर्थ होने की कोई गलतफहमी नहीं, क्योंकि वैसा चरित्र नहीं है। व्यवस्था की शर्तों पर व्यवस्था का विरोध करके उसमें दरार डालने की कोई गुंजाइश नहीं होती और व्यवस्था के अनुमति-क्षेत्र से बाहर जाकर विरोध करने का साहस मुझमें नहीं। क्योंकि जैसा कि पहले ही कहा कि न सदाशयता और न सद्‌विश्वास—तैसे ही विरोध की वांछा भी स्वतःसम्पूर्ण नहीं होती। जैसे अब हैं, पाँच लाख लेखक संघबद्ध हों, तब भी व्यवस्था में कोई दरार नहीं डाल सकते, क्योंकि व्यवस्था राजनीति का क्षेत्र है और राजनीति से ही सींधें बेधी जा सकती है। इसी से पहले ही कहा कि व्यवस्था में सत्ता-परिवर्तन को कृतसंकल्प लेखकों को अपने आदर्श के अनुरूप राजनैतिक दल से जुड़ना चाहिए। पृथक-पृथक लेखक संगठन बनाकर व्यवस्था में परिवर्तन की गुंजाइश देखना, व्यवस्था को गलत देखना है, क्योंकि सम्प्रदाय पूँजीवादी व्यवस्था की जड़ों को कमजोर नहीं, मजबूत करते हैं। और **जनवादी लेखक संघ** भी एक सम्प्रदाय

१—हाथी कैथा खाता है, तो गोबर में कैथे का 'आकार' ज्यों-का-त्यों रखता है, 'तत्व' सोख लेता है।

ही है, क्योंकि यह किसी बड़े सामाजिक लक्ष्य से नहीं, बल्कि संकीर्ण निहितार्थों से अभिप्रेरित है।

आपके पत्र के अन्तिम दो पैराग्राफों के सन्दर्भ में यही कहना है कि संघबद्धता के सिद्धान्त को इस हद तक तर्कनिरपेक्ष कदापि नहीं बना देना चाहिए कि सिर्फ इकट्ठा हो जाना ही पर्याप्त प्रतीत होने लगे। मैं संघबद्धता के नहीं, संगठित छद्म के विरुद्ध हूँ। रह गया संवाद—इसकी गुंजाइश सिर्फ वहाँ होती है, जहाँ दिशा और गंतव्य एक हों। जहाँ वैचारिक सहिष्णुता और ईमानदारी हो। जहाँ मनुष्य खुली किताब हो। जहाँ संघर्ष हो, संघर्ष का छद्म नहीं। किसी बेईमान विद्वान् की जगह अपढ़ किंतु अपने कर्म से प्रतिश्रुत व्यक्ति से संवाद में रहना बेहतर होता है। जहाँ प्रतिश्रुति और ईमानदारी नदारद हो, वहाँ संघर्ष भी नदारद होगा—और संवाद सिर्फ संघर्ष में बनता है।

यह मेरा अत्यन्त दारुण समय है और लेखकों में सिर्फ आप हैं कि जिसका कन्धों का सहारा रहा है। आपने वैचारिक ही नहीं, आर्थिक स्तर पर भी हाथ बँटाया। ···इसके बावजूद यदि मुझे लगे कि सच्चाई या **राजेन्द्र यादव** से संवाद—इन दोनों में से एक को खोना है, तो असंवाद को वरीयता दूँगा। जहाँ व्यवहार में सचाई, विचारों में औदात्य नहीं—वहाँ संवाद नहीं, समझौता होता है। संवाद बनाये रखने की शर्त को सौदेबाजी तक ले आने का परिणाम ही है कि आज लेखकों में कहीं कोई 'संवाद' नहीं है। **संवाद के वातावरण को शैलेश मटियानी के व्यक्तिवादी दुराग्रहों ने नहीं, अवसरवादी लेखकों की संगठित सौदेबाजी और गिरोहबंदियों ने ध्वस्त किया है। जनवादी लेखक संघ** भी संघर्षजीवी लेखकों के साहस को तोड़ने के सिवा कुछ नहीं करेगा। इस तरह के संगठन आतंकवाद का दमघोंटू वातावरण तैयार करते हैं—लेखकीय सवालों, अधिकारों और खतरों के बुनियादी सवालों से इनका

कोई सरोकार नहीं होता। जो हमारे संघ में शामिल नहीं, वह प्रतिक्रियावादी मक्कार है—और कि जो हमारे संघ से निकल जायेगा, वह भी प्रतिक्रियावादी मक्कार होगा—यह साहित्यिक गुण्डागर्दी का रास्ता हुआ करता है, लेखकीय संघर्ष का नहीं।

लेखक **'संवाद'** की स्थिति न रह जाने से नहीं, संगठित छद्मवार्त्ता का अभ्यासी हो जाने पर नष्ट होता है। लेखक को उसके संघर्ष से विमुख करके व्यवस्था के प्रांगण में तालियाँ बजाने को इकट्ठा करने वाले लोग संवाद का नहीं, उस वृंदगान का वातावरण बनाते हैं, जिसका लक्ष्य 'दस्तूरी' वसूलना होता है—लेखकीय सवालों, अधिकारों और खतरों से प्रभावशाली ढंग से जूझना नहीं।

स्वीकार करता हूँ कि **जनवादी लेखक संगठन** में आपके शामिल होने के पीछे आपकी उस वेदना और विक्षुब्धता की अहम भूमिका है, जिससे आपका वास्ता मुकद्दमे के दौरान पड़ा। सर्वोच्च न्यायालय के फैसलों ने हम लोगों को मानसिक स्तर पर बुरी तरह स्तब्ध किया और हमने अनुभव किया कि लेखकों के बीच के अलगाव और विघटन के कारण इस संदर्भ में अकेले पड़ जाने की भी भूमिका इसमें है।...लेकिन क्या इस स्थिति का निदान जनवादी लेखक संघ में आपका शामिल हो जाना है? और यहीं यह बुनियादी प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या लेखकों के सवाल पूरे समाज के सवालों से अलग होते हैं? क्या यह सम्भव भी है कि समाज के संकट तो ज्यों-के-त्यों बने रहें, लेकिन लेखकों के संकटों का निदान हो जाए? माफ कीजिएगा, समाज के संकटों को समाज के लिए छोड़कर, अपने लेखकीय संकटों का निदान निकालने का यह संगठित रास्ता लेखक को समाज से काटकर व्यवस्था का उपादान बनाने का रास्ता है—लेखकीय सवालों से जूझने का नहीं। **प्रगतिशील लेखक संघ** से लेकर **जनवादी लेखक संघ** तक सारे-के-सारे लेखक संघों का यही हाल है।

हमारे संघर्ष को कहीं व्यक्तिगत प्रतिष्ठा की लड़ाई न मान लिया जाये, सिर्फ इस भय में **'संघ-शरणं गच्छामि'** करना—यह अपनी अस्थिर चित्तता का प्रमाण देना है, संघर्ष को ज्यादा प्रभावी बनाने की दिशा में कदम उठाना नहीं। किसी भी संघर्ष का औचित्य उसमें शामिल लोगों की संख्या से नहीं, उस संघर्ष में निहित मूल्यों से तय होता है और हमने लेखकीय सवालों और मूल्यों का संघर्ष किया है, इसमें मुझे कहीं कोई संशय नहीं। और यह कारण है कि इसके परिणाम से सिर्फ स्तब्ध हुआ हूँ, ध्वस्त नहीं। मेरा विषाद मुकद्दमा हारने का नहीं, मनुष्य की त्वचा से भेड़िए की खाल का काम लेने वाले लोगों के साक्षात्कार का है। उन स्थितियों के संघात का है, जिनकी चपेट में आज वह प्रत्येक व्यक्ति है, जिसने अपनी संवेदना को बेच नहीं खाया है।

हो सकता है, पारिवारिक संकटों के बीच मानसिक तौर पर भी टूट जाऊँ। हो सकता है, लिखना-पढ़ना-जीना सब चौपट हो जाय। अपनी अंतिम नियति कोई नहीं जानता।...लेकिन इतना कह सकता हूँ कि ऐसा इसलिए नहीं होगा कि अपने व्यक्तिवादी-अध्यात्मवादी रुझानों के कारण हिन्दी के व्यवस्था-भंजक लेखकों के संवाद से वंचित हो गया। अनुभव से जानता हूँ कि लेखक जब भी नष्ट होता है, अपने पतनशील चरित्र, संवेदना में क्षय और संघर्षविमुखता के कारण नष्ट होता है—'संघियों' से संवाद न रह जाने के कारण नहीं।

ऐसे में, इतना विनयपूर्वक कहना है कि अपने नष्ट होने का निमित्त किसी अन्य को मानने में कोई रुचि नहीं है। लेखक वही टिकता है, जिसकी जड़ें परम्परा में होती हैं। जिसकी संवेदना के अन्तःस्रोत समाज में होते हैं। जो देश, काल और परिस्थितियों के पूर्वापर प्रसंगों में जाता है। जो तात्कालिक आवेगों में नहीं, विचार और विवेचन में जाता है। जो भीति से नहीं, भाषा से परिचालित होता है।

परिस्थितियों के संघात कभी-कभी इतने बीहड़ होते हैं कि इन्द्रियाँ

खो बैठता है आदमी।...लेकिन जिनमें दृष्टि होती है, वो स्थितियों के संघात के भी विवेचन में जाते हैं और स्तब्धता में से उबरते है, तो पहले से बेहतर सुनते, देखते और रचते हैं। लेखक होने का तर्क कभी सामान्य नहीं होता। कैसी भी भयावह परिस्थितियों में वह संवेदना नहीं गँवाता। इसीलिए सिर्फ संवेदित होता है, ध्वस्त नहीं।

लेखक को प्रताड़ित करना तभी आसान होता है, जब उसमें से संवेदना जाती रही हो। विषाद यह नहीं कि **डॉ० धर्मवीर भारती, रवीन्द्र कालिया** या कि अन्य ने अस्मिता पर लात क्यों मारी—चिन्ता और वेदना यह है कि यह लेखक होना क्या हुआ, कि जो चाहे लात मारता निकल जाये।...और इस चिंता तथा वेदना ने ही विवेचन में किया और फिर इस विनय में कि लेखक को जैसा होना चाहिये, वैसा न होने के कारण यह हुआ। अन्यथा, जैसा कि अन्यत्र भी कहा, परिस्थितियों के संघात लेखक को सिर्फ संवेदित करते हैं और वह सारे संकटों को संघर्ष के नितांत स्वाभाविक परिणामों के रूप में देखता है।

अब तक के सारे लेखे-जोखे से तो यही लगता है कि जो-कुछ मनुष्य के साक्षात्कार का निमित्त बन जाय, उससे शिकायत क्यों हो। स्तब्धता के सन्नाटे में मद्धिम-से-मद्धिम आवाज भी सुनाई दे जाती है। ऐसे में अपने विषाद को एकाग्र होकर सुनना—अपने स्वभाव, चरित्र और गंतव्य को ज्यादा बेहतर पहचानने की तमीज देता है।

ऐसा है, राजेन्द्र भाई, कि सारा संकट स्वभाव का है। संवाद के स्तर पर बिरादरी-बाहर होते जाना, यह भी स्वभाव का संकट है। लेखक-मात्र के प्रति सिर्फ आत्मीयता और सिर्फ समादर में रुचि रखने के बावजूद लेखकों की नाराजगी का जोखिम मोल लेना—यह शौकिया तौर पर नहीं, जानबूझकर किया है और इसके सारे दण्ड स्वीकार हैं, लेकिन स्वभाव के विनिमय में संवाद का सौदा नहीं। 'संवाद' को गिरोह या सौदेबाजी के

स्तर पर चलाने का धंधा सिर्फ वो लेखक करते हैं, जो संवेदना और विचारों की खरीद-फरोख्त का रोजगार रखते हैं। मुझसे जितना बन पड़ा, लेखकों के साथ संवाद की ही कोशिश की है और आज भी यही मानना है कि विचार और तर्क में जाना संवाद का निषेध करना नहीं होता।

आपके तर्कों में ज्यादा सार बनता यदि आप लिखते कि **जनवादी लेखक संघ** के संगठनकर्त्ता लेखकों के चरित्र पर आपको विश्वास है। विश्वास है कि ये लोग व्यवस्था से अपने-अपने निमित्त वसूलने के इरादे में नहीं, बल्कि लेखक-मात्र के हितों की चिन्ता में संगठित हुए हैं। अन्यथा सिर्फ इस सद्विश्वास में गलत लोगों में शामिल हो जाना कि शायद, अपनी सीमाओं को लाँघकर किसी बड़ी चीज को बनाया जा सके—यह अपने सद्विश्वास की दुर्गति अपने ही हाथों करने के सिवा कुछ नहीं। सीमायें लाँघने में न चूकने वाले इनमें बहुत हैं, लेकिन व्यक्तिगत स्वार्थों की नहीं, बल्कि लेखकीय गरिमा और नैतिकता की। मेरी बात को सिर्फ नेता लेखकों तक सीमित माना जाये—शेष तो बेचारे संवाद के मोह, प्रचार की वांछा, अकेला पड़ जाने के भय अथवा सद्विश्वास के तहत शामिल हुए हैं।

आप अपने लिए कुछ लेने के इरादे में से नहीं गये हैं और इसीलिए **जनवादी लेखक संघ** में सबसे अधिक दुर्गति आपकी होनी है। जब आप किसी बड़ी चीज के निमित्त इन्हें उतिष्ठ और जागृत देखना चाहेंगे, तभी आपको समझ में आयेगा कि ढपोरशंखों के संघ में शामिल होने की नियति क्या होती है। आप कहेंगे कि लेखकों के शोषण-उत्पीड़न के विरुद्ध कोई कारगर कदम उठाया जाना चाहिए—ये कहेंगे, सम्पूर्ण पूँजी-वादी व्यवस्था को उलट डालना है!…आप कहेंगे, हमें इस देश की पूँजीवादी व्यवस्था में दरार डालनी है—ये कहेंगे, अन्तर्राष्ट्रीय दलाल पूँजीवाद की जड़ें उखाड़ फेंकनी हैं!…मोहभंग में आप '**त्यागपत्र**' प्रस्तुत करेंगे, तो ये कहेंगे—**प्रतिक्रियावादी मक्कार वापस जा रहा है!**

ये अत्यन्त निष्णात जन हैं। अपने निहित स्वार्थों की सिद्धि की शिविरबद्धता को पूँजीवादी-साम्राज्यवादी व्यवस्था के विरुद्ध संघर्ष—दूसरों के मूल्यगत संघर्ष को व्यक्तिवादी-प्रतिक्रियावादी रुझानों या कि व्यक्तिगत मान-प्रतिष्ठा की लड़ाई सिद्ध कर देना इनके 'बाँये हाथ का खेल' है। जो **मार्क्सवाद** का रोजगार करने में समर्थ हैं, उनके लिए **'जनवादी लेखक संघ'** की क्रांतिकारी उद्घोषणाओं और तेवरों का विनिमय कहाँ कठिन होगा ?

फिर भी हो सकता है कि मेरा लिखा व्यक्तिगत कुंठा और पूर्वग्रह की उपज हो। ऐसे में, **'जनवादी लेखक संघ'** के माध्यम से किसी **'बड़ी चीज़'** की निर्मिति में सफल हो सकें, तो सूचित जरूर करेंगे। अन्यथा मेरी चिन्ता तो यही है कि अपनी व्यक्तिगत सीमाओं को लाँघना ही पर्याप्त नहीं होता, देखना यह भी जरूरी होना चाहिए कि लाँघकर आप पहुँच कहाँ रहे हैं। जहाँ आप पहुँच गये हैं, यह लेखकों के अधिकारों, अस्तित्व की मूल सुरक्षा अथवा संरक्षण की शर्तों की हिफाजत की जगह नहीं—लेखकों के ईमान के तिजारत की जगह है।

रह गया **'चरित्र की स्वाभाविक कमजोरियों'** का प्रश्न, तो आप यह क्यों भूल जाते हैं कि इसके परिणाम भी अत्यंत स्वाभाविक ही होने हैं। **जनवादी लेखक संघ** के परिणाम प्रगतिशील लेखक संघ के परिणामों से भिन्न नहीं, बल्कि बदतर और विकृत निकलेंगे, क्योंकि जिस तरह के लेखक इस महासंघ का नेतृत्व कर रहे हैं, इनकी 'स्वाभाविक कमजोरियाँ' अत्यन्त विकट हैं।

आखिर आप भी तो अपनी इस स्वाभाविक कमजोरी के ही आखेट हुए हैं कि भ्रष्ट लेखक जब संघबद्ध हो जायेंगे, तो किसी **'बड़ी चीज'** का निर्माण जरूर करेंगे। यह **'गुण'** की जगह **'मात्रा'** पर जाने का स्वयं-स्फूर्त सद्विश्वास, कहने की अनुमति दें, वैचारिक दीवालियेपन का सूचक है।

बड़े भैया, हो सकता है आप कुछ न लेने के इरादे से ही **जनवादी लेखक संघ** में गये हों।…मगर कुछ लिये बिना लौटना सम्भव होगा नहीं। अब तो या आप शामिल हो चुकने की शर्म में वहीं विद्यमान रहेंगे—और या मोहभंग की यातना तथा संघबद्ध प्रताड़ना साथ लेकर लौटेंगे।

आपका लौटना अपेक्षाकृत अनुभवसम्पन्न तथा जीवंत लेखक का लौटना हो, यही कामना है। क्योंकि तब आप सचमुच लेखक-मात्र के हित के संघर्ष में ज्यादा मूल्यवान भूमिका निभा सकेंगे।

शेष आपका पत्र आने पर।

आपका—**शैलेश मटियानी**

• •

इलाहाबाद

राजेन्द्र भाई, **२१ जून १९८३**

यह पत्र इसलिए कि **'जनपक्ष'** के लिए आपके विचार उगाहने हैं। **'जनवादी लेखक संघ'** के निमित्त से लेखकों के एकजुट होने तथा लेखकों की भूमिका के अन्य अहम् मसलों पर एक सार्थक बहस सामने आ सके, इतना भर मंतव्य है।

आप लेखन तथा समाज-सम्बन्धी प्रश्नों से काफी पहले से जुड़े रहे हैं और समय-समय पर आपने स्वयं बहुत-से प्रश्न उठाये हैं। **'लेखक चला सम्पादक की चाल'** लिखकर हिन्दी के लगभग सभी समकालीन मूर्द्धन्य सम्पादकों की नाराजगी मोल लेने का जोखिम आपने उठाया, तो लेखन सम्बन्धी मूल्यों से गहरे सरोकारों के कारण ही। दरअसल यह भीतरी सरोकार ही अब तक आपको दो-टूक लिख सकने की स्थिति में रखता

आया है और आप अपने इस स्वभाव को अब आकर एक किनारे कर देंगे, यह मान लेना गलत लगता है। यही बात आपसे प्रश्न पूछने का आधार बनाती है कि आप अपने सोच-विचार को खेमाबन्द नहीं करेंगे। बहुत सम्भव है कि इस सन्दर्भ में आपने इस बीच कुछ लिखा हो।

जनवादी लेखक संघ का जो परिपत्र मुझे पढ़ने को मिला था, उस पर हालाँकि प्रतिक्रिया व्यक्त कर चुका, लेकिन यहाँ फिर से यह सवाल उठाना चाहता हूँ कि क्या आपको सचमुच ऐसा प्रतीत होता है कि इस लेखक-संघ की बुनियाद **प्र० ले० संघ** से बेहतर है ? और यदि बुनियाद भिन्न नहीं है, तो परिणामों के भिन्न होने की आशा आप किस आधार पर करते हैं ?

वह पूरा प्रपत्र[1] छद्म और झूठ से भरा है। सचाई की उसमें कहीं छाया तक उपस्थित नहीं। **जनवादी लेखक संघ** के संचालकों का यह दावा कि वो प्रशिक्षण शिविर लगाकर जनवादी लेखक तैयार करेंगे—कहानी लेखन महाविद्यालय, अम्बाला के दावों से भी गया-गुजरा है। '**जनवादी लेखक संघ** में लेखक कम, अलेखक ज्यादा क्यों' के उत्तर में इसके संचालकों ने जो यह तर्क गढ़ा है कि प्रत्येक व्यक्ति में एक सम्भावित लेखक विद्यमान होता है—यह '**प्रत्येक जीव में ब्रह्म के निवास**' के पोंगा तर्क से किस अर्थ में भिन्न है ?

सम्भावना का तर्क तो कहीं भी ले जा सकता है, क्योंकि '**प्रत्येक व्यक्ति में एक सम्भावित लेखक**' की दलील प्रत्येक व्यक्ति में एक सम्भावित पूँजीपति, सम्भावित सर्वहारा, सम्भावित डाकू, सम्भावित संत, सम्भावित मूर्ख, सम्भावित विद्वान् और सम्भावित विदूषक और सम्भावित वैज्ञानिक से लेकर, प्रत्येक व्यक्ति में एक सम्भावित **लेनिन-मार्क्स-बुद्ध-गाँधी-ईसा-मूसा**—कहीं तक भी जा सकती है ? सवाल यह है कि क्या विज्ञान '**प्रत्येक व्यक्ति में एक सम्भावित वैज्ञानिक**' के तर्क पर चलता

---

१. वह प्रपत्र दिल्ली-यात्रा में राजेन्द्र जी ने पढ़ने को दिया था।

है ? या कि राजनीति **'प्रत्येक व्यक्ति में एक सम्भावित राजनैतिक नेता'** के तर्क पर ? तब साहित्य में **'प्रत्येक व्यक्ति में एक सम्भावित लेखक'** की दलील देना क्या सिर्फ एक निहायत मूर्खतापूर्ण चालबाजी बरतने के अलावा और कुछ हो सकता है ?

सम्भावित, प्रत्येक व्यक्ति में, बहुत-कुछ हो सकता है, लेकिन सम्भव सिर्फ उतता ही होता है, जितने के लिए मनुष्य उद्यम और संघर्ष करता है। और जितनी कि उसमें प्रतिभा होती है, तथा जितना उसे वातावरण और अवसर सुलभ होता है। जिन लोगों के लिए लेखक होने और रंगरूट होने में **कोई फर्क** न हो, उनकी पहली कतार में **राजेन्द्र यादव** की उपस्थिति लेखक की नियति का कितना बड़ा मजाक है ?

मेरे लिए आपका **जनवादी लेखक संघ** में होना कहीं से भी आपत्ति-जनक नहीं होता, यदि आपकी उपस्थिति इसमें एक विचारवान लेखक की होती। यदि आप जनवादी लेखक संघ के तत्वाधान में संयोजित होने वाली योजनाओं और इसके वैचारिक आधारों पर बहस कर सकने की स्थिति में होते। जो प्रपत्र मैंने पढ़ा था, वह वैचारिक दीवालियेपन और नये लेखकों को गुमराह करके, निहित स्वार्थों के लिए उनके इस्तेमाल की घातक मनोवृत्ति का सूचक था। हो सकता है, इस प्रपत्र के तैयार किये जाने में आपने 'पार्टिसिपेट' न किया हो, लेकिन 'पार्टिसिपेट' न करना तब और गलत हो जाता है, जब नाम जुड़े रहने पर आपत्ति न हो। यह आपकी नैतिक जिम्मेदारी बनती है कि या तो **जनवादी लेखक संघ** के नाम पर प्रचारित होने वाले प्रपत्रों के तैयार किये जाते समय आप वैचारिक बहस में जायें और गलत बातों का निराकरण करा लें---और या जो-कुछ भी प्रचारित हो, उसका समर्थन करें।

यदि आप भीतर से सहमत हैं कि **जनवादी लेखक संघ** के प्रपत्रों में व्यक्त किये गए विचार तर्कसंगत और लेखक तथा समाज के हित में हैं—तब ठीक है।—लेकिन यदि सहमत नहीं, तो आपको बहस में जाना

चाहिए और बहस में जाने पर ही आपको इस बात का सही अनुमान हो पायेगा कि संघ में आपको वैचारिक बहस चलाने या प्रश्न उपस्थित करने के लिए नहीं, बल्कि दलगत नीतियों पर स्वीकृति की मुहर लगाते रहने के लिए सम्मिलित किया गया है ।

क्या आप बतायेंगे कि अपने इस्तेमाल में आने वाले लेखकों के चुनाव तथा न आने वालों के निषेध की **भारती-कमलेश्वर** वाली कुत्सित सम्पाद-कीय मनोवृत्ति से यह नए लेखकों के अपने निहित स्वार्थों की राजनैतिक सौदेबाजी के लिए इस्तेमाल की प्रवृत्ति कैसे कम प्रपंचपूर्ण है ? और कि यदि एक प्रपंच का विरोध दूसरे प्रपंच के समर्थन में पहुँचकर समाप्त हो, तो इसका एकमात्र अर्थ क्या यह नहीं निकलता कि आपत्ति प्रपंच से नहीं, उसमें अपनी मूर्द्धन्यता न होने को लेकर है ?

आपत्ति का विषय लेखकों का संघबद्ध नहीं, गिरोहबंद होना होता है । यह पूरी तरह सम्भव है कि किसी राजनैतिक दल या जीवनदर्शन से प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष तौर पर सम्बद्ध लेखकों के द्वारा सामाजिक प्रश्नों को ज्यादा व्यापक और कारगर ढंग से लोगों की चेतना से जोड़ा सके । राजनीति और लेखन परस्पर भिन्न कर्म जरूर हैं, लेकिन एक-दूसरे के बाधक नहीं, क्योंकि दोनों ही समाज के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथा अनिवार्य अंग हैं । जब भी राजनीति में सामाजिक संघर्ष अपने वास्तविक रूप में प्रकट होता है, साहित्य को भी प्रेरित करता है । सच्ची राजनीति और और सच्चा लेखन, ये दोनों एक-दूसरे के पूरक होते हैं, एक-दूसरे की बाधा नहीं । जहाँ गंतव्य एक हो, वहाँ रास्तों का भिन्न होना भी आधार बनता है । शोषणमुक्त समाज की संकल्पना और इस निमित्त संघर्ष से जुड़ी राजनीति और लेखन में सदैव ही एक सहभागिता होगी ।

मूलभूत प्रश्न सचाई का है । आज जो सामाजिक शोषण-उत्पीड़न के इतने भयंकर पूँजीवादी मायाजाल के बावजूद सामाजिक वेदना और विक्षोभ को कहीं कोई सही दिशा नहीं मिल पा रही है, इसका कारण

राजनीति और लेखन, दोनों क्षेत्रों में व्याप्त झूठ और प्रपंच है। राजनीति के छद्म ने ही ऐसे चालाक और अवसरवादी लेखक-पत्रकारों को प्रश्रय दिया है, जो पार्टियों का पुंगीवादन भी सौदेबाजी के स्तर पर करते हैं।

यह अत्यन्त कठिन समय है और ऐसे समयों में ही लेखक की सचाई की परख होती है। सोच-विचार का स्वरूप ही नहीं, पद्धति तक इस एक बात में से तय होती है कि इसके मूल में सचाई है या नहीं। यहाँ दोहरा लिया जाय कि **फेदिन** का यह कथन, कि **'भाषा की पहली शर्त सचाई है।'** प्रत्येक लेखक को याद रखना चाहिये।

दरअसल लेखक की भाषा से ही हम जान पाते हैं कि स्थितियों और प्रश्नों के प्रति उसके सरोकार कितना गहरा अर्थ रखते हैं। लेखक की सचाई जब उसकी भाषा में प्रकट होती है, तभी अपने वाचकों को संवेदित तथा प्रभावित करती है। जिन लेखक संघों की बुनियाद में से सचाई नदारद हो, उनके द्वारा लेखक तथा समाज के हितों के लिए संघर्ष किये जाने की बात सिवा सफेद झूठ के कुछ नहीं। गलत हो सकती है, लेकिन **जनवादी लेखक संघ** के वर्त्तमान ढाँचे के बारे में मेरी यही धारणा है कि इसका लेखन या समाज के प्रश्नों से कोई सरोकार ही नहीं है। यह चंद अवसरवादी लेखकों के द्वारा राजनैतिक सौदेबाजी के निमित्त निर्मित किया गया माया-सरोवर है और इसमें जो भी लेखक समाज और साहित्य के वास्तविक प्रश्नों से जुड़ने की मिथ्याशा में जायेगा, ध्वस्त होगा।

झूठ और छद्म लेखक की क्षति करते हैं, इसमें जिन्हें संशय हो, उनके लिए हिन्दी में इसके मूर्तिमान उदाहरणों की कमी कत्तई नहीं है। ...लेकिन इतना जरूर है कि जो लेखक के रूप में चुक गये हैं और जिन्हें घटिया लेखन करके भी अपने को प्रतिष्ठित कराना है—ऐसे चालाक लेखकों के लिए ऐसी संस्थायें वास्तव में मुफीद होती हैं।

शेष आपका पत्र आने पर।

आपका

शैलेश मटियानी

संगठन के युक्तिसंगत आधार

नयी दिल्ली

प्रिय शैलेश, ८ सितम्बर १९८२

तुम्हारा पत्र मिल गया था। जिस प्वाइंट पर तुम मुझे बार-बार कहलवाना चाहते हो, वह मैं जान-बूझकर इसलिए नहीं कह रहा हूँ कि संगठन में जैसी घुटन और अंकुश की आशंका के अंदेशे से तुम दुबले हुए चले जा रहे हो, वैसा मैं अभी कुछ भी नहीं महसूस करता। जिस दिन महसूस करूँगा, उस दिन बिना एक क्षण लगाये अपने को अलग कर लूँगा। प्रायः मैं आशंकाओं में से अपने निर्णय निकालने से बचता हूँ और उन्हीं के तहत तुम्हारा विश्वास न व्यक्तिगत प्रयासों में है और न ही संगठनों में, क्योंकि तुम दोनों को एक-दूसरे के लिए स्थानापन्न मान कर चलते हो। मेरे लिए यह दो अलग धरातलों पर चलने वाली प्रक्रियायें हैं, जहाँ वे एक-दूसरे के मूलभूत कार्यों या प्रयासों में हस्तक्षेप करती हैं, वहीं अपने उद्देश्य से विचलित हो जाती हैं। अस्तित्व-रक्षा के लिए संगठन व समाज की आवश्यकता होती है। और व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति व्यक्ति की अपनी मौलिक प्रतिबद्धता है। चूँकि मेरे सामने इन दोनों के 'फंक्शन' सुनिर्धारित हैं, इसलिए मैं तुम्हारी तरह इन प्रश्नों की हवाई बारीकियों से आक्रांत नहीं हूँ। और अपने नये समाचार देना। आशा है, स्वस्थ-सानन्द हो।

सस्नेह

राजेन्द्र यादव

प्रिय बटरोही,

तुम्हारा लम्बा पत्र मिला। इस पत्र में तुमने कुछ बहुत ही महत्वपूर्ण मुद्दे उठाये हैं और मैं भी समझता हूँ कि उन पर व्यक्तिगत पत्र-व्यवहार न करके, उन्हें किसी ऐसे माध्यम से उठाया जाना चाहिए, जहाँ और लोग भी हिस्सा ले सकें। क्योंकि ये समस्यायें हम सभी की हैं।[1] सबसे पहले तो मैं स्वीकार कर लूँ कि तुम्हारे सवालों के मेरे पास कोई भी बने-बनाये उत्तर या समाधान नहीं हैं। वैसे भी बड़े भाई के पद पर बैठते ही लाल बुझक्कड़ की तरह सवालों के जवाब देने की हास्यास्पद स्थिति से बचना ही चाहूँगा।

जिन दिनों एमर्जेन्सी लागू हुई थी और अखबार सेन्सर होने लगे थे, तो **महादेवी जी** ने भी विरोध किया था, तब किसी ने मजाक में कहा कि **'मधुर-मधुर मेरे दीपक जल'** या उपनिषदों के अनुवाद से किस एमर्जेन्सी को क्या आपत्ति हो सकती है? बुरा न मानना, तुम्हारी समीक्षाओं और कथाकृतियों में क्या सममुच ऐसा कुछ विस्फोटक है कि बड़ी पत्रिकायें और प्रकाशक उन सबको जन-सामान्य तक न पहुँचने देने का षड्यन्त्र किये हुए हैं? तुम्हारे ही नहीं, यह बात अधिकांश हिन्दी-लेखन के लिए सही है। जिस चलते मुहावरे में तुमने आठवें पन्ने पर कहा है कि 'लेखक की जड़ें अगर आम आदमी के मन में गहरी हैं तो अपने अस्तित्व की चिन्ता करने की उसे जरूरत नहीं है।' उसी भाषा में मैं भी जवाब दे सकता हूँ कि उस स्थिति में अगर उसे संगठन की जरूरत नहीं है, तो वह किसी प्रकाशक या पत्र-पत्रिका का मोहताज भी क्यों हो? **सूर-तुलसी** को कब संचार-माध्यमों की ये सुविधायें मिली थीं? मगर नहीं,

---

१—श्री बटरोही का पत्र 'जनपक्ष' संख्या ८ (१९८२) में प्रकाशित किया गया। यहाँ राजेन्द्र-द्वारा उन्हें लिखे गये पत्र में से कुछ संदर्भित अंश दिये गए हैं।

बात आज इतनी सरलीकृत नहीं है। संचार-माध्यमों की लेखक को जरूरत है, और ये सारे माध्यम आज संस्थान, संगठन या व्यवसाय-केन्द्रित हैं। इधर-उधर न भटककर अब सीधा-सा मुद्दा यह है कि इनसे हमारे, यानी लेखक के सम्बन्ध क्या हों ? सम्बन्ध हों, या न हों ? न होने में कोई समस्या नहीं। जटिलतायें होने में हैं।

स्रोत और सेतु चाहें जितने सामाजिक हों, लेकिन यह तुम भी मानते हो कि लेखन एक व्यक्तिगत प्रक्रिया है। दूसरी तरफ विचार या व्यवसाय का कोई भी संस्थान, यानी इन्स्टीट्यूशन, एक संगठित इकाई है, और इसके होने, बने रहने या फलने-फूलने की अपनी शर्तें हैं। अगर कोई संगठन अपनी इन शर्तों का पालन या हितों की देख-भाल नहीं करता तो समाप्त हो जाता है। जिस तरह जमीन से जुड़े हुए किसान की अपने हितों, हानि-लाभ को लेकर एक सहज दृष्टि और चौकन्नी निगाह होती है, ठीक उसी तरह पूँजीवादी व्यवस्था में इन व्यावसायिक संस्थानों में भी वही दृष्टि होना लाजिमी है। मूल इन सबका 'सर्वाइवल-इन्सिटिंक्ट' होती है, बाकी पैंतरे और बारीक चालें अपने-आप, या स्थितियों के दबाव से विकसित हो जाते हैं। जैसे एक विशेष भौगोलिक 'क्लाइमेट' में पेड़-पौधे, पशु-पक्षी सभी एक-दूसरे से ताल-मेल बैठाते हुए अपने को ढाल लेते हैं, वही कुछ स्थिति यहाँ है। यहाँ बदलाव थोड़ा-बहुत ही किया जा सकता है, आमूल नहीं। उसके लिए या तो 'क्लाइमेट' बदलनी होगी या सारे जीव-वनस्पति को नष्ट करना होगा। वैसे कहते हैं, आदमी ने जंगलों को काटकर 'क्लाइमेट' भी बदली है।

तो यह है व्यवस्था, या उसके अवयव संस्थानों का चरित्र। अब इसके साथ सम्बन्ध निर्धारित करने हैं तो उस व्यक्ति को, जो इस व्यवस्था का समर्थन नहीं कर पाता। मेरी समझ में ये सम्बन्ध तीन ही हैं। व्यवस्था अपनी शर्त्तों पर व्यक्ति को अपना हिस्सा बना ले, उसके सारे कोने और नोकें झाड़ दे। या फिर व्यक्ति की शर्त्तों और अपने चरित्र के

बीच एक लचीला संवाद कायम कर ले और व्यक्ति को यह मुगालता बना रहने दे कि वह अपनी शर्तों पर संस्थान का लाभ उठा रहा है। या फिर तीसरी और एकमात्र स्थिति है कि उधर व्यक्ति भी संस्थान के सामने दूसरा संस्थान बनकर ही आये—संघर्ष, खींचतान और लुका-छिपी में एक कामचलाऊ रिश्ता चलता रहे। यह एक मिल की व्यवस्था और दूसरी ट्रेड-यूनियन की संस्था-जैसी लगभग बराबर की स्थिति है, यहाँ जब जिसका दाँव लग जाता है, वह दूसरे को खा जाता है, लेकिन यह भी जानता है कि खा जाना दूसरे को समाप्त करना ही नहीं, अपने-आपको भी व्यर्थ कर देना है, मार देना है। यह भी हुआ है कि ट्रेड यूनियनों ने, या मजदूरों और कर्मचारियों ने संस्थानों को अपने कब्जे में ले लिया है, मगर व्यावहारिक इतिहास यह है कि या तो उनसे वे चली नहीं हैं या फिर कालान्तर में वैसी ही संस्था बन गयी हैं, जिनके खिलाफ लड़ाई शुरू की गयी थी। कोऑपरेटिव एक समानान्तर व्यवस्था का अलग विकल्प है।

अब आओ, प्रकाशन-पत्रिकाओं और लेखक पर। हम सब भोले लोगों की तरह तुम भी चाहते हो कि ये संस्थान हमारे हिसाब से चलें, हमारी शर्तों पर काम करें। स्पष्ट है कि वे इस पर तैयार नहीं होंगे, तब हम उसी तरह क्षुब्ध होंगे, जैसे इस पत्र में तुम हुए हो। अगर वो तैयार हो जाते हैं और हमारे हिसाब से चलने लगते हैं, तो स्वाभाविक है कि क्रमशः असफल होंगे—तब हम दूसरी तरह गालियाँ देंगे कि वे हमारी प्रत्याशायें पूरी नहीं करते। तुम्हारे पत्र में ये दोनों क्षोभ हैं। बड़ी पत्रिकायें हमें पाठकों तक पहुँचने नहीं देतीं और छोटी पत्रिकायें पाठकों तक पहुँच नहीं पातीं। यह माँग कुछ-कुछ वैसी ही है, जैसे सरकार-विरोधी कोई कहे कि विरोधी संगठन प्रभावहीन और सीमित हैं, उनकी गतिविधियाँ क्षेत्रीय हैं और उधर कांग्रेस-'इ' वाले अपने मंच से हमारे विरोध को सामने नहीं आने देना चाहते। बात इतनी ही तो नहीं

है, हमारी आकांक्षा तो यह भी है कि **कांग्रेस-'इ'** वाले हमारे आने-जाने का किराया दें, खुशामद करके हमें बुलायें, अपने विरोध में सुनें और बोलने का पारिश्रमिक भी चलते हुए थमा दें। यह कैसी प्रत्याशायें हैं ?

मुझे लगता है लेखकों के मुकाबले फिल्मवाले ज्यादा व्यावहारिक लड़ाई लड़ने वाले लोग हैं। फिल्म-व्यवस्था तो अपनी हर तिकड़म और पैंतरे से यही चाहती है कि **सत्यजित रे** हो या **श्याम बेनेगल** और **मृणाल सेन** – सब उनके लिए '**शोले**'-जैसी फिल्में बनायें। अब चाहें तो ये फिल्म वाले भी हम लेखकों की तरह हाय-तौबा मचाकर ठण्डे हो सकते हैं कि देखिये, ये लोग कैसे बदमाश हैं, हमें न अवसर देना चाहते हैं और न सामने आने देना चाहते हैं। कुछ दिनों इन लोगों ने यह किया भी, कभी-कभी अपने को कुछ लचीला बनाकर, '**व्यवस्था में घुसकर व्यवस्था का विरोध**' करने के हथकण्डे या तरीके भी अपनाये, मगर कुछ वहीं के होकर रह गये और जो कुछ वहाँ रहकर भी अपनी आग से परेशान थे, वे निकल कर बाहर आ गये। उन्होंने अपनी समानान्तर फिल्में बनायीं, क्योंकि न तो वे निहत्थे व्यवस्था में लड़ने में अपने को व्यर्थ करना चाहते थे और न उनके होकर वहाँ खो जाना चाहते थे। यह भी सही है कि पहली सफल समानान्तर फिल्म के पीछे असफल फिल्मों का सिलसिला है, मगर उन्हें यह विश्वास था कि हमारा दर्शक है जरूर और वही हमें सहारा देगा। दिल्ली में ही **अशोक आहूजा** ने '**आधार-शिला**' बनायी और जब किसी भी व्यावसायिक थियेटर में सन्तोषजनक रिलीज नहीं मिली, तो व्यक्तिगत स्तर पर ही दिखा रहा है, और ऐसा नहीं है कि लोग देख न रहे हों।

प्रकाशन, पत्रिका-जगत हो या फिल्म—इन सारे व्यावसायिक संस्थानों में व्यक्ति-लेखक-निर्देशक थोड़ी-बहुत छूट के साथ या तो इनकी शर्तों पर जायेगा या फिर अलग कर दिया जायेगा। अकेला होकर वह सौदा कर सकता है, घुटन और एकाकीपने में घुल मर सकता है

या फिर पत्थर फेंक-फेंक कर उस समय तक इन्हें परेशान कर सकता है, जब तक कि ये उसे चारा या चाँटा देकर ठण्डा न कर दें—लड़ सिर्फ दो ही स्थितियों में सकता है। या तो उसके पास करेज ऑफ कन्विक्शन हो, सफलता के अटूट विश्वास के सहारे कठिन समय को निकाल सकने का धैर्य हो, या फिर अपने-जैसे लोगों का समानान्तर संगठन हो।

मगर तुम्हारे पूरे पत्र में यही हताशा व्याप्त है कि संगठन आदमी को खा जाता है। अकेला व्यक्ति कुछ नहीं कर पाता, या कुछ करने नहीं दिया जाता। भाई मेरे, स्थिति को उसकी वास्तविकता में देखो। **शैलेश मटियानी** की तरह इन हवाई बौद्धिक स्थापनाओं में कुछ नहीं रखा कि अकेले आदमी का मददगार भगवान है और हर संघ या संगठन व्यक्ति को खा जाता है। व्यक्ति इसलिए असहाय है कि वह **अज्ञेय** की तरह अपने-आपको ही संस्था बनाने की कलाबाजियाँ करने लगता है और संस्था इसलिए ठीक नहीं है कि वहाँ स्वार्थी-मक्कार, झूठे-धोखेबाज स्वार्थवश जमा हो जाते हैं या आगे चक्कर सारी संस्थायें भ्रष्ट हो जाती हैं। नतीजा सीधा है कि व्यक्ति को भगवान से लौ लगानी चाहिए और किसी भी प्रकार के सामूहिक या सहयोगी-प्रयास का विरोध करना चाहिये। **भगतसिंह आजाद**—जैसों ने जब घनघोर आक्रोश में अंग्रेजी राज की पूरी व्यवस्था के खिलाफ अकेली लड़ाइयाँ शुरू की थीं, तो हमारे मन में उनके लिए सम्मान भी था और सहानुभूति भी। वे हमारे **'हीरो'** भी थे। मगर हम जानते थे—या आज जानते हैं कि वह रास्ता सिर्फ आत्महत्या का रास्ता था। अब यह दूसरी बात है कि वह व्यक्तिगत एडवेंचर एक ऐतिहासिक अनिवार्यता हो और व्यवस्था को बदलने का वातावण बनाने के लिए ऐसे बलिदानों की आहुति देनी जरूरी हो। सारे सम्मान, प्यार और साझी अनुभूति के बावजूद **शैलेश** उसी नियति से अभिशप्त लगते हैं।

जाने क्यों मुझे लगता है कि आज हर लेखक को, खासकर उस लेखक को, जो जनता तक पहुँचना चाहता है, व्यवस्था का विरोधी है, **सरदार भगतसिंह** की तरह ही सोचने की जरूरत है । यानी व्यक्तिगत लड़ाई को स्थगित किये बिना इस बात की जरूरत महसूस करना कि जब तक हम जनता और अपने-जैसा सोचने वालों के साथ मिलकर एक समानांतर संगठन नहीं बनायेंगे, इस लड़ाई को कहीं नहीं ले जा सकेंगे—सोशलिस्टिक रिपब्लिक वाली उनकी सारी सोच इसी आत्म-संघर्ष की परिणति थी । लेखकीय धरातल पर मुझे भी महसूस होता है कि लेखन परम व्यक्तिगत साधना और प्रक्रिया हो सकती है, मगर अपने अस्तित्व के लिए, औरों से अपने संवाद की सार्थकता और प्रभाव बनाये रखने के लिए उसे संगठन या समाज बनाना ही होगा, सहयोगी प्रकाशन और पत्रिकायें शुरू करने होंगे । इसके बिना निस्तार नहीं है । वर्ना हम लोग इन बड़े मालिकों के सामने ही रूठते, रिरियाते या ठुनगते रहेंगे और कभी वहाँ कोई 'प्रबुद्ध' व्यक्ति आ गया तो उस समय तक 'सहयोग' करते रहेंगे, जब तक कि वह भी दैत्य या दीवालिया न बन जाये—क्योंकि अगर उसे भी 'जिन्दा' रहना है तो इन दोनों में से एक बनना ही होगा । इसके सिवा कोई विकल्प नहीं है । तब हम दैत्य और दीवालिया, दोनों को समान निष्ठा से गालियाँ देते हुए किसे नये 'प्रबुद्ध' की तलाश करेंगे । माफ करना, बात बहुत फूहड़ है, मगर मुझे लेखकों की जमात हमेशा डाकुओं का ऐसा गिरोह लगती है, जो अपने अभियान पर जाते या वहाँ से भागते हुए अपने घायल गिरे हुए साथी की गर्दन काटकर ही आगे बढ़ता है ।

इसका कारण मुझे यही लगता है कि हम सब मूढ़ दृष्टि के वे अव्यवहारिक मूर्ख हैं, जो खुद कुछ नहीं कर पाते, लेकिन हर प्रयास के विरोधी हैं । व्यवस्था कुछ नहीं करती—अधिकारी बुद्धि-दारिद्य से पीड़ित हैं—इनका कीर्तन करते-करते जब हम देखते हैं कि अशोक

बाजपेयी-जैसा कोई कुछ कर रहा है, तो उधर चढ़ दौड़ते हैं कि देखो, साला, हमें खरीदने और भ्रष्ट करने आ गया! उधर समानान्तर प्रयास में हम सोचते हैं कि फिल्म तो फिल्म ही है, चाहे वह '**मंथन**' हो, या 'शोले'। पत्रिका तो पत्रिका ही है, चाहे वह '**मनोहर कहानियाँ**' हो, या '**पहल**'। प्रकाशन तो व्यवसाय ही है, चाहे वह '**अक्षर**' हो या '**राजपाल**'। नाटक **बब्बन खाँ** का हो या **बंसी कौल** का—नाटक-नाटक सब एक। यानी हमारी सारी प्रत्याशायें और गालियाँ वह हैं, जो किसी भी दूसरे से हो सकती हैं।

अपनी बात मैं जानता हूँ, जब लेखकों को देखता हूँ कि उनके लिए '**राजपाल**' और **अक्षर** दोनों ही बराबर के व्यावसायिक संस्थान हैं, तो एक ही प्रतिक्रिया होती है कि या तो व्यवसाय में प्रचलित सारे उचित-अनुचित तरीके इस्तेमाल करके '**राजपाल**' ही हो जाऊं, या फिर सारी चीज को अपने या अपने-जैसे दो-एक तक ही सीमित कर दूँ, ताकि हरेक के सामने सफाई-सिद्धान्त तो न पेश करने पड़ें। और क्यों न करूँ, जब देखता हूँ कि इस सारे माहौल में अपनी स्वतंत्रता बनाये रखने के लिए **प्रेमचंद, यशपाल, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, शरच्चन्द्र, के० एम० मुंशी, वृन्दावनलाल वर्मा, हावर्ड फास्ट**—सभी को यही रास्ते अपनाने पड़े। **राजकपूर** और **देवानन्द** को अपनी ख्याति के शिखर पर पहुँचकर भी फिल्म-निर्माण करना पड़ा। तो यह है तुम्हारे पत्र पर मेरी प्रतिक्रिया···

यहाँ एक छोटी-सी टिप्पणी की तरह अब यही कहना चाहूँगा कि **अक्षर** मेरे लिए, या मेरी लेखकीय स्वतंत्रता के लिए, एक ऐसा ही प्रयास-द्वीप है। उस समय तक का एक प्रतीक्षा-सेतु, जब तक कि बड़ी जमात से लेखक विक्षुब्ध और डिस्गस्टेड होकर ईमानदारी से किसी सहकारी-सहयोगी संस्था या पत्रिका की बात नहीं सोचते और उसके सफल होने तक '**त्याग**' करने की भावना अपने भीतर नहीं पाते। मैं इस तरह के किसी भी प्रयास को अपना पूरा सहयोग देने को तैयार हूँ। मगर

तब तक चूंकि यह व्यक्तिगत प्रयास है, इसलिए अपनी सीमाओं और सुविधाओं में ही चलाऊँगा। आज इसी के बूते पर ही तो मैं सारे लोगों के विरोध के बावजूद खुलकर **शैलेश**-जैसे लोगों के साथ खड़ा हो पाता हूँ। **'आगे रास्ता बन्द है'** या **'लेखक चला संपादक की चाल'** और **'समय निषेध : एक शास्त्रीय दृष्टि'**-जैसे लेख लिख सकता हूँ...यानी विश्वविद्यालयों और पत्रिकाओं को समान रूप से क्रिटिसाइज कर पाता हूँ। दिल्ली-जैसी जगह में न तो नेताओं-अफसरों की खुशामद करता हूँ, न कहीं हाजिरी बजाता हूँ। बारह-एक बजे तक अपना काम करता हूँ, फिर यहाँ आ जाता हूँ। मैं यहाँ से लाखों कमा रहा हूँ या हजारों गँवा रहा हूँ...इन दोनों से बड़ी उपलब्धि मेरे लिए **'स्वतंत्र'** होने की चेतना है।

मैं यह अभी भी मानता हूँ कि पेड़ को काट डालना इस शिकायत का जवाब नहीं है कि उसमें फल नहीं आते। **बासू** कहते हैं कि मैं सिर्फ एक फिल्म ही नहीं बनाना चाहता। मुझे आगे भी फिल्में बनाना है।

आशा है, स्वस्थ-सानंद हो।

सस्नेह

राजेन्द्र यादव

●●

संगठन की युक्तिसंगतता के सवाल

राजेन्द्र भाई, इलाहाबाद

आपका ९/९ का पत्र। ३ अक्तूबर १९८२

क्या सचमुच आपसे कुछ **'कहलवाना'** चाहा गया था? आपके कथन से कुछ ऐसा ध्वनित होता लगता है कि प्रसंग दो लेखकों के बीच के संवाद का न होकर, इलाहाबाद के कंडैलगंज थाने के थानेदार और

दिल्ली के शक्ति नगर मोहल्ले के किसी भूमिगत संगठन के सदस्य के बीच का है—और एक **'कहलवाना'** चाहता है, दूसरा **'न कहने'** को कृत-संकल्प है।

जनवादी लेखक-संघ के उपाध्यक्ष की हैसियत का लेखक यदि जानना चाहने को **'कहलवाना चाहना'** निरूपित करे और अपने इस स्वतःस्फूर्त्त निष्कर्ष के तहत स्थितियों के विवेचन में जाने से कतराना चाहे, इसे सिर्फ दुखद की कहा जा सकता है। विचार और विवेचना में जाने से बचना यदि लेखक का स्वभाव बन जाय, तो यह कोई अच्छा लक्षण नहीं। **ज० ले० सं०** को लेकर प्रश्न तो जरूर उठाये गये थे, लेकिन यह आग्रह कब किया गया कि आपको सिर्फ वही कहना है, जो कि **जनवादी लेखक संघ** के गलत होने को सिद्ध करे ? कहाँ और कब यह कहा गया कि आपको जो-कुछ कहना है, **ज० ले० सं०** के विपक्ष में ही कहना है, पक्ष में नहीं ? अपने कहना न चाहने को दूसरे के द्वारा कहलवाया जा रहा मानकर चलना, कोरा आत्मविभ्रम है और इसके कारण तर्क या विचार स्थगित रखने की वृत्ति में निहित होते हैं—दूसरों के द्वारा उठाये गये हवाई प्रश्नों में नहीं।

आपको चाहिए था कि आप उन स्थितियों और कारणों का उल्लेख करते, जिनके तहत **ज० ले० सं०** से सम्बद्ध होने का फैसला आपने लिया। आप बताते कि **ज० ले० सं०** के माध्यम से लेखकों अथवा समाज के हित में क्या-क्या किये जाने की संभावनायें हैं। **ज० ले० सं०** की प्रासंगिकता तथा विश्वसनीयता के पक्ष में आप आस्था के उन आधारों का उल्लेख करते, जिनसे स्पष्ट दिखाई पड़ता कि **प्र० ले० सं०, भा० ले० सं०** या कि अन्य किसी भी लेखक संघ की तुलना में **जनवादी लेखक संघ** क्यों बेहतर है।...और यदि आपके वक्तव्य को यथावत् छापने से इंकार करके, **ज० ले० सं०** के विरोध में ही लिखकर भेजने का आग्रह किया जाता, तब आप कह सकते थे कि जो **'कहलवाना'** चाहा गया है, वह आपको नहीं कहना है।

आपसे सिर्फ वास्तविकताओं को लेकर जानना चाहा गया था। जानना चाहना या तर्क और विवेचन में जाना यदि **'कहलवाना'** अथवा **'अंदेशे में दुबला होना'** माना जा सकता हो, तो आपका आरोप सिर-माथे (हालाँकि आपको लिखना था कि जिस अंदेशे में **'मोटे'** हुए जा रहे हो।) लेकिन जहाँ तक मैं समझता हूँ, न कहे गये का औचित्य, न कहने का तर्क गढ़ लेने से सिद्ध नहीं होता। जो कहना है, उसे कहकर ही कहलवाये जा रहे के अनौचित्य को उजागर किया जा सकता है। **कहने से कन्नी काटने की सतर्कता लेखक का उपाय नहीं।**

आशा है, आप कहेंगे।

किसी संगठन के सदस्यों का उस संगठन में घुटन अनुभव न करना, कहीं से इस बात का प्रमाण नहीं माना जा सकता कि उस संगठन में कहीं कुछ गलत नहीं। **किसी संगठन का अच्छा या बुरा होना उस संगठन के सदस्यों की व्यक्तिगत अनुभूतियों, धारणाओं या दावेदारियों में से नहीं, उस संगठन के निमित्त, कार्य और परिणाम में से तय होता है।** ऐसे बहुत-से **'संगठन'** होते हैं, जिनके **'सदस्य'** उसमें खुद घुटन अनुभव नहीं करते, लेकिन दूसरों के लिए घुटन का वातावरण निर्मित करते हैं। और फिर घुटन अनुभव करना या न करना, संवेदन का प्रश्न पहले है, घुटन महसूस न होने का तर्क बाद में।

आपने संगठन में घुटन का वातावरण न होने की जगह, खुद के घुटन न अनुभव करने की बात जिस तेवर में कही है, उससे आत्मविश्वास की झलक ज्यादा मिलती है और किसी भी व्यक्ति का आत्मविश्वास तर्क-निरपेक्ष स्तर पर स्वीकार्य नहीं होता। आशंकाओं के प्रति निर्द्वन्द्व आत्मविश्वास में से कहीं जाना या लौट आना, अपने व्यक्तित्व की विशिष्टता पर जोर देना चाहे जितना हो—गंतव्य के औचित्य को सिद्ध करना नहीं होता।...और जब गंतव्य का औचित्य सिद्ध करने में हाथ-पाँव फूलते हों,तब मंतव्य की निर्दोषिता के सहारे काम चलाने की कोशिश,

और वह भी भाषा में—कितनी दूर तक साथ दे सकती है, यह तय करना ज्यादा कठिन नहीं होना चाहिए।

जनवादी लेखक संघ को लेकर मुद्दे लेखक-मात्र के प्रश्नों को केन्द्र में रखकर उठाये गये थे, सिर्फ **राजेन्द्र यादव** को नहीं।...और यदि अन्य किसी से सवाद में न जाकर, **राजेन्द्र यादव** से रूबरू हुआ गया, तो इस विश्वास के तहत कि आप '**सदस्य**' की हैसियत से अधिक लेखक होने के तर्क में जायेंगे और, लुका-छिपी के स्तर पर ही सही, आप गये भी हैं। संवाद से बचने की रणनीति को आप उत्तर न देने या कि सम्बन्ध न रखने के कगार तक नहीं ले गये हैं, तो इसीलिए कि कहीं-न-कहीं आप अनुभव करते हैं कि तक और विचार के रास्ते खुद लेखक को कभी नहीं काटने चाहिए।

अब यहाँ, प्रसंगवश,, **ज० ले० सं०** के अभी कुछ ही अरसा पहले कानपुर में सम्पन्न हुए अधिवेशन के जिक्र में जाना अनुचित न मानें।

सुनने में आया कि **ज० ले० सं०** के कानपुर अधिवेशन में कई लेखकों से **सी० पी० एम०** या **ज० ले० सं०** का सदस्यता-पत्र दिखाने को कहा गया। यदि यह सच है, तो समझना मुश्किल है कि **ज० ले० सं०** किसी विशेष राजनीति या राजनैतिक दल से किसी भी प्रकार की सम्बद्धता न होने का नाटक क्यों करता है।

सुनने में यह भी आया कि ज० ले० सं० के कानपुर-अधिवेशन में वयोवृद्ध वामपंथी विप्लवी **शिव वर्मा** जी के द्वारा यह चेतावनी दी गई कि **—जो लेखक नीतियों के आड़े आयेंगे, उनके हाथ काट लिये जाने की बात तो वो नहीं करेंगे, कलमें जरूर तोड़ दी जायेंगी।**

आप उस सम्मेलन में उपाध्यक्ष की हैसियत से उपस्थित थे और इस बात से आपको क्या सचमुच कोई घुटन अनुभव नहीं हुई ?[1]

1—**गिरिराज** जी ने बताया था कि आपका वक्तव्य 'पार्टीलाइन' पर नहीं था।

कुछ वर्ष पूर्व **प्र० ले० सं०** का एक विराट अधिवेशन गया में हुआ था, जो **विश्वनाथ त्रिपाठी** के शब्दों में धनुष-बाण तथा भालों से लैस प्रहरियों के साये में हुआ। **प्र० ले० सं०** के जबलपुर के वृहद् अधिवेशन के समय आमंत्रित लेखकों को आयोजकों की ओर से एक प्रपत्र गया था, जिसमें अनेक के साथ एक निर्देश यह भी था कि **'अपने जबलपुर प्रवास के दौरान जन-सम्पर्क से बचें।'** द्रष्टव्य है कि वृहद् अधिवेशन के मुख्य अतिथि **महाराजा अर्जुन सिंह** से सम्पर्क न करने का निर्देश किसी लेखक को नहीं दिया गया था।

समझना कठिन है कि यह कौन-सी वामपंथिता है, जो लेखक को पूँजीवादी व्यवस्था के कर्णधारों के नहीं, बल्कि सामान्य जन के सम्पर्क से बचने की हिदायत देती है। जो अपने अधिवेशनों में व्यवस्था के गुप्तचरों की नहीं, बल्कि वैचारिक असहमति रखने वाले लेखकों की उपस्थिति का निषेध करती है।

लगता है, हमारे तथाकथित प्रगतिशील लेखक बन्धुओं को यह मुगालता है कि इस तरह के गोपनीय किस्म के सम्मेलन करने से उनकी छवि व्यवस्था-विरोधी विप्लवी लेखकों की बनती है। जबकि इनका व्यवस्था के लिए खुली किताब तथा समाज के लिये गुप्तकर्मी होना इनके छद्म को और अधिक उघाड़ता है।

लेखक को, शायद, यह कदापि नहीं भूलना चाहिये कि उसका माया-मृग-रूप धारण करना छिप नहीं सकता, क्योंकि उसे भाषा में विचरण करना होता है। और जैसा कि पहले भी कहा, भाषा ढाँकती नहीं, उजागर करती है। लेखकों से मनुष्य के उत्पीड़न के विरुद्ध संघर्ष की अपेक्षा की जाती है—कपटमृगों के तरह के विचरण की नहीं।

एक सहधर्मी की हैसियत से जानना चाहता था कि क्या आपको वास्तव में ऐसा लगता है कि इस तरह के संघों से लेखक को अपना गंतव्य कुछ ज्यादा स्पष्ट दिखाई पड़ता है? साहित्य और समाज की

उसकी समझ कुछ ज्यादा विकसित होती है और वह एक बेहतर लेखक की सम्भावनाओं में हो पाता है ? याकि उसका विक्षोभ एक संगठित मोर्चे की स्थिति में आकर, व्यवस्था के विरुद्ध लेखकों के संघर्ष को अधिक प्रभावी बनाता है ?

कहते दुख है कि आप वैचारिक प्रश्नों में न जाकर व्यक्तिगत तत्व-निरूपण में गये हैं और यहाँ फिर संवेदना के उल्लेख में जाना जरूरी लग रहा है, तो इसलिए कि घुटन अनुभव न करने के इतमीनान में आदमी इतनी दूर तक न निकल जाय कि जाने और वापस लौटने के बीच का फर्क ही जाता रहे। घुटन अनुभव न करने का तर्क स्वयं के संस्था में होने को संस्था के ही भ्रष्ट न होने की 'गारंटी' तक खींच लिया जाय, तो अंततः यही तर्क संस्था से बहिर्गमन की बेला इस प्रक्षालन में ले जा सकता है कि—'जब हमने देखा कि यह संस्था भ्रष्ट लोगों का सराय बन गई है।'……**प्रगतिशील लेखक संघ** से मोहभंग की व्याकुलता में **जनवादी लेखक संघ** से सम्बद्ध होने वाले सर्वश्री **शिवकुमार मिश्र, असगर वजाहत**—जैसे इलहामजीवी लेखकों की **जनवादी वास्तविकता** सिर्फ इतनी ही है।

पिछले किसी पत्र में लिख चुकने के बावजूद, यह दोहराना है कि **जनवादी लेखक संघ** की नियति मेरे प्रश्नों—या कह लीजिये कि व्यक्तिवादी पूर्वग्रहों—में से नहीं, **ज० ले० सं०** के कार्यों से तय होगी। **ज० ले० सं०** यदि लेखकों अथवा समाज के हित में कुछ मूल्यवान करता है, तो लोग **शैलेश मटियानी** के बँधुआ नहीं हैं कि जो कहल-वाना चाहूँगा, वही कहेंगे।

और यह आशंकाओं में से निर्णय निकालने से बचने की जो बात है, उसे भी इतनी दूर तक नहीं ले जाना चाहिये कि आशंकाओं के फली-भूत होने से पहले तर्क और विचार की गुंजाइश ही जाती रहे। आपक

यह बात सिर्फ गलत है कि मेरा विश्वास न व्यक्तिगत प्रयासों में है और न संगठनों में। हाँ, **'संगठित'** होने मात्र को मूल्य मान लेने का कोई प्रश्न नहीं, क्योंकि संगठित तो चोर-डाकू भी होते रहते हैं। संगठित हो जाने को **'हम संगठित हैं, इसलिए सारे प्रश्नों और आशंकाओं से परे हैं।'** तक ले जाना संगठन के औचित्य को भीड़ और भेड़ियाधसान में से तय करना है—मूल्यों से नहीं। जैसे लोग संगठित हों, संगठन की नियति उससे भिन्न नहीं होती। **'संघे शक्ति कलौयुगे'** की इस भूमि में **अखिल भारतीय यादव संघ** और **जनवादी लेखक संघ** के बीच फर्क करते समय मात्र संगठित होने का तर्क पर्याप्त नहीं होगा।

कैसी भी परिस्थितियों में मनुष्य को मूल्यों पर से आस्था नहीं खोनी चाहिये और जितना भी सम्भव हो, अवज्ञा और उत्पीड़न के विरुद्ध संघर्ष करना चाहिये। लेकिन यह विवेक बरतना जरूरी है कि 'संघं शरणं गच्छामि' अपने-आपमें स्वत:सम्पूर्ण नहीं। व्यक्ति को जिस संघ में सम्मिलित होना हो, उसकी पड़ताल में जाना चाहिये। **ज० ले० सं०** के सात अध्यक्ष-उपाध्यक्ष तथा चार सौ तिरानवे सदस्यों की संगठित सहमति से ही किसी बात का औचित्य सिद्ध नहीं होगा। और न इस बात से ही किसी बात का मूल्य जाता रहेगा कि उसे कहने वाला अकेला है। यदि ऐसा होता, तो **रा० स्व० सं०**, **जमायते इस्लामी**, **कांग्रेस आई०** या **लोकदल**—संगठनों के द्वारा तय की गई बातें **महाकाव्यों** का विषय बन गई होतीं। व्यक्ति हो या संगठन, किसी के भी कार्यकलापों की गुणवत्ता संख्या से नहीं, मूल्लों से तय होती है।

व्यक्ति और संगठन को एक-दूसरे का स्थानापन्न मानने के मुगालते में ही लोग **'संगठन का सदस्य'** हो जाने को ही **'सामाजिक हो जाना'** भी मान लेते हैं। व्यक्ति और संगठन न स्थानापन्न घटक हैं, न परस्पर-विरोधी, यदि केन्द्र में मूल्य हों, निहित स्वार्थ नहीं। समाज अपने

आत्यंतिक स्वरूप में व्यक्ति का ही वृहत्तर वृत्त होता है । जिस संगठन में मूल्य केन्द्र में हों, वह व्यक्ति के विपक्ष में कभी नहीं होगा । प्रक्रिया के भिन्न होने और गंतव्य के भिन्न होने में फर्क होता है । अस्तित्व-रक्षा का प्रश्न भी सापेक्ष प्रश्न है और यह अस्तित्व के स्वरूप और अस्तित्व की शर्त में से तय होता है । डाकुओं के द्वारा आतंकित कोई व्यक्ति यदि डाकुओं के संगठन का सदस्य बन जाने में सुरक्षा खोजता हो, तो उसके अस्तित्व का ही नहीं, बल्कि **'व्यक्तित्व की मौलिक प्रतिबद्धता का स्वरूप'** भी भिन्न हो जायेगा । शर्त भी । इसलिए अस्तित्व-रक्षा के संदर्भ में भी मात्र 'सुरक्षा' के तर्क में नहीं, बल्कि इस चिन्ता में जाना होगा कि लेखक के अस्तित्व की सुरक्षा की 'गारंटी' ऐसी शर्तों पर न जा टिके, जहाँ उसकी संवेदना ही जाती रहे । व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति का भी कोई अर्थ नहीं होता, यदि वह लेखक के वैचारिक ढुलमुलपन पर मौलिक प्रतिबद्धता की मुहर लगाये । जहाँ लेखक के सामने **'निजी सुरक्षा'** और **'लेखकीय अस्तित्व'** की सुरक्षा के बीच कोई फर्क न रह जाय, वहाँ व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति और मौलिक प्रतिबद्धता सिर्फ अमूर्त नीतिवचन सिद्ध होंगे । व्यक्ति और संगठन के 'फंक्शन' अपनी प्रक्रिया में भिन्न न होकर, प्रकृति में परस्पर-विरोधी हों, तो यह सम्बन्ध व्यावहारिक चतुराई की प्रतीति चाहे जितनी दे—मौलिक प्रतिबद्धता का साक्ष्य कभी नहीं बनेगा ।

तर्क और विवेचन में जाना आक्रांतता का सूचक नहीं होता । दूसरों को आतंकित अथवा आक्रांत करने में रुचि रखने वाले लोग तर्क और विचार में विश्वास नहीं रखते । और जिस व्यक्ति के पास भाषा के अलावा कोई साधन न हो, वह प्रमाद में नहीं—विषाद में जाता है । क्योंकि वह जानता है कि जहाँ भाषा, तर्क और विचार की पहुँच नहीं—वहाँ वह पूरी तरह निरुपाय है ।

आपके **जनवादी लेखक संघ** में होने को व्यक्तिगत नहीं, मूल्यगत

मानने के कारण ही प्रश्नों में जाने का आधार बना और ये प्रश्न इस बात से तय नहीं होंगे कि आपने इनमें हवाई बारीकियाँ देखी हैं और मैंने तर्क और विचार का दावा किया है। ये सिर्फ इस बात में से तय होंगे कि **जनवादी लेखक संघ** की भूमिका क्या सिद्ध होती है। और आपसे शिकायत यह है कि आप **जनवादी लेखक संघ** की भूमिका के विवेचन में न जाकर, व्यक्तिगत धारणाओं और अहसासों में जाते हैं। मात्र एक इस प्रश्न का उत्तर भी आप अभी नहीं दे पाये हैं कि किसी राजनैतिक पार्टी से सम्बद्धता को गोपनीय रखने की अनिवार्यता लेखक क्यों अनुभव करें ? राजनैतिक पार्टी खुली किताब की तरह सामने हो और उससे सम्बद्ध लेखकों के सरोकार भूमिगत हों—यह क्या सचमुच '**लेखकों की मौलिक प्रतिबद्धता का साक्ष्य**' होता है ?

इस बात को दोहराना जरूरी लग रहा है कि कोई लेखक किसी राजनैतिक दल से प्रतिबद्ध हो या नहीं, यह उस लेखक के विवेक का प्रश्न माना जाना चाहिए—एकतरफा सिद्धान्त-निरूपण का नहीं। लेकिन लेखक जहाँ, जिससे भी सम्बद्ध हो, प्रतिश्रुति के स्तर पर हो—यह अपेक्षा गलत नहीं मानी जानी चाहिये। जो प्रतिश्रुत होता है, वह प्रश्नों के निषेध में नहीं जाता। उसके पास प्रतिश्रुति के सारे आधार स्पष्ट होते हैं और वह लोगों को तर्कों तथा विचारों से उद्बोधित करने में विश्वास रखता है। आपको चाहिए था कि आप **जनवादी लेखक संघ** से अपनी प्रतिश्रुति के आधारों को स्पष्ट करते, जिससे अन्य लेखकों को भी यह विश्वास बँधता कि व्यवस्था के चौतरफा हमले के समय यह एक जगह है, जहाँ लेखक अपने अस्तित्व की सुरक्षा का आश्वासन पा सकता है।

आप यदि कहें कि **जनवादी लेखक संघ** क्या करता है, क्या नहीं—इससे उन लोगों का क्या वास्ता, जो इसके सदस्य ही नहीं—तो सिर्फ इतना कहना चाहूँगा कि लेखक होने का वास्ता।

अन्त में, **बटरोही** के द्वारा आपको लिखे गये पत्र के उत्तर में गये आपके विस्तृत पत्र का जिक्र। हालाँकि मुझे शिकायत है कि आपने मेरे पत्र सदैव संक्षेप में ही निबटा दिये, लेकिन **बटरोही**-जैसे अपेक्षाकृत नये लेखक की बातों को इतने मनोयोग से लेने के आपके रुख के प्रति गहरा आदर व्यक्त करना चाहता हूँ। प्रश्नों पर मौन साध लेने या अपने से असहमत को कोई अहमियत न देने की दृष्टि से, आप **भारती**, **कमलेश्वर** या **अज्ञेय-नामवर** से कमजोर स्थिति में कतई नहीं हैं, लेकिन इसके बावजूद आप अपने से कहीं कम महत्व के लेखकों की बातों को भी तरजीह देते हैं और अवज्ञा से नहीं, आत्मीयता से बरतते हैं—यह साक्ष्य है कि आपके भीतर का लेखक पूरी तरह जड़ नहीं हो गया है। अन्यथा स्थापित और नेता लेखक अपने से असहमत को सिर्फ अवज्ञा और हिकारत का पात्र मानते हैं।

लेकिन कुछ बातें, बतौर तर्क और विचार के फिर कहने की धृष्टता करना चाहता हूँ। **बटरोही**-जैसे अपेक्षाकृत नये और सीमित अनुभव-क्षेत्र वाले लेखक में विचलन, विक्षोभ और अंतर्विरोध होना स्वाभाविक है। खास तौर पर तब, जब कि **बटरोही** व्यवस्था और लेखक के बीच के जटिल सवालों से टकराने में जायें। लेकिन जैसा कि आपने भी माना है, कुछ महत्वपूर्ण मुद्दे **बटरोही** के पत्र में हैं और उन पर बहस होनी चाहिए। क्योंकि तर्क पर ही जाना हो, तो बटरोही भी इस तर्क पर जा सकते हैं कि अभी **राजेन्द्र यादव** ने ही ऐसा क्या क्रांतिकारी लेखन किया है, जिसके निमित्त उन्हें व्यवस्था-विरोधी लेखक संगठन में सुरक्षा खोजने की जरूरत अनुभव हुई ?

जिस तर्क के तहत **राजेन्द्र यादव** को व्यवस्था-विरोधी संगठन की अनिवार्यता अनुभव होती है, वह अन्ततः **बटरोही** के विक्षोभ के पक्ष में भी जाता है। फिलहाल एक समवर्ती के नाते आपके कुछ निष्कर्षों के

विवेचन में जाना है ।[1] व्यवस्था के माध्यम वाले प्रसंग में आपने जो कहा है कि **'सम्बन्ध न होने में कोई समस्या नहीं उठती । जटिलतायें सम्बन्ध होने में हैं ।'** यह एकतरफा सोच है । व्यवस्था के माध्यमों से सम्बन्ध न होने की जटिलतायें, सम्बन्ध होने की जटिलताओं से कहीं ज्यादा मारक होती हैं । समाज के मनस तक बिना व्यवस्था के माध्यमों के ही अपनी पहुँच बनाना कोई खेल नहीं, हालाँकि इस कसौटी पर खरा उतरकर ही कोई लेखक समाज का प्रवक्ता होने के दाय को निभा सकता है ।

व्यवस्था के माध्यमों का इतना बड़ा मायाजाल इससे पहले कभी नहीं रहा होगा । उनसे सम्बन्ध रखने पर लेखक की जिजीविषा मरती है, न रखने पर जीविका के संकट दबोचते हैं । समाज तक अपनी पहुँच बनाने के उपलब्ध रास्ते भी जाते रहते हैं । क्योंकि इतना तो स्पष्ट है कि व्यवस्था अपने माध्यम समाज के हित में देने में रुचि नहीं रख सकती, किन्तु ऐसे ही में किसी लेखक की जिजीविषा और क्षमता की परख होती है कि वह अपना रास्ता अन्वेषित करता है, या नहीं । लेकिन **बटरोही को तुलसीदास बनकर दिखाने** और तब **'व्यवस्था बनाम लेखक'** के प्रश्नों पर आने की सलाह देना खीझना है, तर्क में जाना नहीं ।

संगठनों या संस्थानों के पक्ष में जो तर्क आपने दिये हैं, पूरी तरह सम्मत हैं, लेकिन लेखक होने के सवाल सिर्फ व्यावहारिक कठिनाइयों तक नहीं जाते । पेड़-पौदों या पशु-पक्षियों की तरह **'क्लाइमेट'** से तालमेल बिठाने की **'प्राकृतिक क्षमता'** लेखक को यदि एक लेखक की हैसियत के संघर्ष को ही स्थगित करने के कगार तक पहुँचाती हो, तो व्यवस्था के जंगल में उसकी उपस्थिति का स्वरूप क्या होगा, यह बताने की जरूरत

१—राजेन्द्र का पत्र श्री बटरोही ने भेजा था, यह लिखते हुए कि उसके कुछ अंश शैलेश मटियानी से सम्बद्ध हैं ।

नहीं । हिन्दी में व्यवस्था तथा लेखक के बीच संतुलन बिठाने के उद्यमियों का हृश्र हमारे सामने है ।

व्यवस्था के सामने व्यक्ति की स्थिति का विवेचन करने में आप जिस **'तीसरी'** और एकमात्र स्थिति का संकेत करते हैं—व्यवस्था के संस्थान बनाम लेखकों के संस्थान की यह स्थिति तीसरी-चौथी चाहे जो हो, अंतिम कभी नहीं होती । इसे अंतिम घोषित करके आप उन लेखकों की भूमिका को नेपथ्य में डालना चाहते हैं, जिन्होंने व्यवस्था बनाम मनुष्य के प्रश्नों के आधार पर संघर्ष किया और खींच-तान और लुका-छिपी में एक कामचलाऊ रिश्ता कायम किये रहने की चतुरता को नहीं, बल्कि मूल्यों पर टिके रहने को लेखक का धर्म निरूपित किया ।

'ट्रेड यूनियन' के वजन पर **'लेखक यूनियन'** की परिकल्पना में जाते समय आप लेखक और मजदूर के कर्म के बुनियादी फर्क को अंतर्धान कर देते हैं । लेखक को जिम्मेदारियाँ ठीक वही नहीं होतीं, जो मजदूर की होती हैं । यह श्रेष्ठता का नहीं, भिन्नता का प्रश्न है और यह भिन्नता ही लेखक के संघर्ष को ट्रेड यूनियन-संघर्ष से अलग करती है । लेखक जहाँ औद्योगिक कार्मिक की हैसियत रखता है, वहाँ भी उसके अस्तित्व की शर्तें ठीक वही—या उतनी ही—नहीं होतीं, जितने सामान्य कार्मिक की ।

अभी कुछ ही वर्ष पूर्व **जनवादी लेखक संघ** के अध्यक्ष **भैरवजी** कहा करते थे कि जो लोग धोबी, मोची या मिल मजदूर या रिक्शे वाले और लेखक के बीच में फर्क करना चाहते हैं, वो धूर्त हैं ।

यह उन्होंने नहीं कहा कि **राजनैतिक नेताओं और सामान्य जन** के बीच फर्क करना धूर्तता है ।

यदि लेखक होने को सामान्यीकरण के इस धरातल पर खींच लाया जाय, तब तर्क और विचार में जाने का कोई औचित्य नहीं रह जाता ।

क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति को मनुष्य के रूप में देखना एक बात है—और व्यक्तियों के कार्यक्षेत्र को गड्डमड्ड करना दूसरी बात।

और यह जो **कांग्रेस 'आई'** से विरोध करने का भाड़ा माँगने की विद्रूपता का जिक्र आपने किया है, यही प्रश्न तो **जनवादी लेखक संगठन** के बारे में भी उठाया गया कि कहीं यह भी व्यवस्था से उसका विरोध करने का भाड़ा तो नहीं वसूलना चाहती ? ठीक वैसे ही, जैसे कि **प्रगतिशील लेखक संघ** वाले वसूलते रहे हैं ? ये कोई हवाई बारीकियाँ नहीं हैं, यथार्थ घटनायें हैं कि व्यवस्था कैसे अपने विरोधियों को अपने प्रतिष्ठानों में ऊँचे-ऊँचे वेतनमानों पर नियुक्त करती है। और पारिश्रमिक का भुगतान ही नहीं, अभिनंदन-अभिषेक भी करती है। जहाँ-जहाँ व्यवस्था-विरोध की रणनीति दुंदुभि-वादन के स्वर पर उद्घोषित हो, वहाँ लुका-छिपी और कामचलाऊ रिश्ते की कुल जमा वास्तविकता सिर्फ इतनी ही होती है।

अलबत्ता जब आप कहते हैं कि लेखक सिर्फ दो स्थितियों में लड़ सकता है—या आस्था और कठिन समय को निकाल सकने के धैर्य के सहारे और या अपने-जैसों का समानांतर संगठन बनाकर—तो बिल्कुल खरी और तर्कसंगत बात कहते हैं। यह नैतिक साहस और धैर्य ही लेखक की वह अंतिम स्थिति है, जिसे आपने **'तीसरी स्थिति'** की बात करते में ओझल कर दिया। **अपने-जैसों के समानांतर संगठन** का जहाँ तक प्रश्न है, जहाँ अस्तित्व की शर्तें एक नहीं होतीं, प्रतिबद्धता के स्रोत एक नहीं होते—वहाँ अपने-जैसों का संगठन तो सम्भव है, लेकिन प्रश्न फिर उपस्थित होगा कि 'अपने-जैसों' से तात्पर्य ?

बटरोही को **शैलेश मटियानी** की हवाई बौद्धिक स्थापनाओं में नहीं, वास्तविकता में जाने की सलाह देते समय आपने पुनः यह स्वतः-स्फूर्त आरोप दोहराया है कि मैं संगठन-मात्र का विरोधी हूँ। **'आगे चलकर'** तो संस्थायें ही क्यों, व्यक्ति भी भ्रष्ट हो सकते हैं ? मैंने **जन-**

वादी लेखक संघ के प्रारम्भ में ही भ्रष्ट होने की बात कही थी, आगे चलकर भ्रष्ट होने की संभावनाओं में तो आप गये हैं ।[१]

ऐसा है, भाईसाहब, कि किसी भ्रष्ट संस्थान का विरोध करना संगठन के औचित्य का ही विरोध करना कभी नहीं होता । और विचार के क्षेत्र में यह कोई बाध्यता नहीं होती कि यदि कहीं कोई प्रतिश्रुत संगठन न दिखाई पड़े, तो भ्रष्ट को ही प्रतिमान मान लिया जाय ।

भगवान से लौ लगाने वाले लोग सिर्फ निष्प्रभावी और सिर्फ निरर्थक होते, तो आपको **तुलसीदास-कबीरदास** के नाम याद न रहे होते । मूल्य भगवान से लौ लगाने, या न लगाने का नहीं, एक मनुष्य की हैसियत के विवेक, संघर्ष और आस्था का होता है । मनुष्य की अस्मिता **भगवान** से याकि **मार्क्स-लेनिन फ्रॉयड-डारविन** से लौ लगाने, या नहीं लगाने से नहीं, उसके संघर्ष के निमित्त और परिणाम से तय होती है । मेरा हवाई बारीकियों से आक्रांत लेखक होना, अथवा न होना भी परिणति से ही तय होगा—इस बात से नहीं कि भगवान से लौ लगाई थी, या नहीं ।

भगतसिंह के हवाले से जो-कुछ आप कहना चाहते हैं, उसे पहले आप **'आध्यात्मिक आत्महत्या'** भी कह चुके हैं । हालांकि अपने विप्लवी होने का कोई मुगालता कत्तई नहीं, न हूँ, लेकिन इतना कहना है कि लेखक यदि समाज के हित में बलिदान हो जाय, तो इसे उसकी अभिशप्त नियति कहना सुरक्षा-जीविता के तर्क को मूल्यों और संघर्ष से ऊपर ले जाना होगा । और जहाँ तक **भगतसिंह-आजाद** के अकेले-अकेले लड़ने

---

१. **बटरोही** को लिखे अपने पत्र में **अक्षर प्रकाशन** के संदर्भ में लिखते समय उसे अकेले ही चलाने का निर्णय लेने की बात आपने लिखी है, किसी लेखक संगठन को सौंपकर **'बड़ी चीज'** से जोड़ देने का उपाय नहीं खोजा ?

के कारण 'बलिदान' हो जाने का प्रश्न है, 'बलिदान' न होने वाले कभी न मरते हों, ऐसा देखने-सुनने में आया नहीं है। और फिर लेखक की प्रासंगिकता तो फाँसी पर झूल जाने से नहीं, रचना के परिणामों से तय होती है।

पहले पैरा में **भगतसिंह-आजाद** के संघर्ष को **'व्यक्तिगत' एडवेंचर** की संज्ञा देने के बाद, दूसरे पैरा में आप प्रत्येक लेखक को **भगतसिंह** की तरह सोचने की सलाह देते हैं, तो इससे क्या यह निष्कर्ष निकाला जाय कि लेखक का सोचना तो **भगतसिंह**-जैसा हो, लेकिन जीना **बासु चटर्जी**, **राजेन्द्र यादव**, **शैलेश मटियानी** या **भैरव प्रसाद गुप्त**, **मार्कण्डेय** अथवा **दूधनाथ सिंह** याकि **राजकपूर-देवानन्द** का जैसा ? आपने यह भी नहीं बताया कि **भगतसिंह** ने अपने ही जैसों का संगठन बनाया था, या नहीं ? और कि क्या भगतसिंह के 'सोशलिस्टिक रिपब्लिक' वाले सोच में यह भी था कि संघर्ष को तब तक स्थगित ही रहना चाहिए, जब तक कि समानान्तर संगठन न स्थापित हो जाये ?

आप इसे व्यक्तिवादी हवाई बौद्धिक फितूर कहने को स्वतंत्र हैं लेकिन मूल्यों की जो पहचान व्यक्तियों ने दी है—संगठनों ने नहीं, संघर्ष के जो आयाम और संवाद के जैसे सूत्र व्यक्तियों ने दिये हैं, संगठनों ने नहीं। और यह कहना संगठन-मात्र के विरोध में जाना नहीं, बल्कि संगठन के इस स्वरूप को तय करना है कि वह मूल्यों के संवहन और सम्प्रेषण का माध्यम है, सृजन का नहीं। यदि कोई लेखक या विचारक किसी संगठन-विशेष का सदस्य—या कहा जाय कि अध्यक्ष-उपाध्यक्ष न हो, तो इससे यह कहीं सिद्ध नहीं हो जाता कि उसके विचार और संघर्ष का कोई मूल्य नहीं होगा। मनुष्य के लिए किसी संगठन में होने से कहीं जरूरी है कि वह मूल्यगत संघर्ष में हो और तभी उसका किसी संगठन में होना भी अर्थ रखेगा। संगठन की शक्ति में से विचार और मूल्य नहीं निर्मित होते, विचार और मूल्यों से संगठन की प्रासंगिकता तय होती है।

आप **'समाज'** और **'संगठन'** को एक-दूसरे का पर्याय बनाकर चलना चाहते हैं और स्पष्ट है कि यह विभ्रम है। कहने की अनुमति देंगे कि जो भी व्यक्ति संगठित हो जाने को ही पर्याप्त मानकर, बाकी सारे प्रश्नों से निःशंक हो जाय, उसे घुटन अनुभव करने में भी कुछ वक्त जरूर लगेगा।

व्यवहार को विचार पर वरीयता देने के तर्कातीत वस्तुवादी रुझान का ही यह परिणाम है कि आप **प्रेमचन्द-यशपाल-हावर्डफास्ट-शरच्चंद्र-टैगोर** और **देवानन्द-राजकपूर** का जिक्र एक ही साँस और एक ही सन्दर्भ में करते हैं। लेकिन लेखक होने के प्रश्नों पर हम जब भी जायें, वहाँ प्रतिमान **राजेन्द्र यादव, शैलेश मटियानी** या **देवानन्द-राजकपूर, बासु चटर्जी या श्याम बेनेगल** नहीं होंगे। यदि होंगे, तो संघर्ष तब तक स्थगित ही रहेगा, जब तक कि **'अपने ही जैसों के समानान्तर संगठन'** नहीं कायम हो जायेंगे।

क्या **जनवादी लेखक संगठन** के बारे में आप सचमुच मानते हैं कि यह अपने ही जैसे लेखकों का समानान्तर संगठन है? और कि इसके माध्यम से लेखकों को व्यवस्था-विरोध का एक स्वायत्त माध्यम सुलभ हो गया है और अब व्यवस्था व लेखकों के बीच का संघर्ष तीव्रतर होते जाना है? याकि **'संघर्ष, खींच-तान और लुका-छिपी का वह काम-चलाऊ रिश्ता'** कायम कर लिया गया है, जो व्यवस्था-विरोध की तीसरी और अन्तिम स्थिति का सूचक होता है? क्या आप कह सकते हैं कि आपके अपने ही जैसों के इस समानान्तर संगठन ने व्यवस्था-विरोध का अन्तिम प्रतिमान स्थापित कर दिया है? और यदि **'अपने ही जैसों'** का संगठन यह नहीं है, तो आप इसके उपाध्यक्ष क्यों बन गये? अब यदि आप इन तमाम हवाई बारीकियों को भी घुटन अनुभव न करने के तर्क से निबटा देना चाहें, तो कहने की इजाजत देंगे कि प्रश्न **जनवादी लेखक संगठन** से संदर्भित थे, आपके व्यक्तिगत स्वास्थ्य से नहीं।

ऐसा है, राजेन्द्र भाई, कि बात फिर वहीं आती है कि जहाँ प्रतिश्रुति नहीं होगी, वहाँ प्रश्नों से गुजरना भी नदारद होगा। प्रश्न आक्रांत होने या संवाद काटने के नहीं, स्थितियों और तथ्यों की गहरी पड़ताल के निमित्त होते हैं और सम्यक् विचार तथा विवेचन का आधार निर्मित करते हैं। **जनवादी लेखक संघ** की बुनियाद में ही प्रश्नों को झुठलाने की चतुरता विद्यमान है और इसे संघर्ष, खींच-तान और लुका-छिपी का कामचलाऊ रिश्ता कहकर न वास्तविकताओं को आच्छादित किया जा सकता है, न हवाई बारीकियों को।

बटरोही ने जो यह बुनियादी सवाल उठाया कि लेखक-संगठनों की भूमिका रचना का वातावरण और लेखकों की पहुँच समाज तक बनाने की होनी चाहिए, इस सन्दर्भ में आपका यह कथन सही है कि अभी हिन्दी के लेखकों में वह आग नहीं, जो व्यक्ति को उसके गंतव्य से अस्तित्व के स्तर पर जोड़े। संगठन को व्यक्ति और समाज के बीच का सेतु बनाये। तब यह प्रश्न हवाई कलाबाजी क्यों माना जाय कि क्या **जनवादी लेखक संगठन** एक-सी अग्नि-से दहकते चित्त वाले लेखकों का संगठन है—या आपके शब्दों में लेखकों की एक ऐसी जमात, जो अभियान में घायल साथी की गर्दन काटकर आगे बढ़ने पर विश्वास करती है ?

अमूर्त या जातिसूचक बिम्बों में सूक्तियाँ बिखेरने के जोखिम कम जरूर होते हैं, लेकिन उसी अनुपात में निष्प्रभावी भी। इस तरह की 'बूझो तो जानें' के स्तर की सूक्तियाँ संगठित होने का इतमीनान और 'सत श्री अकाल, जो बोले सो निहाल', की तर्ज पर **'जो हमारी जमात में, सो जनवादी'** का स्वतःस्फूर्त सिद्धान्त—ये सब ऐसे ही अमूर्त सूक्ति-वाचन में से उदित होते हैं। आप लेखकों को वस्तुगतता और अमूर्तता, दोनों में साथ-साथ ले चलना चाहते हैं, यह लुका-छिपी ठीक नहीं।

जब आप **अक्षर** और **राजपाल**, **'पहल'** और **'मनोहर कहानियाँ'** से एक-सी अपेक्षायें रखने वाले लेखकों को गलत करार देते हैं, लेकिन

गलत लेखकों के संगठित होने में लेखक की सुरक्षा और क्रांति देखते हैं, तो समझना कठिन हो जाता है कि आप समझाना क्या चाहते हैं।

यह ठीक है कि **अक्षर प्रकाशन** आपकी लेखकीय स्वतंत्रता के लिए एक प्रयास-द्वीप है, लेकिन इससे यह अर्थ निकालना गलत होगा कि **अक्षर प्रकाशन** न होने पर आप गुलाम लेखक होते।

स्वतंत्रता स्थिति-सापेक्ष ही नहीं, मनस-सापेक्ष भी होती है। स्थिति के अनुसार स्वतंत्रता बरतने—या न बरतने—की सुविधापरस्ती या चतुरता ही किसी लेखक को उस मुकाम पर ले जाती है, जहाँ से वह आर्थिक रूप से संकटग्रस्त होने के दौर में व्यवस्था के विरुद्ध लावा उगलता है और अर्थसंकट-मुक्त होते ही लार चुआने लगता है और उसकी क्रांतिकारी लफ्फाजियों में चिपचिपापन आ जाता है। स्वतंत्रता को स्थिति-सापेक्ष मानकर चलना स्वतंत्रता की परिधि को छोटा करना है। अलग से किसी भी व्यक्ति के स्वतंत्र होने की कोई गुंजाइश नहीं होती, यदि समाज में स्वतंत्रता नदारद हो। स्वतंत्रता के संघर्ष में होना भी स्वतंत्र होना तभी माना जा सकता है, जब कि व्यक्ति में समाज की अस्मिता के प्रश्न गूंजते हों। जब समाज के अन्तःकरण की आवाज उसमें से प्रकट होती हो।

लेखक के खुद को केन्द्र में रखकर स्थितियों के विवेचन में जाने और स्थितियों को केन्द्र में रखकर, लेखक की तरह उन पर सोचने-विचारने की प्रक्रिया में अन्तर होता है। आप **राजेन्द्र यादव** को लेखक के प्रतीक-रूप में केन्द्र में रखकर स्थितियों के विवेचन में जाते हैं, परिणामतः लेखक-मात्र का प्रश्न आपकी पकड़ से छूट जाता है। यह कारण है कि आप **जनवादी लेखक संघ** में भी खुद के घुटन अनुभव करने, न करने को ज्यादा महत्व देते हैं—इस बात को नहीं कि इस तरह के छद्मजीवी संगठनों के सम्भावित संकट क्या होते हैं। गड़ेरियों की हैसियत से नये लेखकों का ढाँकर (गोल) इकट्ठा करने वाले, नेतृत्व की बुभुक्षा में

व्याकुल लेखक स्वतंत्र सोच-विचार के वातावरण को कैसे लीलते हैं, यह आपकी चिंता का विषय इसीलिए नहीं बन पाता है कि आप अपने को 'सुरक्षित' अनुभव करते हैं ।

लेखक के नाते इतना हमारा धर्म बनता है कि पाखण्ड में न जायें । यदि हम चाहते हों कि समाज में लेखक की साख अन्तिम रूप से नष्ट न हो जाय, तो हमें उन कारणों को अन्य लेखकों के निमित्त खुला रखना चाहिए, जिनके चलते हम बाधित और निष्प्रभावी हुए हैं । जीना सुरक्षा-जीवी और सुविधाजीवी की स्थिति का होते हुए भी सोचना, विचारना और लिखना क्रांतिकारी लेखक की हैसियत का किया जा सकता है—इस झूठ को स्थापित करने से लेखक को बचना चाहिए । आपके अपने व्यक्ति और संगठन के मूलभूत दायित्व अलग होने के कथन के सन्दर्भ में इतना ही कहना है कि न समाज और साहित्य के दायित्व मूलभूत रूप से अलग होते हैं और न व्यक्ति और संगठन के । जब मूलभूत दायित्वों को अलग-अलग खानों में सहेजकर रखने वाले लोग शिखर पर आते हैं, तो कैसा दारुण परिदृश्य उपस्थित होता है, इसे हम प्रत्यक्ष देख रहे हैं । लेखक का किसी संगठन से सम्बद्ध होने और व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति के बीच सिर्फ कार्यक्षेत्र का अन्तर होना चाहिए, प्रतिश्रुति का नहीं । लेखकों के संगठन को 'ठलुआ क्लब' की नियति में ले जाना संगठन के प्रति आस्था को ध्वस्त करना है । लेखकों का संगठन यदि समाज के लिए उत्प्रेरक और मूल्यविरोधी व्यवस्था के लिए चुनौती न हो, तो उसका होना नहीं, न होना बेहतर होता है । स्पष्ट है कि आप व्यक्ति और संगठन के मूल-भूत दायित्वों के विवेचन में जाते समय **'संगठन'** और **'मठ'** के बीच के अन्तर को नदारद कर देते हैं ।

आशा है, **जनवादी लेखक संघ** के उपाध्यक्ष की हैसियत से आप समाज और साहित्य के, व्यक्ति और संगठन के गहरे विवेचन में जायेंगे और इस बहस को एक तार्किक परिणति तक ले जा सकने का वातावरण निर्मित करेंगे ।

आपके पत्र से लगता है कि आज-कल आपमें बासु दादा अन्तर्भूत हैं। ये विदा हों, तो पहली फुर्सत में खत दीजियेगा।

आपका
शैलेश मटियानी

●●

भोली सदाशयता के खतरे

नयी दिल्ली

प्रिय शैलेश, **१४ अक्टूबर १९८२**

तुम्हारे पत्र मिले। **'जनपक्ष'** भी मिला। तुम्हारा हर पत्र मुझे मानसिक रूप से इतना अधिक आन्दोलित कर देता है कि मैं सोचता हूँ कि इसका उत्तर खूब सोच-समझ, लम्बा दूँगा…मगर दे नहीं पाता—या तो कहीं उलझ जाता हूँ, या मुझे उत्तर नहीं मिलते। जिन मुद्दों पर मैं खुद ही स्पष्ट नहीं हूँ, उन पर कैसे बोलूँ? फिर तुम्हारे पत्र? मुझे दोनों हाथों में तलवार लेकर लड़ते हुए योद्धा का ही बिम्ब सामने आता है। इसलिए अगर उनके उत्तर नहीं दे पाता, तो यह तुम्हारे पत्र को लापरवाही से लेना नहीं, कुछ अधिक ही गम्भीरता से लेना है। मैं मानता हूँ कि जीवन और साहित्य-कला इत्यादि को तुम जिस गंभीरता और आध्यात्मिक पूजा-जैसे भाव पर लेते हो या ले जाते हो, वह मेरे मन में विस्मय और श्रद्धा का भाव तो पैदा करता है, लेकिन मेरी अपनी पहुँच से ऊपर भी चला जाता है।

यह लम्बा पत्र या **'जनपक्ष'** में **विश्वम्भरनाथ उपाध्याय** को लिखे पत्र, दोनों ही मैंने ध्यान से पढ़े हैं। क्या विश्वास करोगे कि जब तुम **लक्ष्मीकांत वर्मा** को **जगन्नाथ मिश्र** की ओर से लताड़ रहे थे, तो

मुझे कतई आश्चर्य नहीं हुआ। कभी-कभी भोली सदाशयता आदमी को यहीं ले जा छोड़ती है। अंग्रेजों के प्रति तीव्र घृणा और स्वतंत्र हो जाने की बेचैनी अगर **सुभाषचन्द्र बोस** को **हिटलर** और **तोजो**—जैसे नाजियों, मानव-मात्र के शत्रुओं की गोद में डाल सकती है, तो '**अश्लील, चरित्र-हननकारी, व्यक्तिगत द्वेष-पीड़ित**' इत्यादि पत्रकारों का मुँह बन्द करने की तुम्हारी सदाशयता **जगन्नाथ मिश्र** या **इन्दिरा गांधी** के तर्क तुम्हारे मुँह से उगलवाने लगे, तो इसमें आश्चर्य क्या है ?

बीच में अपनी बात तोड़कर मैं यह बता दूँ कि यहाँ मेरा मतलब कतई तुम्हें **सुभाष बोस** के बराबर ला बैठाना नहीं है, जैसा कि तुमने **तुलसीदास-बटरोही** वाली तुलना में निष्कर्ष निकाला है। हम लोग, उनमें तुम भी शामिल हो, जब दो समानों या असमानों की तुलना करते हैं, तब वह तुलना व्यक्तियों की नहीं होती, उस मुद्दे-विशेष की होती है, जिस पर बात हो रही है। वहाँ मुद्दा संचार-माध्यम द्वारा जनता तक पहुँचने का था, यहाँ मुद्दा मदारी वाले सदाशय भालू का है, जिसने मक्खी उड़ाने की चिन्ता में पत्थर मार मालिक का सिर फोड़ दिया था।

इन्दिराजी ने जब मीसा लगाया था, तो यह बताया था कि यह चोर-डाकू-बदमाशों के लिए है और यहाँ असहमत होने की गुंजाइश कम थी। मगर सब लोग जानते थे कि वस्तुतः वह विरोध का स्वर दबाने की चाल थी। पत्रकारिता बेहद भ्रष्ट हो गयी है, ये लोग सैक्स-हिंसा को उसी तरह बेच रहे हैं, जैसे फिल्म वाले और इनके पीछे मुनाफा कमाने वाले पूंजीपति की शह है, मगर **जगन्नाथ मिश्र** क्या इन्हीं चीजों से परेशान होकर यह बिल ला रहे हैं ? अगर ऐसा ही है तो हिन्दी-फिल्मों को क्यों नहीं बिहार में रोकते ? धनबाद के माफिया पर अंकुश क्यों नहीं लगाते ? मान लो कि '**बिहार और नैतिकता**' से अनुप्राणित होकर **जगन्नाथ मिश्र** यह बिल ले भी आते हैं, तो कौन तुम्हें बतायेगा कि भागलपुर की जेल में **गंगाजल** कैसे डाला जाता है ?

असल में मुझे गड़बड़ा देने का श्रेय तुम्हें ही है। इस पत्र में तुम लिखते हो कि '**भैरवजी** कहा करते थे कि जो लोग धोबी, मोची, मिल-मजदूर या रिक्शेवाले और लेखक के बीच फर्क करना चाहते हैं, वो धूर्त हैं। यदि लेखक होने को सामान्यीकरण को इस धरातल पर खींच लाया जाये, तब तर्क और विचार में जाने का कोई औचित्य ही नहीं रह जाता।' दूसरी तरफ तुम **लक्ष्मीकांत वर्मा** को लताड़ते हो कि 'जहाँ तक पत्रकारों की पिटाई का प्रश्न है, इसे सामान्य लोगों की पिटाई के प्रश्न से ज्यादा महत्वपूर्ण बनाने का सारा उद्यम भी इसलिए है कि यह दिखाई पड़े कि पत्रकार इस देश के विशेष नागरिक हैं और सरकार को उनके साथ ठीक' उसी ढंग से पेश नहीं आना चाहिए, जैसे कि सामान्य नागरिकों के साथ। अब बताओ, दोनों वक्तव्यों में से किसे ठीक समझूँ ?

तुम्हारे हिसाब से मूल्य के स्तर पर विचार किया जाये तो **पाकिस्तान** के दो टुकड़े करना, **पाकिस्तान** के जनहित के हिसाब से अनैतिक है। यानी दूसरे शब्दों में मूल्य का वह स्तर **पाकिस्तान** के जनहित के हिसाब से अनैतिक है। यानी दूसरे शब्दों में मूल्य का वह स्तर **हिन्दुस्तान-रूस** और **पाकिस्तान** के बीच ही तय होगा कि किसका पक्ष ठीक है। भाई जान, वह बेचारा अभागा बंगला देश कहाँ गया, जिसकी छाती पर बैठ कर मूल्य का स्तर तय हो रहा है ? उसी मूल्य और विचार के स्तर पर तो अंग्रेजों का अपने उपनिवेशों को छोड़ने पर विवश किया जाना भी अनैतिक है। एक क्षण को **हिन्दुस्तान** या किसी भी उपनिवेश को बाहर निकाल दो और फिर बड़ी ताकतों के आपसी संदर्भ में मूल्य के स्तर पर विचार करके बताओ कि उपनिवेश रखने वाले सही हैं या उन्हें छुड़वाने वाले ? यहाँ चाहो तो इस तर्क को भी शामिल कर लो कि छुड़वाने वाले का भी अपना स्वार्थ होगा और इस बात की क्या गारंटी है कि जो छुड़वा रहा है, वही खुद कल इस खाली मैदान में अपना डेरा नहीं जमा देगा ?

विचार का एक शुद्ध स्तर वह है, जहाँ दूर बैठा एजरा पाउण्ड नाजियों का समर्थक हो जाता है और दूसरा वह है, जहाँ लोर्का को फायरिंग स्क्वैड गोलियों से भून देता है? तुम जिस शुद्ध विचार के धरातल पर उठने की बात करते हो, वहाँ तो यही कहा जाता है कि न कोई मरता है, न मारता है। मरना तो है ही, आदमी गोली से मरे या बीमारी से। उम्र से मरे या एक्सीडेंट से। एक अनिवार्यता के लिए मारने वाला सिर्फ निमित्त है—और मात्र निमित्त को इतना महत्व देना, बड़े मूल्य को स्वार्थवश छोटा या नैतिकताविहीन कर देना है। बड़ा मूल्य है: प्रकृति और यह निमित्त तो एक प्राकृतिक नियम की गति को जरा द्रुति और त्वरा ही प्रदान कर रहा है। यानी सर्विंग द नेचर!

इतनी देर बाद, अब मैं अपनी बात कहूँ। इस पत्र में और पूरे **'जनपक्ष'** में विचार का स्तर, मूल्य बोध, नैतिकता का विवेक इत्यादि-इत्यादि बातों का बार-बार दुहराया जाना तुम्हारा इनके प्रति गहरा सरोकार ही सिद्ध करता है। लेकिन मेरे और तुम्हारे सोचने में यही फर्क है कि तुम हर बात, विशेष रूप से पत्र में, यही कहते हो कि व्यवहार के धरातल पर तो यह बात ठीक है, लेकिन फिर विचार के स्तर पर... इत्यादि। असल में तुम्हारे लिए ये शब्द कुछ आत्यंतिक अवधारणाएं हैं, कुछ ऐसे 'ऐब्सोल्यूट कन्सैप्ट्स' हैं, जिन्हें व्यवहार के धरातल पर लाकर गंदला नहीं किया जाना चाहिए। या तो वे अपनी सारी शुचिता और शुद्धता बनाये रखते हुए आयें या फिर कतई न आयें। इसलिए तुम्हारे लिए यह कतई अजब नहीं है कि **विश्वम्भरनाथ उपाध्याय** वाला तुम्हारा सारा पत्र **'तानाशाह'** की अवधारणा की चीर-फाड़ करता है और **लक्ष्मीकांत** वाला अभिव्यक्ति की नैतिकता पर केन्द्रित है। यहाँ छूट ही नहीं देते, तानाशाह को आमंत्रित करते हो कि—**'देखो, ये बिके हुए मक्कार, बदमाश पत्रकार अभिव्यक्ति की शुचिता को भ्रष्ट कर रहे हैं। इसलिए आइए, और इनका मुंह कुचलने में मुझसे तर्क और युक्तियाँ लीजिए।'**

कितना बड़ा अन्तर्विरोध है कि कन्सैप्ट के धरातल पर मानवता के रेशे-रेशे को समझने और उजागर करने वाले लोग व्यवहार में मनुष्य के भयानक शत्रु होते हैं, क्योंकि तर्क और बौद्धिक धरातल पर शुद्धता और शुचिता की जिन शर्तों का वहाँ वे आरोपण कर लेते हैं, मनुष्य का आकार लेते ही वह सब उन्हें भ्रष्ट होता लगता है। हजारों सालों से विचार, नैतिकता, मूल्य, मानवता इत्यादि पर जितना चिन्तन-मनन हमारे यहाँ हुआ है, क्या उसका शतांश भी किसी दूसरी संस्कृति ने किया है ? लेकिन वह सारा हवाई-चिन्तन और बौद्धिक बारीकियाँ किस मनुष्य के काम आयीं ? **वीरेन्द्र कुमार जैन** की लिखी हुई बात दुहरा दूँ कि **'यत्र नार्यस्तु पूज्यते'** वाले ही रोज पुत्री और पत्नी-दहन कर रहे हैं। मानवता को विचार के स्तर पर लेने वाले पड़ोसी को चीरकर खा जाते हैं। क्या इन सारे एब्सोल्यूट मूल्यों ने औरों की तुलना में हमें बेहतर मनुष्य बनाया है ? क्या हम नैतिक, चारित्रिक और व्यवहार की दृष्टि में दुनिया के किसी भी देश के नागरिक से ज्यादा गिरे हुए नहीं हैं ? **कहाँ है वह सारे दर्शनों और उपनिषदों का तत्वज्ञान**, जो सिर्फ पढ़ने-सुनने और बताने **में बेहद उदात्त, महान्** लगता है, लेकिन **आदमी को झूठा, मक्कार, क्लीव, स्वार्थी, और टुच्चा बनाता जाता** है ? या कहीं उसका हाथ पकड़कर नहीं उठाता ? यार, उन भारतीय मनीषियों और ऋषियों की तरह इतना ऊँचा मत उड़ो कि हमारे हिस्से हिलती हुई परछाइयों की सिर्फ कालिमा ही आये।

सो, भाई मेरे, कन्सैप्ट्स या अवधारणाओं के क्षितिज तो इतने ऊँचे हैं कि उनको लेकर हम लोग जिन्दगी-भर बहस करते रह सकते हैं और हो सकता है, किसी नतीजे पर न पहुँचें। **'लेखक को विचार के स्तर पर चीजों को साफ कर लेना चाहिए'** का आग्रह अपने-आप में बहुत बड़ी चुनौती है और मेरे लिए बहुत भारी है। क्योंकि इस आकर्षक आग्रह में हम विचार को अपने भीतरी परीक्षण-कक्ष या लेबोरेटरी में ले जाते हैं

और उसके स्तर-स्तर को समझने का प्रयास करते हैं, इस बीच असलियतें कहीं की कहीं पहुँच जाती हैं। यानी **जब तक हम विचार को छान-फटक कर शुद्ध कर पाते हैं और लैबोरेटरी से बाहर आते हैं, तो** देखते हैं कि **इस बीच दुनिया ही बदल गयी है और अब उस विचार का स्थान एक खूबसूरत नमूने की तरह अजायबघर में रखने से अधिक नहीं रह गया है।** इसीलिए शायद शैक्सपियर ने **हैमलेट** के माध्यम से कहा था कि 'करूँ या न करूँ' की जद्दोजहद हमें निर्णय और ऐक्शन की दुनिया से दूर ही नहीं करती, कर्म की सारी ऊर्जा, प्रेरणा और उत्साह को चूस जाती है।

मैं जानता हूँ कि तुम मुझे विचार-विरोधी मानकर एक लम्बा भाषण या आरोप-पत्र पिलाने जा रहे हो और उसमें मेरे लेखक या विचारक होने को भी सूली पर लटका दोगे। मैं तो केवल यही कह रहा हूँ कि 'ऐब्सोल्यूट कन्सैप्ट्स' की बहस हमें महान चिन्तक तो बना सकती है, दार्शनिकों में सिरमौर कर सकती है, मगर **तुम जिस तरह इन प्रश्नों से उलझ रहे हो, वह मुझे भारतीय तर्कविदों की 'सर्प और रज्जु' वाली बहस की याद दिलाता है।** बिलकुल मैं मानता हूँ कि चाहे सौ साल लगें, हमें विचार और चिन्तन के स्तर पर तय कर लेना चाहिए कि सर्प क्य है, और रज्जु क्या है, तभी उसके पास जाना चाहिए। लेकिन मेरा कहना यही है कि दूर बैठे-बैठे हम लोग बरसों यह तय करते रहें, क्या इससे अच्छा यह नहीं है कि हिम्मत करके डण्डे से हिलाकर देख लें कि सामने सर्प है, या रज्जु ? मैं तो यही मानता हूँ कि विचार-नैतिकता सब को व्यवहार के धरातल पर लाकर ही हमें जाँचना चाहिए। क्या तुम्हें नहीं लगता कि जिसे संस्कृति कहते हैं, वह विचार और व्यवहार के बीच के अन्तराल को कम करने की जद्दोजहद है ? अगर बिना विचार का व्यवहार कदाचार है, तो बिना व्यवहार का विचार भी बौद्धिक ऐयाशी है और उन्हीं के लिए सुरक्षित है, जिन्हें तुम या मैं एलीट, यानी बौद्धिक अभिजात-वर्ग कहते हैं। **'विचार-नैतिकता-मूल्य'** चूँकि हाड़-मांस के

मनुष्य और उसके व्यवहार से जुड़े हैं, इसलिए तुम्हें चाहे जितने जुगुप्सा-जनक लगें, वे देश-काल के संदर्भों से बंधे हैं। इन संदर्भों के बिना उन पर कोई विमर्श नहीं हो पायेगा।

जनवादी लेखक संघ के बारे में तुमने जो कुछ कहा है, उसके संदर्भ में मुझे एक प्रसिद्ध कहानी याद आती रही। शायद **विक्टर ह्यूगो** की है। एक जहाज पर अनेक यात्री यात्रा कर रहे हैं। उनमें मैत्री, शत्रुता, द्वेष, दुश्मनी सभी कुछ है। टुच्चे भी हैं और स्वार्थी भी, पादरी भी हैं और अपराधी भी। नयी मैत्रियां भी इस दौरान हुई हैं और शत्रुताएं भी—यानी एक जहाज के सहयात्री होने के नाते मानवीय स्वभाव और व्यवहार के सारे पक्ष एक-दूसरे के सम्पर्क में आते हैं। अब तूफान की चपेट में आकर वह जहाज डूब रहा है और सारे के सारे पाते हैं कि सब केवल एक सुदृढ़ भावना से बंधे हैं, वह है न डूबने की, किसी तरह बच निकलने की—यानी जहाज को बचा लेने की। उनके बीच जो सहयोग-सद्भाव पैदा होता है, वह केवल एक ही 'स्वार्थ' से प्रेरित है—विरोधी स्थितियों से बच निकलने के। हो सकता है, उनमें से कुछ अपनी तिक-ड़म या प्रकृति की कमजोरी और शक्ति का लाभ उठाकर बीच में ही साथ छोड़ दें और कुछ दूसरों को डुबा दें, ताकि सबसे अधिक सुरक्षित जगह उनके लिए बची रहे। यह भी तय है कि इस मुसीबत के गुजर जाते ही वे फिर अपनी-अपनी पुरानी या नयी शत्रुताओं और मित्रताओं में लौट जायेंगे—कुछ नये समीकरण बना लेंगे। **ह्यूगो** ने लिखा है या नहीं, मुझे याद नहीं, मगर उनमें दो-एक तो ऐसे होंगे ही जो अलग बैठकर 'विचार के स्तर पर' और नैतिकता के धरातल पर मूल्यगत चिन्तन कर रहे होंगे कि जहाज क्या है, डूबना किसे कहते हैं, जो डूबता है; वह तर नहीं जाता क्या? ये संकट के स्वार्थ अपनी जान बचाने के टुच्चे भाव से प्रेरित क्या कल भी ऐसे ही सहयोग-सद्भाव को बनाये रखेंगे? इनके अपने इतिहास क्या हैं? कोई हत्यारा, बटमार, लफंगा

और डाकू है तो कोई पादरी, पुजारी और प्राध्यापक ! इनमें आपस में अपनी जान बचाने के अलावा कौन-सा उदात्त भाव है ? हो सकता है जहाज के पूरी तरह डूब जाने या मुसीबत के बाहर हो जाने के क्षण तक भी वे यह तय न कर पायें कि **'विचार के धरातल'** पर स्थिति क्या है और फिर उनके आपसी व्यवहार को देखकर बुद्धिमानों की तरह कहें : **'देखा, हमने पहले ही कहा था कि ये लोग मूल रूप से टुच्चे और छोटे लोग हैं। आ गये न अपनी असलियत पर ?'** कहानी का नाम है **'द रैंक' (नाव-दुर्घटना)** ।

सिवा डाकुओं और उठाईगीरों के आदमी कभी संगठित नहीं होता, तुम्हारी यह तर्कपद्धति चकित ही करती है। अच्छा, मैं माने लेता हूँ कि तुम जो कह रहे हो, उसमें काफी वजन है। अब यह बताओ कि हमें और तुम्हें एक संगठन बनाना है, वह कैसा हो, उनमें कौन-कौन लोग हों ? वैचारिक और व्यावहारिक आधार क्या हों ? ईमानदारी से मैं जानना चाहता हूँ कि दो-चार-दस आदमियों को संघबद्ध या संगठित होना चाहिए या नहीं ? अगर होना चाहिए तो विचार, नैतिकता और मूल्यों की ऊँची-ऊँची बातें बिल्कुल मत सुनाना। मुझे तो ठोस तरीका बताना और उन लोगों के नाम लेकर गिनाना, जिनके साथ हम संगठन बनायेंगे—क्योंकि नाम और स्थितियाँ सब-कुछ तुम्हारे ही सामने हैं, स्थितियों से तुम मुझसे अधिक परिचित हो। **मुझे मालूम है कि तुम किसी संगठन बनाने का कोई ठोस सुझाव नहीं दे पाओगे, न व्यक्तियों के नाम गिना पाओगे—तुम सिर्फ वैचारिक और सैद्धान्तिक बातें बताओगे कि संगठन को कैसा और किन नैतिक मूल्यों से उत्प्रेरित होना चाहिए।** और जिस तरह के सुझाव दोगे, उन आधारों पर संगठन या संघ नहीं, आश्रम बनते हैं, जहाँ लोगों को अपने विचारों के हिसाब से ढाला जाता है। लेकिन उनके ऊँचे आदर्शों और विचारों वाले आश्रमों के हम सब देख रहे हैं। एक पीढ़ी अपने जीवन ही में आदर्शों का पालन नहीं कर पायी।

तुम्हारी दूसरी चिन्ता ज्यादा गहरी और मूलगामी है, व्यवस्था और व्यक्ति के सम्बन्ध। वह कौन-सी व्यवस्था हो, जहाँ व्यक्तित्व को सुरक्षित और समृद्ध होने की छूट हो। वह बहस चल सकती है और न जाने कब से चल भी रही है। व्यक्तित्व की चिन्ता से तुम्हारा व्यवस्था-मात्र का विरोधी हो जाना मेरी समझ में आता है, लेकिन उसी स्तर पर तुम्हें **वात्स्यायन जी** का तर्क क्यों नहीं समझ में आता, मुझे आश्चर्य है।

मैंने **बटरोही** को लिखे पत्र में काफी स्पष्टता से यह बात कही है कि **भगतसिंह** व्यक्तिगत एडवैण्चर की जरूरत को समझते हुए भी साथ-साथ सैद्धान्तिक स्तर पर **सोशलिस्ट रिवोल्यूशनरी आर्मी** के आधार पर, व्यापक लड़ाई की सम्भावनाओं और जन-संगठन की जरूरत पर भी काम कर रहे थे। अपनी इन सारी बातों के साथ-साथ अगर तुम एक वैकल्पिक संगठन की रूपरेखा भी स्पष्ट कर सको, तो बड़ा उपकार हो।

अक्षर प्रकाशन की मेरी बात को भी तुमने अपने संदर्भ से काटकर समझा है। मैं प्रारम्भ से ही नौकरियों, पुरस्कारों और सरकारी सुविधाओं के पीछे इसलिए नहीं भागा कि मुझे लगता था, ये सब लेखकीय स्वतंत्रता को कुंठित कर सकते हैं। **अक्षर प्रकाशन** का ही एक रास्ता मुझे ऐसा लगा, जहाँ शायद इस स्वतंत्रता की रक्षा की जा सके। प्रारम्भ में तो मैंने भी यही सोचा था कि जब सारी मशीनरी बनानी ही है, तो एक लेखक की जगह अनेक लेखक उसका लाभ क्यों न उठायें, यानी एक ऐम्बैसेडर जब एक ही गंतव्य को जा रही है, तो मैं उसमें चार और व्यक्तियों को भी बैठा सकता हूँ। मगर मैंने पाया कि जिन चार-पाँच को बैठाने की बात मैंने सोची थी, **उनके न वे लक्ष्य थे, न गंतव्य। उन्हें यह भी शक था कि मैं धक्का लगवाने की सुविधा के लिए साथ ले रहा हूँ।** हुआ भी यही, अपने-अपने धरातल पर वे चाहे **उन्हीं कष्टों और मुसीबतों के भुक्तभोगी रहे हों, लेकिन आपस में या मुझसे सम्बन्ध सिर्फ व्यावसायिक रखना चाहते थे।** उनमें से ही अनेक लेखकों ने प्रकाशन भी शुरू किये और पत्रिकाएँ भी निकालीं। और अब मैं भी

देख रहा हूँ कि मुझे रायल्टी खा जाने वाला सिद्ध करके वकीली नोटिस और कुर्कियाँ लाने वाले किन-किन की रायल्टियाँ दे रहे हैं और अपने-अपने पत्रिका-मंच से किन-किन लेखकों को पारिश्रमिक पहुँचाते हैं ? इनमें सबसे अधिक दिलचस्प स्थिति तो **भारती**-जैसों की है, जो जिन्दगी-भर सेठ की नौकरी बजाते हुए, अखबार की तनखा पर **'इलाहाबादी फूल और कुहरों'** का कवच-कुंडल पहने मुझसे पूछते हैं कि अधिक पारिश्रमिक माँगने का हक मुझे तभी है, जब मैं अपने लेखकों की रायल्टी चुका दूँ। किसी पागलपने से प्रेरित होकर जिन लोगों ने कभी कोई प्रयास नहीं किया, बड़े सुरक्षित और हिसाबी ढंग से चीजों और सम्बन्धों को लेते रहे, उन टुकड़खोरों को मैं क्या बताता कि इन्हीं पारिश्रमिकों और फिल्मों से लिये गये पैसों से मैंने रायल्टियाँ चुकाई हैं। जिसके मन में कहीं कोई आग ही न बची हो, वह कैसे समझ सकता है कि **'विकल्प'** या **'जनपक्ष'** का निकालना क्या होता है ? उनके लिए तो **'जनपक्ष'** एक पर्चा है, जिसमें कांग्रेस की संडास-सफाई से माल भरा जा सकता है, अपने प्रेस के लिए छपाई और कागज का हिसाब-किताब बनाया जा सकता है और अपने विरोधियों को ठिकाने लगाया जा सकता है।

हाँ, सब समझते-बूझते भी मैं **'जनवादी लेखक संघ'** में क्यों हूँ। इसका जवाब अभी रह गया है। विश्वास मानो, वहाँ होने का मैंने अभी तक कोई लाभ नहीं उठाया है। क्या उठाया जा सकता है, इस बारे में रोशनी डालो तो आभार मानूंगा। अब शायद इतना लम्बा पत्र न लिख पाऊँ। लिखने की तुम्हारी जैसी अजस्र क्षमता मेरे पास नहीं है। सीमित बैटरी है, उसे पत्र लिखने में खर्च कर दूँ या कुछ और लिखने का प्रयास करने में।

आशा है स्वस्थ और प्रसन्न हो।

सस्नेह,
राजेन्द्र यादव

● ●

इलाहाबाद

राजेन्द्र भाई, २० नवम्बर ८२

आपका १४/१० का पत्र। बहुत अच्छा लगा कि इस बार आप कुछ 'मूड' में आये। जिस वजन पर आपने यह पत्र लिखा है, संवाद ऐसे में ही सम्भव है। आपने अपने को अभी समेटा नहीं, विचार और संघर्ष के लिए खुला रखा है—यह कोई सामान्य बात नहीं है। ऐसे आदमी से सहमत-असहमत हुआ जा सकता है, मूल्यों के प्रति उसके गहरे लगाव और सरोकार से इंकार नहीं किया जा सकता। लेखक यदि मुद्दों पर अंतिम रूप से निर्णय कर चुकने की कट्टरता से मुक्त रह जाय, तभी वह असहमत से भाषा और तर्क का रिश्ता कायम रख सकता है और लेखक-लेखक के बीच यह भाषा और तर्क का रिश्ता ही है, जो घोर असहमतियों के बावजूद एक-दूसरे को संवाद में रखता है।

शब्दों का जितना अर्थ सामान्य व्यवहार में होता है, विचार और व्यवहार के संघर्ष से गुजरने पर उतना ही नहीं रह जाता, निरंतर परिष्कृत होता रहता है। और यह अनुभव से जानने की वस्तु है कि भाषा—खास तौर से किसी लेखक के लिए—सिर्फ उतनी ही होती है, जितना उसका जिंदगी से सरोकार होता है। जीना और लिखना, ये दो परस्पर पृथक हों, तो जिंदा रहना और कलम चलाते रहना भले ही बच जाय, इनका वास्तविक अर्थ जाता रहता है। जैसा जीवन, इससे बेहतर लेखन सम्भव नहीं होगा—यह अहसास निरन्तर गहरा होता गया और यह कारण है कि जीने को सुरक्षाजीवी बनाकर, लिखने को क्रांतिकारी बना सकने की गलतफहमी नहीं हुई। **'जीवन और साहित्य, कला इत्यादि'** को निष्ठा और अस्तित्व की शर्त के स्तर पर लेना **'आध्यात्मिक पूजा'** से भी कहीं आगे अन्वेषण और साक्षात्कार के धरातल पर जीने की जिजीविषा की माँग करता है। जीवन और साहित्य 'कामचलाऊ' स्तर पर परितोष धारण करने की वस्तु नहीं होते। साहित्य, कला इत्यादि से

अस्तित्व का वास्ता हो, तभी कुछ मूल्यवान सधता है। चिन्ता और चेष्टा करता आया कि जीवन और साहित्य से एक लेखक के अस्तित्व की शर्त का सरोकार बन सके, लेकिन वो जो कहा गया है कि **'आती है उर्दू जबां आते-आते'**—जीना और लिखना आते भी वक्त लगता है और यह वक्त महीनों और सालों के नहीं, हमारे संघर्ष और उसके परिणाम के अनुपात में तय होता है।

काफ्का ने जब कहा कि कलम उसकी **'छठी उँगली'** है तो लगता है कि अगर मेज पर अलग रखी उसकी कलम पर चाकू चला दिया जाय, तो इस **'छठी उँगली'** में से **काफ्का** का रक्त बहने लगेगा। साहित्य के प्रति इतना गहरा मनोयोग सधे, तभी लेखक जान पाता है कि **'वागर्थाविव सम्पृक्तौ'** की व्याप्ति कहाँ तक हो सकती है। तभी उसे यह चिन्ता व्याप सकती है कि वह इस पड़ताल में जाय कि उसका लेखन इतना निरर्थक और निष्प्रभावी क्यों है। लिखे हुए में लेखक का प्राण समा जाय, तभी वह दूसरों को भी स्पर्श करता है। जिस लेखक की भाषा में मनुष्य के अन्तःकरण को आन्दोलित करने की शक्ति न हो, उसका जीना और लिखना, दोनों व्यर्थ जाते हैं और यह अपने जीने और लिखने को व्यर्थ जाते देखते रहने का ही परिणाम है कि कोशिश में हूँ। अपने जीने और लिखने की सीमा के विषाद में ग्रस्त, हिन्दी के अन्य किसी भी लेखक की तुलना में अपने को नितांत असमर्थ अनुभव करने वाला और साहित्य के **'मैदान'** से स्वयं ही वृत के बाहरी किनारे से जा लगा पलायनजीवी व्यक्ति यदि आपको **'दोनों हाथों से तलवार भाँजता योद्धा'** दिखाई पड़ता है, तो कहने की इजाजत देंगे कि यह **डॉन क्विग्जोट** का देखना तो हो सकता है, किसी लेखक का **'देखना'** नहीं।

जिद्दी और युयुत्सु लेखक करार देने वाले बहुत हैं, आपसे अपेक्षा है कि मुझे मेरी वास्तविकताओं में देखें। बाढ़ में डूबते का जल को थाहना दोनों हाथों से तलवार भाँजना नहीं होता। एक लेखक के हैसियत की

अस्तित्व-रक्षा के अकिंचन संघर्ष में होना—यह करुणा और विनय में होना है, युयुत्सा में नहीं। और मानता हूँ कि **शैलेश मटियानी** का संघर्ष अकिंचन और निष्प्रभावी ही सही, लेकिन एक लेखक का संघर्ष है, ऐसा कहीं आप भीतर से अनुभव करते हैं और यह कारण है कि सम्बन्ध बना रह गया है। अन्यथा इतना बखूबी जानता हूँ कि प्रश्न, तर्क और बहस में जाने वाले के प्रति बंधुभाव रखना, यह हिन्दी के अधिकांश लेखकों के बस की बात नहीं। अच्छे-से-अच्छे सदाशयी और उदात्त उन प्रश्नों से विक्षुब्ध हो जाते हैं, जिनका उत्तर उनके पक्ष में न जाता हो। ऐसे में आपसे संवाद—जब तक भी रह जाय—यह एक लेखक की हैसियत का सहकार अनुभव होता है और इसे 'अन्य कुछ लिखने की जरूरत भी होने' के बहाने स्थगित नहीं करूँगा। आपको पत्र लिखना रचना करने से कम महत्व की वस्तु नहीं लगता और कोशिश करना चाहता हूँ कि कभी तो कोई पत्र ऐसा बन जाय, जिसे पढ़ते हुए आप दोनों हाथों से तलवार खड़खड़ाते आत्महंता युयुत्सु की जगह, विनय और विवेक की भाषा में उपस्थित हुए व्यक्ति के रूप में मुझे देख सकें।...और तब आप असमंजस के स्तर के विस्मय, श्रद्धा अथवा पहुँच से परे होने की खीझ में नहीं, एक सहधर्मी की अंतरंग सहभागिता में होंगे। हो सकता है, वह दिन बहुत दूर हो, लेकिन '**दूर होना**' ही अकाम्य होना नहीं होता।

अब '**भोली सदाशयता**' के प्रति कुछ निवेदन करना चाहूँगा।

पहले भी आपको इतना तो लिखा ही कि किसी भी वस्तु या कार्य को उसके निमित्त और परिणाम में से ही सही-सही जाना जा सकता है। '**सदाशयी**' होना भी मात्र अपने को सदाशयी समझने, अनुभव करने या माने जाने में से ही तय नहीं हो जाता—जीवन और आचरण के परिणाम में से तय होता है। कोई लेखक अपनी सम्पूर्ण सदाशयता में से समाज के हित में लेखन-कार्य करे, तो चूँकी उसने 'सम्पूर्ण सदाशयता' में

लिखा, इसी से उसके लिखे हुए का समाज के हित में होना सिद्ध नहीं हो जायेगा—यह उसके लिखे हुए के परिणाम से प्रकट होगा कि उसकी सदाशयता किस कोटि की थी। '**भोली सदाशयता**' और '**मतिभ्रम**', ये दोनों एक ही प्रजाति के शब्द हैं। और ऐसे में **सुभाषचन्द्र बोस** के **जर्मनी** और जापान के तानाशाहों से सम्पर्क स्थापित करने के प्रसंग को उसके सारे पूर्वापर कारणों और परिस्थितिगत दबावों में न देखकर, यदि सिर्फ उनकी व्यक्तिगत '**भोली सदाशयता**' में देखना चाहें, तो **लेनिन** की '**व्यावहारिक राजनीति**' के तर्क को भी आपको ताक पर रखना होगा। कोई भी विचारवान व्यक्ति यह मानने को, शायद, कदापि तैयार नहीं होगा कि **सुभाषचन्द्र बोस** का जीवन और कर्म अन्ततः **ब्रिटिश साम्राज्यवाद** के पक्ष में गया और उससे **ब्रिटिश साम्राज्यवाद** की जड़ें मजबूत हुईं। अंग्रेजों ने भारत छोड़ने में ही कुशल देखी, तो उसमें सिर्फ गाँधी के सत्याग्रहों का ही नहीं—**आजाद, भगतसिंह, सुखदेव** और **अशफाक**-जैसे अनेकानेक शहीदों के राष्ट्र के अन्तःकरण तक प्रतिध्वनित होने वाले उत्सर्ग और **नौसेना** तथा **आजाद हिन्द फौज** की बगावतों का दबाव भी था। आपके कथन से तो ऐसा लगता है कि **हिटलर-तोजो-मुसोलिनी** की गोद में खेलते हुए **सुभाष बोस** की '**भोली सदाशयता**' आपकी आँखों-देखी घटना है और आपकी स्मृति का हिस्सा बन गई है।

ऐसा है, भाईसाहब, कि आदमी तर्क और रूपकों में जाय, तो अपने पक्ष के बचाव से कहीं ज्यादा, उनके वस्तुगत अर्थ और संदर्भ टटोलकर ही जाय, तभी बात बननी है। जहाँ तक मैं समझ पा रहा हूँ, आप **लक्ष्मीकांतजी** के प्रति सदाशयता बरतने के चक्कर में ही **जर्मनी, जापान** और **इटली** तक निकल गये हैं, जबकि जो प्रश्न पत्रकारिता वाली टिप्पणियों[1] में उठाये गये थे, उनका उत्तर आप दिल्ली में विद्यमान रहते हुए भी दे सकते थे, क्योंकि उन प्रश्नों में कोई भी इतना '**हवाई**' नहीं है कि उड़ानें भरने के अलावा कोई विकल्प ही न रहे।

---

१. 'जनपक्ष' संख्या ८ में प्रकाशित।

आपके साथ सबसे बड़ी दिक्कत यह है कि आप शून्य में आधार खड़े करते हैं और असंदर्भित रूपक गढ़ते हैं। मेरी टिप्पणियों में कहाँ **जगन्नाथ मिश्र** या **श्रीमती गाँधी** का पक्ष-समर्थन है, इसका कोई उदाहरण देंगे ? यदि मैं कहूँ कि लेखक को समाज के हित में लिखना चाहिए और **श्रीमती गाँधी** तथा **जगन्नाथ मिश्र** भी किसी साहित्यकार-सम्मेलन में ऐसा ही कहें, तो क्या यह **श्रीमती गाँधी** और **जगन्नाथ मिश्र** के द्वारा मेरे तर्कों का उगला जाना होगा ? **लक्ष्मीकांत वर्मा** की तुलना में **श्रीमती गाँधी** का वक्तव्य ज्यादा तर्कसंगत है, यह कहना **लक्ष्मीकांत जी** के वक्तव्य के खोखलेपन के प्रति इंगित करना है—**श्रीमती गाँधी** का पक्ष-समर्थन करना नहीं। आप यदि मेरी टिप्पणियों में से एक भी पंक्ति **श्रीमती गाँधी** या **जगन्नाथ मिश्र** के समर्थन में उद्धृत कर दें, तो गलती स्वीकार कर लूँगा। **बिहार प्रेस विधेयक** के बारे में मेरी स्पष्ट धारणा है कि यह सिर्फ नौटंकी के लिए है, व्यवहार में लाने के लिए नहीं।

'भोली सदाशयता' के परिणामों से आप अवगत होते, तो **लक्ष्मीकांत जी** के पक्ष में सदाशयता इस्तेमाल करते हुए उन प्रश्नों के निदान में जाते, जो टिप्पणियों में उपस्थित किये गये थे और जिनके उत्तर आपके पास भी हैं, **लक्ष्मीकांत जी** और देश के अन्य प्रमुख पत्रकारों के पास भी, लेकिन देगा कोई नहीं। आपको ध्यान ही नहीं रहा कि **लक्ष्मीकांत जी** के प्रति भोली सदाशयता बरतते हुए आप ठीक यहीं—उन्हीं के साथ-आ पहुँचे हैं, यानी मौजूदा पीत-पत्रकारिता के समर्थन में। **लक्ष्मीकांत जी** ने नहीं बताया कि भारतवर्ष में स्वतंत्र प्रेस कहाँ-कहाँ हैं और स्वतंत्र पत्रकार कौन-कौन-से हैं—आप बताते। **बिहार प्रेस विधेयक** का राष्ट्रव्यापी विरोध प्रेस मालिकों के इशारों पर हो रहा है, स्वतंत्र पत्रकारिता की चिन्ता में नहीं। किसके पक्ष में और किसके विरुद्ध, कब और कितनी पत्रकारिता की जाय, यह प्रेस-मालिकों के तय करने की वस्तु है, पत्रकारों के नहीं। इन तथाकथित हुतात्मा पत्रकारों का स्वयं पत्रकार बिरादरी के

व्यापक हितों से कोई दूर का भी वास्ता नहीं। ये मालिकों की शह पर और अपने निहित स्वार्थों के लिए बाजारू द्ंद मचाये हुए हैं; समाज के हितों, अभिव्यक्ति और विचार की स्वतन्त्रता के प्रश्नों से इनका कतई कोई लगाव नहीं—यही सब तो कहा गया था टिप्पणियों में? और ये सारे प्रश्न भोली सदाशयता के प्रश्न नहीं, वास्तविक सरोकारों के प्रश्न हैं और कहते दुख है कि आप सिर्फ भोली सदाशयता में गये हैं, विचार और विवेचन में नहीं। **लक्ष्मीकांत** जी के वक्तव्य के प्रति उपस्थित किये गये वैचारिक प्रश्नों का उत्तर देना और टिप्पणियों में उठाये गये सवालों को गलत सिद्ध करना ही उनके प्रति 'सहानुभूति' बरतना हो सकता था—प्रश्नों को '**लताड़**' मान लेना नहीं। क्योंकि इस तर्क से आपके और मेरे बीच का संवाद भी सिर्फ पारस्परिक लताड़ ही रह जायेगा—दो लेखकों के बीच की वैचारिक बहस नहीं। अब आप कहें, कि प्रश्नों को लताड़ न मानना विस्मय और श्रद्धा का भाव उत्पन्न करना या पहुँच से परे पहुँच जाना है, तो इतना ही कहूँगा कि यह एक विचारवान लेखक का कहना नहीं हुआ। किसी लेखक के लिखे के प्रति वैचारिक प्रश्न उपस्थित करना उसे लताड़ना नहीं, समादृत करना होता है। अब यह बिल्कुल दूसरी बात है कि सम्बद्ध लेखक को प्रश्न ही लताड़ प्रतीत होते हों।

और, जनाब, इसमें संशय की गुंजाइश क्योंकर होगी कि बातों को मुद्दों पर केन्द्रित होना चाहिए, लेकिन मुद्दे व्यक्तियों के द्वारा ही उपस्थित किये जाते हैं—शून्य में से प्रकट नहीं होते। इस तर्क से तो **साम्यवाद** के मुद्दों पर विचार करते हुए **मार्क्स**, **एंजिल्स** और **लेनिन** पर बात करना भी मुद्दों से हटकर, व्यक्तियों पर बात करना करार दिया जा सकता है? '**वहाँ मुद्दा संचार-माध्यम-द्वारा जनता तक पहुंचने का था**' कहते हुए तो '**क्या लेकर पहुंचने**' के प्रश्न को हाशिये पर छोड़ ही दिया आपने—अफसोस कि '**यहाँ मुद्दा मदारी वाले सदाशय भालू का है**' कहते हुए भी आपने यह स्पष्ट नहीं किया कि संकेत किस ओर

है ! **जनवादी लेखक संघ** और **लक्ष्मीकांत जी** के नाक पर की मक्खियाँ उड़ाने की **'भोली सदाशयता'** का हश्र क्या सचमुच यही होना था कि **'गति के पहले सुरक्षा'** की सावधानी ही जाती रहे ? और क्या नाक के अन्दर के नासूर को यथावत् रखते हुए, **'नाक के ऊपर की मक्खी' को उड़ाना भला कोई उपाय होता है ?**

इंदिरा जी के **'मीसा'** लगाने की हकीकत जिन सब लोगों को मालूम थी, उनको क्या किसी डॉक्टर ने बताया था कि हकीकत को जान तो लेना, मगर बताना मत ? **'हकीकत'** को बताना निरापद हो चुकने पर तो न-जाने कितने हुतात्मा लेखक-पत्रकारों ने हमें बताया कि **'मीसा की हकीकतें'** क्या थीं—लेकिन जब यह हकीकत दमघोंटू साँसत बनी हुई थी, तब इस **'हकीकत'** को बताना क्या हम लेखकों और पत्रकारों की नैतिक जिम्मेदारी न होकर, देश के सामान्य नागरिकों और सरकारी अफसरों का काम था ?

और जिस **'विरोध के स्वर'** की बात आप कह रहे हैं, वह है कहाँ, जिसे दबाने को विधेयक लाया जा रहा है ? जो-कुछ है, उसमें ऐसे नियोजित तथा निरापद विरोध का पलड़ा भारी है, जो व्यवस्था को माफिक पड़ता है। जेनुइन विरोध को ध्वस्त करने या कि पनपने ही न देने की व्यूह-रचना तो पहले से ही मौजूद है और इसे सचमुच कोरी सदाशयता के तर्क से नहीं रोका जा सकेगा। अपनी भोली सदाशयता के तहत ही यह भ्रम हुआ है आपको कि बिहार प्रेस विधेयक **जगन्नाथ मिश्र** लाये हैं। टिप्पणी में स्पष्ट है कि **बिहार प्रेस विधेयक** सिर्फ एक नौटंकी है—न यह लागू करने के इरादे से लाया गया है, न लागू किया जाएगा। प्रेस-जगत पर पूँजी प्रतिष्ठानों के एकछत्राधिकार को यों ही प्रश्रय नहीं दिया गया है। यह व्यवस्था आपकी तरह **'भोली सदाशयता'** की मुरीद नहीं—परम कुटिलता में निष्णात है। सरकार और व्यवस्था को पृथक करके देखने के बौद्धिक अधकचरेपन में ही हमारे अधिकांश लेखक-

पत्रकार बंधु गलत नतीजों पर पहुँचते हैं। पूंजी-प्रतिष्ठानों द्वारा परिचालित प्रेस-जगत के लिए किसी प्रेस विधेयक या 'सेंसरशिप' की जरूरत नहीं, क्योंकि इसके लिए पूंजीनिवेशियों को **'इंगित'** करना पर्याप्त होता है।

अभी-अभी जापान-रिटर्न पत्रकार **श्री मनोहरश्याम जोशी** को **'साप्ताहिक हिन्दुस्तान'** की सम्पादकीय कुर्सी पर से कान पकड़कर एक तरफ लुढ़का दिया गया, तो क्या **जगन्नाथ मिश्र** या श्री**मती गाँधी** ने ? और कह दिया जाय कि नहीं, **हिन्दुस्तान टाइम्स** के मालिकों ने, तो क्या बिना **'सरकार'** के 'इंगित' के ही ? और मैगसेसे पुरस्कार-विजेता अपने 'पागल घोड़े' **अरुण शौरी** को स्वतंत्र पत्रकारिता के प्रतिपाल श्री **रामनाथ गोयनका** ने **'लात'** मार दी तो क्या यों ही हवा में ? थोड़ी-सी भी मालिक-निरपेक्ष पत्रकारिता के क्या परिणाम निकलते हैं, **मनोहरश्याम जोशी** और **अरुण शौरी** के उदाहरणों से स्पष्ट है।

क्यों नहीं सरकार के विरुद्ध अभूतपूर्व राष्ट्रीय हंगामा खड़ा करने वाले पत्रकार-पुंगवों ने **टाइम्स ऑफ इण्डिया प्रेस**, **इण्डियन एक्स-प्रेस** और **हिन्दुस्तान टाइम्स**-जैसे प्रेस-प्रतिष्ठानों के मालिकों के विरुद्ध आंदोलन शुरू किया ? क्या **'अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता'** में सरकारी हस्तक्षेप तो तानाशाही है, लेकिन पूंजीनिवेशियों का हस्तक्षेप लोकतांत्रिक कदम ? और क्या अब भी आपको इतना समझ पाने में सचमुच दिक्कत हो रही है कि **बिहार प्रेस विधेयक** की नौटंकी का वास्तविक खेला क्या है ? सरकार, पूंजी-प्रतिष्ठान और इनसे प्रतिबद्ध पत्रकारों के पारस्परिक 'कॉलोबोरेशन' में मजमा लूट रही इस नौटंकी के अंदेशे में **लक्ष्मीकांत वर्मा** का व्याकुल घूमना तो समझ में आने वाली बात है, क्योंकि उनकी व्याकुलता सपारिश्रमिक होती है, मगर आप तो सचमुच भोले सदाशयी हैं !

भइया जी, अश्लील फिल्मों और पीत-पत्रकारिता को अस्मिताफरोशों की ये सरकारें रोकेंगी ? जिस देश का कार्यकारी राष्ट्रपति, सर्वोच्च न्यायालय का भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश बिना विज्ञापन के व्यापार करने को **'अँधेरे में लड़की को आँख मारना'** घोषित करता हो, उसमें आपकी यह भोली सदाशयता कहाँ टिकेगी कि **जगन्नाथ मिश्र** अश्लील फिल्मों और माफिया गिरोहों को प्रतिबंधित क्यों नहीं करते ? **'आर्यावर्त्त'** और **'इण्डियन नेशन'** को या बिहार की पत्रकारिता को प्रतिबंधित कर लिया है **जगन्नाथ मिश्र** ने ? या कि **जगन्नाथ मिश्र** नाम के शतरंजी मोहरे की इतनी बिसात है भी ? सारा खेल **'ऊपर वालों'** का है और फड़ भी आखिर वही समेटेंगे—**जगन्नाथ मिश्र** नहीं ।

आपको शायद, खबर नहीं लगी कि **'आर्यावर्त्त'** में **ज० ना० मिश्र** के विरुद्ध अभियान स्वतंत्र पत्रकारिता के हनन के प्रश्न पर नहीं, **'महारानी कामिनी देवी बनाम महाराज दरभंगा'** मामले में **ज० ना० मिश्र** के महारानी के पक्ष में होने के कारण शुरू हुआ—अन्यथा **'आर्यावर्त्त'** के अधिष्ठाता महाराज दरभंगा का यही अखबार इससे पहले **ज० ना० मिश्र** की विरुदावलियाँ बिखेरता फिर रहा था ।

हिन्दी में स्वतंत्र या मूल्य-सापेक्ष नहीं, मालिक-सापेक्ष पत्रकारिता की जाती है और हिन्दी के अधिकांश पत्रकारों की हैसियत पूँजी-प्रतिष्ठानों के इन कुटीर उद्योगों में घरेलू कर्मचारियों की हैसियत से बेहतर कतई नहीं है । इस देश में यदि कभी स्वतंत्र पत्रकारिता नाम की चीज अस्तित्व में आयेगी, तो या कबीरपंथी साधनहीन पत्रकारों के बूते पर और या प्रेस-जगत पर से काला बाजारियों, पूंजीपतियों और राजा-महाराजाओं का एकाधिकार खत्म हो जाने पर । और इनका यह एकाधिकार इनकी 'सरकार' के रहते समाप्त होने की कोई रंचमात्र भी गुंजाइश नहीं, इसलिए **बिहार प्रेस-विधेयक** के अभूतपूर्व राष्ट्रीय शगूफे से आपके-हमारे चिंतित होने का कोई अर्थ बनता नहीं । भारत का सामान्य जन जिस

बदतर हाल में है, **बिहार प्रेस विधेयक की वापसी से उसमें परिवर्तन आने की आशा करना सिर्फ भोली सदाशयता ही नहीं, दिमागी दिवालियेपन का भी सबूत देने के सिवा कुछ नहीं।** और यह जो आपकी सदाशयी आत्मा अभी से मर्मांतिक वेदना में हो गई है कि हाय, बिहार प्रेस विधेयक आ गया, तो हमें भागलपुर की जेल के गंगाजल-काण्ड कौन बतायेगा ?...तो इतना निसखातिर रहें, कि वो खुद ही सारा हवाल सचित्र, सनसनी-खेज और मकराश्रु-पद्धति अखबार-नवीसी से हमें निरन्तर बताते ही रहेंगे, जिनका कि '**गंगाजल छिड़कने**' का धंधा करने वालों से भाईचारा हुआ करता है ! आपने टिप्पणियों को गौर से पढ़ा नहीं, उनमें स्पष्ट बताया गया है कि यह व्यवस्था हत्या और लूट-खसोट-काण्ड करने का धंधा करती है और इसके राष्ट्रव्यापी लोकप्रियता के अखबार इन काण्डों की खबरें बेच खाने का धंधा ! मालिक आदमी की हत्या का और उसके **वफादार** पत्रकार आदमी की खाल बेचने का धंधा कर रहे हों, तो आप-जैसे लेखक का इस धंधे में से 'तेजड़ी' जाते रहने के अंदेशों में दुबला होना ठीक नहीं।

बिहार प्रेस विधेयक जब तक में लागू होगा भी—यदि हुआ—तो इसके मुंह में उतने और वैसे ही दाँत रह जायेंगे, जितने से सरकार-प्रेस-प्रतिष्ठानों और जरायमपेशा पत्रकारों का '**महाभोज**' चलता रहे। तब तक इस नौटंकी को द्रष्टा की हैसियत से ही देखने में गनीमत है। मानवता के इन सटोरियों की चिंता में आपका-हमारा विह्वल होना सिर्फ अपने निर्बुद्धि लेखक होने का परिचय देना है।

और यह जो अपने गड़बड़ाने का श्रेय स्वयं को ही देने से बचने की सदाशयता में आप **भैरव जी** और **लक्ष्मीकांत जी** के प्रसंग में मेरे दो अन्तर्विरोधी कथनों को 'लाइन-हाजिर' कर लाये हैं—इस संदर्भ में इतना ही कहना है कि मेरे लिखे को अपने आशयों के नहीं, लिखे हुए में निहित तथ्यों के आधार ग्रहण करने का अनुग्रह करेंगे। **भैरव** जी के कथन का

उल्लेख **जनवादी लेखक संगठन** के संदर्भ में किया गया, मानव-अधिकारों के नहीं। लेखक का कर्म के स्तर पर सामान्य—बल्कि कहा जाय कि साहित्येतर—लोगों से भिन्न होना, मानवीय अधिकारों के स्तर पर भिन्न होना नहीं होता, इसे फिर दोहराने की जरूरत नहीं होनी चाहिये थी, लेकिन आप गड़बड़ा गये हैं—और इसकी जिम्मेदारी मुझ पर डाल रहे हैं—तो कहना है कि किसी भी सभ्य समाज में सामान्य जन और लेखक के बीच मानवीय अधिकारों का फासला नहीं होना चाहिए। और कि जहाँ सामान्य आदमी का पिटना अहमियत न रखता हो, वहाँ लेखक या पत्रकार का पिटना अहमियत रखेगा, इस गलतफहमी में सिर्फ उन्हीं लेखक-पत्रकारों को रहना चाहिए, जो उत्पीड़कों की शोभायात्रा में कंधा लगाये हुए हों।

आप मेरे वक्तव्यों से क्या समझना चाहेंगे, यह आपके 'समझना चाहने' पर भी निर्भर करेगा। मुझे तो अत्यंत विनयपूर्वक सिर्फ इतना कहना है कि दोनों ही वक्तव्यों को ठीक समझें, क्योंकि दोनों के ही संदर्भ अलग हैं। सामान्य जनों के संगठनों और लेखक संगठनों से एक-सी प्रक्रिया की अपेक्षायें गलत हैं और मानव-अधिकारों के प्रश्न पर लेखक-पत्रकारों को देश के सामान्य जनों से विशिष्टता प्रदान करना सिर्फ मनुष्यद्रोही व्यवस्था में ही सम्भव है। इसमें अंतर्विरोध कहाँ है? **व्यवस्था लेखक-पत्रकारों को विशेषाधिकार उनकी गुणवत्ता के निमित्त नहीं, कीमत के तौर पर प्रदान करती है।** वह लेखक-पत्रकार स्वयं मनुष्य का शत्रु है, जो यह कहे कि उसे देश के सामान्य नागरिकों की तुलना में विशिष्टाधिकारी माना जाय। लेखक-पत्रकार की गरिमा मनुष्य-मात्र की अस्मिता का संवाहक बनने में निहित होती है, व्यवस्था के विशिष्टानुदान प्राप्त करने में नहीं। चाटुकार लेखक-पत्रकारों को राष्ट्र-व्यापी स्तर पर प्रश्रय देकर, यह व्यवस्था खुद अपने महाविनाश की भूमिका तैयार कर रही है, क्योंकि चाटुकार सबसे पहले—और सबसे ज्यादा—अपने प्रतिपालकों को 'चाटते' हैं। चाटुकार लेखक-पत्रकारों का

चाटना कुत्तों के चाटने से कहीं ज्यादा खतरनाक होता है, क्योंकि ये हाथ-मुँह ही नहीं, अंतरात्मा को तक चाट जाते हैं।

डॉ० उपाध्याय वाले **हिन्दुस्तान-रूस-पाकिस्तान-बंगला देश**-प्रसंग में सिर्फ इतना ही कहना है कि यदि **बाँगला देश** पाकिस्तान का उपनिवेश था, तब स्थानीयता की हित-रक्षा के तर्क पर **तेलंगाना**, **त्रिपुरा** और **असम** कैसे हिस्दुस्तान के उपनिवेश नहीं हैं ? और कल यदि चीन के **'अंतर्राष्ट्रीय मैत्री-सहयोग'** के आधार पर ये तीनों प्रदेश **बाँगला देश** की तरह **भारत** से मुक्त हो जायें, तो आप मानेंगे कि यह भारत के साम्राज्यवाद के शिकंजे से इनकी औपनिवेशिक मुक्ति है ? इस मुद्दे पर भी जोर इसी बात पर था कि राजनीति जब मूल्य-सापेक्ष होती है, तब वह सारे संबंधित पक्षों का हित देखती है—जब नहीं, तब अपने निहित स्वार्थों को 'अंतर्राष्ट्रीय मानवतावाद' का मुखौटा पहनाती है।

'लोर्का' के फायरिंग स्क्वैड के द्वारा गोलियों से भूने जाने को भी **'शुद्ध विचार'** के स्तर पर आपने ही उठाया है। अपनी हेतुकर्मवृत्ति को स्वयं ही लोबान-गंध की तरह सूँघना और नाक के कोये फड़फड़ाना, चिंतन करना नहीं होता। तर्कानुराग को 'स्वयंभोग' की इस हद तक खींच ले जाना ठीक नहीं कि गीता का मृत्यु-दर्शन 'चुइंगगम' महसूस होने लगे। विचार और दर्शन के स्तर पर चीजों को लेने का अर्थ यह कदापि नहीं होता कि सामान्य व्यवहार को स्थगित कर दिया जाय। **श्रीकृष्ण 'ये सब पहले से मृत हैं'** या कि **'मरे हुओं को मारकर क्या करोगे ?'** कहते हुए, **अर्जुन** को युद्ध-क्षेत्र से विमुख करके, **सुभद्रा** के साथ द्वारका वापस नहीं उठा ले गये, तो इसका भी कारण रहा होगा, लेकिन विचार, दर्शन या स्थितियों के पूर्वापर कारणों के विवेचन में जाने की जगह आप कामिनी-विलास के स्तर पर हेतु-कथनों पर उतर आते हैं। **'मृत्यु सनातन है'** इसे कर्म को उसके प्रति सम्पूर्ण निष्ठा में लेना, विचारवान होना है—किंतु मृत्यु तो मृत्यु है, फिर चाहे वह **एजरापाउण्ड**

की हो या **लोर्का** की, वस्तु की हो या संज्ञा की, कारण की हो या कर्म की, गति की हो या त्वरा की—और कि मृत्यु तो होती भी है, नहीं भी होती है, या कि होती होगी, तो उसका भी निमित्त होगा, नहीं होती होगी, तो उसका भी—या कि हो सकता है कि निमित्त कोई किसी का न हो, सब प्रकृति की माया हो—इस तरह की मायावी भाषा में जाना स्वयंस्फूर्त वाग्कर्मी का वाग्विलास हुआ करता है, चिंतन नहीं। ···लगता है, 'हुक्का' पीते-पीते आप गँजेड़ी महात्माओं की दिव्यानुभूति को प्राप्त हो जाते हैं। अन्यथा इसमें आपको कुछ भी आपत्ति नहीं होती कि किसी कार्य का निमित्त ही उसका सबसे मूल्यवान पक्ष होता है और निमित्त से ही सब-कुछ अभिप्रेरित होता है। डाकुओं का दल जब 'साधु-वेश' में निकलता है, तो कर्म को अपने वेश या संगठन के बाहरी स्वरूप पर नहीं छोड़ देता—अपने '**निमित्त**' के अनुसार '**साधुवेश**' का उपयोग करता है। और यह जो आप गोली से या बीमारी से, उम्र से या 'एक्सीडेंट' से मरने की बात कह रहे हैं, इसे भी यों समझने का अनुग्रह करना है कि 'एक्सीडेंट' या गोलाबारी से मरने में भी फर्क होता है और बीमारी या उम्र से मरने में भी, और सबके प्रभाव भिन्न होते हैं। 'एक्सीडेंट' या बीमारी से अथवा उम्र से मरने और मूल्यगत संघर्ष के तहत मरने के निमित्त एक नहीं होते। यहाँ तक कि गोली से मरने के '**निमित्त**' भी एक नहीं होते। **छविराम** के पुलिस की गोली से मरने और **चन्द्रशेखर आजाद** के पुलिस की गोली से मरने में कुछ फर्क होता है और यह फर्क निमित्त से ही जाना जा सकता है।

कहा गया था कि **जनवादी लेखक संघ** जिस निमित्त संगठित हुआ है, वही दूषित है और कि निमित्त से ही नियति भी तय होती है—लेकिन मक्खियाँ उड़ाने की भोली सदाशयता में आप कहाँ तक आ पहुँचे हैं, इसका वृत्तान्त आगे चलकर **विक्टर ह्यूगो** की कहानी के उल्लेख से आपने स्वयं ही प्रस्तुत किया है। यहाँ फिलहाल बात फिर इसी मुद्दे पर कि '**विचार**' सदैव आत्यंतिक ही होता है, यानी कि सोच की आत्यं-

तिकता से पहले विचार सम्भव ही नहीं होता है। यहाँ ध्यान रहे कि मन में **'हुक्का पीने का विचार आया'** को विचार मान लेना वैचारिक विवेचन के संदर्भ में अभिप्रेत नहीं होता। यहाँ **'विचार'** को आप स्वयं **'आइडियल'** के स्तर पर ले रहे हैं, तो कहना है कि विचार की आत्यंतिकता से व्यवहार की तात्कालिकता का अविच्छिन्न सम्बन्ध होता है। विनयपूर्वक अपना ही उदाहरण देते हुए कहना है कि लेखक का व्यक्तित्व कैसा होना चाहिए, इस संदर्भ में विचार के स्तर पर बिल्कुल स्पष्ट हूँ और व्यवहार के स्तर पर उस कसौटी पर खरा उतरने की तो बात ही दूर, कसे जाने में ही कँपकँपी छूटती है। लेकिन यह अपने व्यवहार में खरा लेखक न हो पाने की जो पहचान है, यह विचार को विचार की जगह रखने में से ही सम्भव हो सकी है।

बहुत देर के बाद जब आपने **'अपनी बात'** कहनी शुरू की, तो मुझे क्यों इससे जोड़ दिया ? कहाँ, कब और किस टिप्पणी में कहा गया कि जब तक विचार सम्पूर्ण न हो जाय, व्यवहार को खूँटी पर टाँगे रखना चाहिए ? शुद्ध विचारों को सम्पूर्ण करके तब व्यवहार में सम्पूर्ण ही उतारने के **'पूर्णमिदं'** का मुरीद होता, तो अब तक पहाड़ की किन्हीं गुफाओं में **'ध्यान-योग'** ही साध रहा होता।

विचार से व्यवहार का कोई वास्ता सिर्फ उन्हीं लोगों का नहीं होता, जो ठग-विद्या चला रहे होते हैं। जैसे कि **मार्क्सवाद** के **'विचार'** से **जनवादी लेखक संघ** के **'व्यवहार'** का कोई वास्ता नहीं है। और इसी मुद्दे पर कहना है कि 'विचार से अभिप्रेरित होकर व्यवहार को परिष्कृत करने' और 'भ्रष्ट व्यवहार से विचार को दूषित करने' में अंतर होता है। **जनवादी लेखक संघ** अपने व्यवहार से **मार्क्सवाद** के विचार को गँदला कर रहा है, यह कहना किसी प्राकृतिक नियम को द्रुति और त्वरा प्रदान करना नहीं—सिर्फ वास्तविकता को रेखांकित करना है।

श्रेष्ठ विचारों अथवा आदर्शों तक अपने व्यवहार को ले जाने की

प्रक्रिया अत्यन्त कठिन होती है—और प्रत्येक से नहीं सधती—लेकिन विचार को अपने व्यवहार पर लबादे की तरह न लादकर, उसे दृष्टिपथ में रखे रहने से गलत और निरर्थक व्यवहार का औचित्य सिद्ध करने के द्रविड़ प्राणायाम से बचत रहती है। और जो यह आपने 'एब्सोल्यूट कांसेप्ट्स' की बात उठाई है, व्यवहार के धरातल पर लाये जाने से आत्यंतिक अवधारणाओं या शब्दों की शुचिता नष्ट नहीं होती, बल्कि उत्तम अवधारणाओं को ठग-विद्या के बूते अपने निकृष्ट व्यवहार के धरातल पर उतार लाने से प्रदूषण फैलता है। और उत्तम अवधारणाओं या श्रेष्ठ विचारों की 'सारी शुचिता और शुद्धता' को ताकपर रखकर व्यवहार में लाये जाने का जो परिणाम निकलता है, उसका **जनवादी लेखक संगठन** सटीक उदाहरण बन गया है, तो इसका श्रेय बहुत-कुछ आप-जैसे सदाशयी जनवादियों को भी है, जो उसकी नाक के भीतर की गन्दगी को बरकरार रखकर, ऊपर की मक्खियाँ उड़ाने के उद्यम में जुटे हुए हैं। अन्यथा विचार या कि अवधारणाओं को शुचिता को हाशिये पर डालकर, व्यवहार में लाना—गूदा फेंककर, छिलके खाना है और यह गलती तो **डार्विन** का बन्दर तक नहीं करता। लेखक करें, तो सिर्फ इतना ही कहा जा सकता है कि मुबारक हो !

मनुष्य की सृष्टि ही अवधारणामूलक है। जिस लेखक में मनुष्य की पहचान नहीं होती, वही अपने छद्म के न पहचाने जाने के मुगालतों में भी जीता है। विचार को टोपी की तरह धारण करने वाले को यह कभी नहीं भूलना चाहिए कि सिर्फ टोपी पहनकर सड़क पर निकल आना ठीक नहीं—और कि टोपियों को संगठित करके नंगापन ढांपना संगठन की अवधारणाओं में जाना नहीं, नंगेपन के औचित्य को भीड़ से सिद्ध करना है। और इसे तो मूल्य के स्तर जब दिगम्बर जैन नहीं साध सके, पर, तब जनवादी लेखक क्या साधेंगे।

'अजब नहीं है' से लेकर **'तर्क और युक्तियाँ'** लीजिये, तर्क का आप का सारा कथन सिर्फ कुतर्क है। जो व्यवस्था पीत-पत्रकारिता का बाजार

प्रतिबंधित करके, समाजोन्मुखी, मूल्यकेन्द्रित पत्रकारिता का वातावरण निर्मित करे, उसे **'तानाशाह'** या तो पीत-पत्रकार ही निरूपित कर सकते हैं और या आप-जैसे सदाशयी जनवादी विचारक ही।

भाई साहब, तर्क और विचार में जाने की यह नैतिक शर्त होती है कि वांछित को हेतुकर्म-पद्धति से गढ़कर न थोपा जाय। पीत-पत्रकारिता को प्रतिबंधित किये जाने के पक्ष में तर्क प्रस्तुत करना तानाशाहों के हाथों को मजबूत करने या लेखक-पत्रकार-मात्र का मुँह कुचलने की युक्तियाँ गढ़ना दिखाई देने लगे, तो आँखें तरेरने में न जाकर, आँख को देखने में जाना चाहिए। दृष्टि जाती रहे, इसकी शुरूआत गलत देखने में से ही होती है। टिप्पणी में स्पष्ट कहा गया है कि विरोध प्रेस विधेयक में स्वस्थ पत्रकारिता के आड़े आने वाले मुद्दों को लेकर होना चाहिए। और जो कहा गया है कि इसकी जगह तानाशाही शासन आ जाने से भी कोई बहुत अन्तर नहीं पड़ना है, तो इसीलिए कि यह तथाकथित लोकतंत्र प्रच्छन्न तानाशाही से भिन्न कुछ नहीं है और यह बात वर्षों पहले से कहता आया जबकि **'दूसरी आजादी'** का वृंदगान हो रहा था।

मौजूदा लोकतंत्र के पैरोकार सिर्फ वो लोग हैं, जिनके लिए यदि यह विशिष्टानुग्रही नहीं, तो संघातक भी नहीं है। जबकि किसी भी विचारवान व्यक्ति का आग्रह वास्तविक लोकतंत्र की स्थापना के प्रति होना चाहिए और समाजोन्मुखी पत्रकारिता तथा लेखन किसी भी लोकतंत्र के अनिवार्य अंग ही हो सकते हैं। जिस पत्रकारिता का मुँह (फन) कुचले जाने के भय में आप शीश धुनने लगे, उसकी उपलब्धियों पर भी गौर किया होता आपने। **श्रीमती गाँधी**-जैसी कूटनीतिजीवी राजमहिषी को, नवदुर्गा; **संजय गाँधी** को युगद्रष्टा; **अमिताभ बच्चन** को कला-जगत के महा-पुरुष और **मेनका गाँधी, अकबर अहमद डम्पी** को राष्ट्रीय राजनीतिज्ञ की सनदें बाँटने तथा **मलखान सिंह** के विराट अभिनन्दन-समारोह और **फूलन देवी** की रूप-राशि और उसके चरित्र को देश के बच्चे-

बच्चे के लिए स्मरणीय बना देने वाली पत्रकारिता के नष्ट हो जाने की चिंता किसी **जनवादी लेखक** को सताये और उसे अपना यह अन्तर्विरोध दिखाई न पड़े, तो मान लेना होगा कि उसे सही सूझना बंद होता जा रहा है।

आपका अगला पूरा पैरा भी सिर्फ भावोच्छवासजनक विक्षोभ का सूचक है, एक द्रष्टा का टटका विषाद उसमें नहीं। महान् विचारों, अवधारणाओं और आदर्शों की सबसे बड़ी उपयोगिता ही यही होती है कि उनके आलोक में हम अपने इतिहास और वर्त्तमान तथा उत्थान और पतन को साफ-साफ देख सकते हैं। हम स्त्रियों से पाशविकता बरतने लगें या कदाचार और नंगा नाच शुरू कर दें, तो न **'यत्र नार्यस्तु पूज्यंते'** का मूल्य नष्ट होगा, न इस देश की संस्कृति का औचित्य जाता रहेगा। हम मक्कारी, टुच्चेपन और नैतिक क्षय का जीवन जी रहे हैं, तो इसके दण्ड भी हमें ही भुगतने हैं—उपनिषदों, अवधारणाओं और संस्कृतियों को नहीं। देश में व्याप्त मौजूदा चारित्रिक क्षय के प्रति विक्षोभ में वैचारिक सन्निपात की इस हद तक चले जाना ठीक नहीं कि उपनिषदों का तत्व-ज्ञान आदमी को झूठा, मक्कार, क्लीव, स्वार्थी और टुच्चा बनाता है। क्या अपनी दिल्ली में से ही किसी एक ऐसे व्यक्ति का उदाहरण देने की कृपा करेंगे आप, जिसे कि उपनिषदों के तत्वज्ञान ने मक्कार, क्लीव और टुच्चा बना दिया हो ?

टुच्चे, मक्कार और स्वार्थी लोग उपनिषदों के तत्वज्ञान को बेच खाने का धंधा करने लगें, तो इसमें बेचारे उपनिषद्कारों का क्या दोष ? **मार्क्सवाद** को पढ़ने-सुनने में उदात्त और क्रांतिकारी बनाकर बेच खाने के धंधे में न-जाने कितने मार्क्सवादी लेखक रात-दिन जुटे हैं (**जनवादी लेखक संघ** इसका अपवाद नहीं, उदाहरण माना जाय) तो इसमें बेचारे **मार्क्स, लेनिन** और **एंजेल्स** क्या करें ? क्यों नहीं **मार्क्सवाद** के पठन-पाठन ने हिंदुस्तान के तमाम भ्रष्ट मार्क्सवादियों को उदात्त क्रांतिकारी बना दिया ?

महान् विचार, दर्शन, अवधारणा और संस्कृति के संसर्ग में सिर्फ वही लोग बेहतर और उदात्त बनते हैं, जो ऐसा अंतःकरण से चाहते हैं। जिनमें जीवन को संस्कारी और विचारवान बनाने की ललक होती है और जो बेहतर और उदात्त मनुष्य बन सकने का संघर्ष करते हैं। और यह कारण है कि अच्छे-खासे बुद्धिजीवी में चरम मक्कारपन और नितांत अपढ़ व्यक्ति में भी मनुष्यता के चिह्न मिल जाते हैं। जिसे कदाचार और कुत्सा काम्य हो, उसको न **उपनिषद्** उदात्त बना सकते हैं और न **मार्क्सवाद** क्रांतिकारी बना सकता है। हाथ पकड़कर उठाये जाने के मोहताज लोग हौलियों के इर्द-गिर्द ज्यादा मिलते हैं—फिर वह चाहे देशी शराब की हो, या पीत-पत्रकारिता अथवा भ्रष्ट संगठन की! यदि कोई नेत्रहीन कहे कि ऊपर आकाश सूरज-चाँद-सितारों से भरा रहता है, नीचे 'ट्यूबलाइट्स' और बल्बों की जगमगाहट बताई जाती है, लेकिन उसे तो न दिन में रास्ता सूझता है, न रात में, तो उसे हाथ पकड़कर, रास्ता पार कराया जा सकता है।...लेकिन यदि वह कहे कि चूँकि इनका होना उसके लिए व्यर्थ है, इसलिए किसी के भी लिए इनका क्या उपयोग हो सकता है, तो उस आँखों के अंधे का क्या आप और हम करेंगे—क्या **उपनिषद्-मार्क्सवाद** कर लेंगे।

जब दृष्टि ही बाधित हो जाय, तब स्वाभाविक होगा कि सनातन मानव-मूल्यों का आलोक भी हिलती हुई परछाइयों की कालिमा के सिवा कुछ नजर न आये। अन्यथा 'कंसेप्ट्स' या अवधारणाओं के क्षितिज इतने ऊँचे नहीं होते कि मनुष्य को दिखाई ही न पड़ें। **वेद-उपनिषद्-स्मृति-संस्कृति**, ये सब मानवकृत ही हैं। **इस भौतिक जगत में मानव-परिधि से परे कुछ भी नहीं है। जो कुछ हमारी पहुँच में नहीं, वह सब हवाई और निषिद्ध ही हो, यह जरूरी नहीं।**

ऐसा है, राजेन्द्र भाई, कि अपने अज्ञान को तत्वज्ञान के ऊपर ले जाना चिंतन या विचार करना नहीं होता। जो चुनौती हमारे लिए भारी

हो, वह मानव-मात्र के लिए भारी होगी, यह मान लेने की उतावली में ही आदमी उस मनोदशा में पहुँचता है, जहाँ विचार करने में समय गँवाना व्यर्थ और बिना सोचे-विचारे क्रांति-विह्वल हो जाना आकर्षक प्रतीत होने लगता है।

विचार करने तक असलियतों का कहीं-से-कहीं पहुँच चुकना ही नहीं, असलियतों के कहीं-से-कहीं पहुँच जाने तक विचार को स्थगित रखना भी खतरनाक होता है। अन्यथा हकीकत यह है कि असलियतों के आगे बढ़ने के साथ-साथ पीछे सरकती जाने वाली वस्तु को '**विचार**' की संज्ञा कहीं नहीं दी जाती है। न विचार करने का अर्थ कर्म को स्थगित करना होता है। विचार और कर्म की आनुषंगिकता में से ही आदमी सही दिशा में आगे बढ़ता है। सूप में भूसी-कांकर भरकर कोई व्यक्ति 'लेबोरेटोरी' में घुसे, तो छानने-पटकने के बाद जो-कुछ लेकर वह बाहर लौटेगा, उसमें विचारों की उपस्थिति सचमुच उतनी ही होगी, जितनी आप बिना छान-फटक के ले आते हैं। कमाल है कि हैमलेट' के माध्यम से कहा गया आपको याद रहा, अपर-प्राइमरी में पढ़ा हुआ भूल गया? '**करूँ या न करूँ**' के द्वन्द्व में समय वृथा किये बिना कर्म-क्षेत्र में कूद पड़ने वाले व्यक्तियों के हित में ही **गिरधर कविराय** अपनी कुंडली के माध्यम से कह गये कि '**बिना बिचारे जो करे, सो पाछे पछताय**।'

'करूँ या न करूँ' के द्वन्द्व में से गुजरकर कर्म करने की जद्दोजहद उसी व्यक्ति की ऊर्जा, प्रेरणा और उत्साह को चूसती है, जिसमें जद्दोजहद के गड्ढे में कूद पड़ने की उतावली तो होती है, लेकिन उबरने की 'दृष्टि' नहीं होती।

विचार-विरोधी व्यक्ति में साहित्य और प्रश्नों के प्रति ऐसा गहरा लगाव नहीं होता, जैसा आप में है। अलबत्ता गड्डमड्ड आपमें प्रभूत है, ऐसा मुझे जरूर लगता है और '**बिचारक**' अभी आप हुए ही कहाँ हैं कि

सूली पर लटकाये जाने की नौबत आये ? जिस भाषा में **राजेन्द्र यादव** और **शैलेश मटियानी** विचारक की हैसियत रखेंगे, उसका हश्र क्या होगा ? सोचना-विचारना ही विचारक होना नहीं हो जाता। इसमें वक्त लगता है और वक्त लगने के अलावा काल की छान-फटक से गुजरना होता है। तर्कविदों की '**रज्जु-सर्प**' चिंतन-प्रणाली से आप गुजर रहे हैं, मैं नहीं। मैं 'तय' करने के लिए नहीं, तय होने के कारण दूर-दूर बैठा हूँ। जिस व्यक्ति को **जनवादी लेखक संगठन** की असलियत तय करने में वक्त लग जाय—**रज्जु-सर्प** विवाद में उसी की रुचि हो सकती है। हिम्मत करके डण्डे से देख लेने की कोशिश आपने की होती, या विचार और नैतिकता को व्यवहार के धरातल पर ही लाकर जाँचने में आपकी रुचि होती, तो **जनवादी लेखक संघ** के 'नाकपाल' की भूमिका आपके जिम्मे कहाँ आती ? आगे की पंक्तियों में जो बातें आपने कही हैं, 'स्वगत-कथन' मालूम पड़ती हैं। क्योंकि नैतिकता और मूल्य जगुप्साजनक लगने पर हजारों वर्ष पुरानी संस्कृति, अवधारणाओं और 'एब्सोल्यूट मूल्यों' को निरर्थक तथा तत्वज्ञान को आदमी को झूठा, मक्कार, क्लीव, स्वार्थी और टुच्चा बनाने वाली वस्तु आपने ही घोषित किया। लेकिन यह समझ में आना मुश्किल है कि 'जिसे संस्कृति कहते हैं, यह विचार और व्यवहार के बीच के अंतराल को कम करने की जद्दोजहद है।' में किस संस्कृति की बात की है आपने ? 'कई हजार वर्ष पुरानी संस्कृति' तो सड़ चुकी थी—यह कितने घंटे पुरानी नवीन संस्कृति है ? लगता है, यहाँ मतिभ्रम-प्रक्षालन है। मैंने कभी, कहीं यह नहीं कहा कि नैतिकता और मूल्यों का देश-काल के संदर्भों या कि हाड़-मांस के मनुष्य से कोई वास्ता नहीं होता।

जनवादी लेखक संघ के बारे में जो कहानी आपको याद आई है, ठीक ही याद आई है। जिस नौका में कोई हत्यारा, बटमार, लफंगा

और डाकू है, तो कोई पादरी, पुजारी, प्राध्यापक—उससे **जनवादी लेखक संघ** की तुलना करने का व्यावहारिक विचार आप जैसे भोले सदाशयी के मस्तिष्क में ही घूम सकता था ! अन्यथा यह रूपक भी पूरी तरह अप्रासंगिक है और वास्तविकता पर लीपा-पोती करना है। न तो **जनवादी लेखक संघ** पूरे साहित्य-जगत का पर्याय है, न इसके नौका-सवारों का लेखक के अस्तित्व के संकटों से कोई दूर-दूर का भी वास्ता है। **'अस्तित्व का सौदा'** और **'अस्तित्व का संकट'**, दोनों भिन्न हैं। इसके कलावंत नाविक 'मालवाही जहाज' को लिए हुये व्यवस्था के किनारे लंगर डाल चुके हैं। **'लेनी-देनी'** अब व्यवस्था के हाथ है। आप उसमें अस्तित्व के संकट की दार्शनिक पताका फहराकर, **विक्टर ह्यूगो** की आत्मा का आवाहन करते रहिये—इस **'नौका-दुर्घटना'** से कोई **'हाथ पकड़कर बाहर'** निकाल नहीं पायेगा आपको। न **वेद-उपनिषद्**, न **मार्क्सवाद**।

रूपक या मिथक का सही संदर्भ में प्रयोग वही व्यक्ति कर सकता है, जिसे रंग-रोगन-लेपन में नहीं—स्थितियों के तटस्थ वैचारिक विवेचन में रुचि हो। आप शामिल होने के संकट से घिरे हुए लेखक हैं और अब **जनवादी लेखक संघ** के औचित्य-स्थापन में ही आपको अपना उचित होना भी अनुभव होने लगा, यह दुखद है। आपमें और **ज० ले० सं०** में **ह्यूगो** और **'द रैंक'** कहानी के पात्रों के जितना अंतराल होता, तो आप अपनी स्थिति का सही आकलन कर पाते। और तब **प्रगतिशील लेखक संघ** के मालवाही पोत की नकल में 'हइया हो, हइया हो' करते व्यवस्था के किनारे लंगर डाले पड़े **ज० ले० सं०** को 'लेखकों के अस्तित्व के संकट से जूझते लोगों का संगठन' निरूपित करते हुए आपको कुछ संकोच होता।

अपने अगले पैराग्राफ में भी आपने फिर वही हेतु-कथन पद्धति इस्तेमाल की है। संगठित हो जाना ही अपने-आपमें कोई मूल्य नहीं, किसी भी संगठन का मूल्य उसके निमित्त से तय होता है—इस संदर्भ में

कहा गया था कि संगठित तो डाकू-उठाईगीर भी होते हैं—यह नहीं कि सिर्फ डाकू-उठाईगीर ही संगठित होते हैं। यह भी कि जैसे लोग संगठित हों, वैसे ही उस संगठन के परिणाम भी निकलते हैं, लेकिन इस प्रश्न को आप चुपचाप डकार गये कि **जनवादी लेखन संगठन** को **प्रगतिशील लेखक संगठन** से उदात्त, बेहतर और क्रांतिदर्शी घोषित करने के तार्किक आधार क्या हैं।

अब आपके संगठन कैसा और किन लेखकों का हो, वाले सवाल पर कुछ कहने से पहले यह कि आपका यह शिद्दत का लगाव ही तो है, जो हम लोगों का संवाद यहाँ, इस मूल प्रश्न तक पहुँच सका। ईमानदारी से न जानना चाहा होता आपने, तो **शैलेश मटियानी**-जैसे 'सर्वावस्थां-गतोपिवा' श्रेणी के व्यक्ति को तरजीह न देते। असमर्थ और अवज्ञित को महत्त्व देना बिना सच्ची सदाशयता के सम्भव नहीं। आपके पत्र के इस अन्तिम हिस्से के समक्ष विनत हूँ। दरअसल लेखक संगठन के सन्दर्भ में ये मूलभूत प्रश्न सबसे पहले तय किये जाने चाहिए, सिर्फ तभी किसी प्रासंगिक लेखक-संगठन की नींव पड़ सकती है—इस निष्कर्ष के तहत ही अब तक '**तैयारशुदा**' लेखक संगठनों की सदस्यता से दूर-दूर ही रहता चला आया।

मेरे तर्क और सुझावों में वजन कितना होगा, इस चिंता में न जाकर, विनयपूर्वक जानना चाहूँगा कि लेखक संगठन की मूल्यगत अवधारणा के विपरीत भी लेखक मिलें, तो भी संगठन बनाया ही जाना चाहिए, इस अनिवार्यता का तर्क क्या होगा ?

आपने त्रिकालविज्ञ की तरह 'जो तुम कहोगे, सो पहले से ही जाना हुआ' कह दिया, तो क्या सचमुच ऐसा कुछ भी सम्भव नहीं कि मैं कहूँ और आप 'पहले से ही' नहीं जानते हों ? हालाँकि यह सच है कि मैं सिर्फ सैद्धान्तिक, वैचारिक और नैतिक आधारों पर ही संगठन बनाये जाने का सुझाव दूँगा, क्योंकि मैं जानता हूँ कि जहाँ सिद्धान्त, मूल्य, विचार

नैतिकता नींव में से ही नदारद हों, वहाँ **जनवादी लेखक संगठन** से भिन्न संगठन की कोई गुंजाइश नहीं होगी। और यह जो आप कहते हैं कि **'आश्रम'**, तो क्या आप अभी भी इस मुगालते में हैं कि **जनवादी लेखक संगठन** ठीक वैसा ही 'आश्रम' नहीं है, जैसे का आप जिक्र कर रहे हैं कि जहाँ लोगों को अपने विचारों के हिसाब से ढाला जाता है ? हालाँकि **'शब्द'** को सही संदर्भ में बरतने में आप लापरवाह हैं और **'आश्रम'** तथा **'मठ'** के बीच के फर्क को लील जाते हैं।

जहाँ लोग अपने विचारों के अनुसार ढाले जायें, उस लेखकीय मठ में सिर्फ लेखक और साहित्य की जड़ों में मठा डालने वाले लोग ही टिक सकते हैं। जबकि लेखक संगठन की सबसे पहली अर्हता ही यह हो सकती है कि वह लेखक को लेखक की हैसियत से विचार करने का वातावरण दे—'अपने विचारों' के अनुसार ढालने का नहीं। ऊपर 'अवधारणा के विपरीत' का प्रश्न उठाया गया था। व्यवहार और विचार के बीच के अंतराल को कम करने में यह तो सहज भाव से लिया जाना ही चाहिए कि आदमी को उसके स्वाभाविक गुण-दोषों में ही स्वीकार करना होता है। मनुष्य में अपने व्यवहार और विचार के बीच के अंतराल को कम करने की आकांक्षा और संघर्ष हो, यही उसकी पात्रता की कसौटी है। किंतु **'संगठित होना जरूरी है'** की सैद्धांतिकता को **'चाहे संगठन के मूल्य और अवधारणा के विपरीत ही लोग क्यों न मिलें'** तक लचीला बनाते चले जाना सिद्धांत, मूल्य और विचार पर नेतृत्व-लोलुपता को वरीयता देना है। **जनवादी लेखक संघ** ऐसे ही नेतृत्व-लोलुप सैद्धान्तिक लचीलेपन का दुष्परिणाम है और इसीलिए इसकी क्रांतिदर्शिता के आयाम **सी० पी० एम०** और **बी० जे० पी०** के बीच के राजनैतिक सम्बन्धों की हद तक व्यापक होते चले गये हैं।

ऐसा है कि किसी भी लेखक संगठन की मूलभूत अर्हतायें ठीक वही होंगी, जो एक लेखक की होती हैं। अवसरवादी लेखकों का व्यक्तिगत

चरित्र संगठित हो जाने पर बेहतर और उदात्त हो जाता है, इस मुगालते में रहना और रखना, दोनों संघातक हैं। यहाँ **'लेखक के चरित्र' से** आशय **'आश्रम निर्मित सम्पूर्ण महात्मा'** से न लीजियेगा, लेकिन अपने कर्म और नैतिक दाय के प्रति निष्ठा और सचाई सिर्फ लेखक होने की ही नहीं, मनुष्य होने की भी मूलभूत शर्त्त है। इस जिम्मेदारी से लेखक को मुक्त करके काम चलाना मठवादियों की लाचारी हो सकती है, लेखक संगठन की अनिवार्यता नहीं।

किस निमित्त संगठित होना है, इसमें प्रपंच न हो, तभी घोषित और वस्तुगत तथा विचार और व्यवहार के बीच समन्वय लाया जा सकता है। मसलन यदि संगठन का उद्देश्य यह हो कि लेखक वर्ग के निमित्त सरकार से संरक्षण प्राप्त किया जाय, तो उसमें **'जो राजाजी तुम खैर मनाओ'** का दिखावटी तेवर न हो। रॉयल्टी, कागज अथवा सहकारी प्रकाशन के प्रश्नों को उठाकर लेखकों के हित में इनके निदान निकालने के निमित्त संगठित हुआ गया हो, तो सरकार और प्रकाशक जगत से इसी निमित्त व्यावहारिक धरातलों पर संघर्ष किया जाय।···और यदि संगठित होने के निमित्त व्यक्तिगत अथवा वर्गगत स्वार्थों या कठिनाइयों से आगे, समाज के हितों से जुड़ा हो, तो व्यवस्था से समाज के प्रतिनिधियों की हैसियत से संघर्ष किया जाय—दलाली उगाहने के आकांक्षी बिचौलियों को छद्म क्रांतिकारिता का नाटक न किया जाय। जिस भी राजनैतिक दल से सम्बद्ध हुआ जाए, पूरी आस्था और प्रतिश्रुति में—मायामृग की तरह नहीं।

ज्यादा कठिन नहीं, तो बहुत आसान भी नहीं होता, राजेन्द्र भाई—अपनी वास्तविकताओं का साक्षात्कार स्वयं ही करना। ···अस्तित्व का संकट भी सिर्फ उन्हें ही व्यापता है, जो स्वांग नहीं, संघर्ष करते हैं। पहले तो किसी के भी, फिर लेखक के अस्तित्व का संकट उत्सव-प्रधान अथवा आह्लादकारी कभी नहीं होता। दिल्ली-कलकत्ता-कानपुर-जमशेदपुर

में बड़े-बड़े लेखक-मेलों के आयोजन और उपहार-सामग्रियों की बटोरन को लेखकों के अस्तित्व के संकट के प्रश्नों से जोड़ना और '**नौका-दुर्घटना**' का हवाला देना बाढ़ और सूखा राहत-सामग्री बेच खाने वालों की प्रजाति के लेखकों को जनवादी लेखकों का मुखौटा पहनाना—लेखक मात्र के संकट को और अधिक संघातक बनाना है। और जब '**डेक**' पर खड़े होकर आप कहते हैं कि 'जो तुम कहोगे, सो पहले से ही जानता हूँ।' तो यह कहने को लाचार करते हैं कि यदि आप कुछ जानते भी हैं, तो भोली सदाशयता के तहत उसे 'संगठित हो जाना ही सारे संकटों से मुक्त हो जाना है।' के मुगालते में निरापद व मूल्यवान मान लेते हैं—और या यह कि 'मठ' की चपेट से बाहर निकलने का साहस जुटाना कठिन हो गया है। अन्यथा आपको जानना चाहिए था कि गलत लोगों का संगठित होना ज्यादा बड़े संकटों को उत्पन्न करता है और इस बात को 'संगठन ही न हों, इससे बेहतर तो यही है कि कैसे भी लोग सही, लेकिन संगठित तो हों, यही बड़ी बात है।' की स्वयंस्फूर्त्त '**कप्तान-मुद्रा**' तक ले जाना कहीं से भी लेखकों के संगठित होने के प्रश्न को सही तार्किक परिणति तक ले जाना नहीं है।

समाज में झाँकिये और देखिये कि क्या सामान्य जन कहीं संगठित है? या कि जो संगठन हैं, वो सामान्य जनों के हितों से प्रतिबद्ध हैं? इससे यह तर्क निकालना जरूरी नहीं होना चाहिए कि यह संगठित होने की भावना का ही विरोध है—वास्तविकता के विवेचन की यह अन्तर्भूत शर्त होती है कि वह बेहतर विकल्प की भूमि अन्वेषित करे। संगठनों का स्वरूप कैसा नहीं होना (याकि कैसे संगठनों से सावधान रहना) चाहिए, इस समझ में से ही सही संगठनों की नींव रखी जा सकती है। और जब अस्तित्व का संकट अपने चरम सीमा पर पहुँचेगा, तब ऐसे संगठन अस्तित्व में आयेंगे—एक अंतराल गुजर जाने पर फिर चाहे उनका जो हश्र हो।

पिछले पत्र में भी स्पष्ट था कि 'आगे चलकर तो सभी भ्रष्ट हो जायेंगे' के तर्क में अभी के संगठित होने की प्रासंगिकता का निषेध नहीं किया जा सकता। ...लेकिन 'भ्रष्ट लोग संगठित हो जाने पर समाजोन्मुखी हो जाते हैं।' की तार्किकता खतरनाक होती है।

अब आप जो कहते हैं कि 'नाम बताओ' तो कहूँगा कि काम बताइये कि कैसा संगठन ? यानी संगठन का निमित्त या कि उद्देश्य क्या होगा, इसी में से नाम तय होंगे। मैं जिस तरह के लेखक संगठन की परिकल्पना करता हूँ, उसमें निहित स्वार्थों को अन्तर्राष्ट्रीय साम्राज्यवाद या कि दलाल पूँजीवाद के विरुद्ध संघर्ष का लबादा पहनाने की कोई 'अनिवार्यता' नहीं होगी। यदि वह व्यवस्था से निजी संकटों में कुछ राहत पा सकने के निमित्त होगा, तो घोषणा-पत्र में भी सिर्फ इतना ही होगा। और यदि मूल्यगत प्रश्नों पर लेखकों के विचार समाज और व्यवस्था के कानों तक पहुँचाना संगठन का निमित्त हुआ, तो उसके महाशिविर बड़े-बड़े शहरों में लगाये जा सकने की कोई गुंजाइश तत्काल नहीं होगी। जहाँ तक नामों की फेहरिस्त का प्रश्न है—किसिम-किसिम के लेखक संगठनों से बाहर बचे ही कितने लोग हैं ? इसके बावजूद यदि मुझे शुरूआत करनी हो, तो सबसे पहले आपसे करूँगा, क्योंकि मेरी जानकारी में पुरानी या बीच की पीढ़ी के लेखकों में से इस वक्त कोई इतना बड़ा खब्ती नहीं, जो चुपचाप व्यवस्था का हुक्का गुड़गुड़ाने की दिव्य स्थिति में मगन रहने की जगह, **शैलेश मटियानी**— जैसे घूरे पर के व्यक्ति से संवाद में रुचि ले। मेरे लिए समझना कठिन हो गया है कि आपके भीतर कहाँ है इतना गहरा संवेदन-स्रोत, जिसकी आर्द्रता **शैलेश मटियानी** जैसे निष्प्रभावी तथा नगण्य ही नहीं, बल्कि घोषित प्रतिक्रियावादी लेखक तक भी पहुँच जाय।

राजेन्द्र भाई, काश कि हिन्दी में सचमुच दस-पाँच लेखक भी ऐसे होते, जिनसे प्रतीति बनती कि लेखक होना इसे कहते हैं। मैं स्वयं इस

शोचनीय स्थिति का अपवाद कतई नहीं हूँ। मेरा निष्प्रभावी या नगण्य होना इसलिए नहीं है कि किसी संगठन में नहीं हूँ, बल्कि इस स्थिति की सारी जड़ें मेरे लेखकीय चरित्र में मौजूद हैं। एक लेखक में जिस कोटि की भाषा, नैतिकता, दृष्टि होनी चाहिए और पाखण्ड को विदीर्ण करने की क्षमता—वह सब अभी सचमुच विचार में ही रह गया है—व्यवहार में उतर नहीं पाया। अवधारणा और आचरण के बीच का यह फासला अब बिल्कुल साफ-साफ दिखने लगा है। और इतना जानता हूँ कि मेरे एक लेखक की हैसियत से निष्प्रभावी होने की जिम्मेदारी परिस्थितियों पर या किन्हीं लेखकों संगठनों या कि व्यवस्था पर नहीं।

सर्वोच्च न्यायालय में जब श्री **गर्ग** के **'मी लॉर्ड आई एम राइटर ऑफ रिपुटेशन'** के उत्तर में न्यायमूर्ति श्री **कौशल** का वज्रवाक्य **'यू मे बी द ग्रेटेस्ट राइटर ऑफ द वरल्ड, सो ह्वाट ?'** सुना था, तभी अपने लेखक होने की औकात का साक्षात्कार हो गया। इसमें नहीं कि ऐसा कहा गया, बल्कि इस सच्चाई के साक्षात्कार से कि इस वज्र-वाक्य का प्रतिवाद कर सकने में समर्थ भाषा बत्तीस साल लिखने में खपाने के बाद भी नहीं सध सकी। लेखक की एक उपस्थिति होनी चाहिए और होती है। लेखक समाज की उत्पत्ति और समाज के द्वारा पोषित होता है, इसलिए उसमें से समाज का बोलना सुनाई पड़ना चाहिए। यदि कहा जाय कि आज तो समाज की ही बोलती बन्द है, तो इसके लिये भी हम लेखक ही जिम्मेदार हैं, जिन्होंने समाज से सिर्फ उगाहना सीखा है।

जिस लेखक के अंतःस्रोत समाज के तल तक न पहुँचे हों, जिसकी भाषा समाज के अंतःकरण तक कौंध उत्पन्न करने में अक्षम हो और जिसकी सामाजिक उपस्थिति दरबारी कुत्तों से भी गयी-बीती हो, उसे लेखक का प्रतिमान मानता तुच्छता को परितुष्ट करना चाहे जितना हो, लेखक की प्रतिष्ठा करना नहीं। इसलिए पूछ रहे हैं, तो इतना ही कहना है कि सिर्फ ऐसे लेखक और लेखक संगठनों में ही स्वस्ति खोज सकता हूँ,

जो लेखक होने की साख निर्मित कर सकते हों। जिनका गंतव्य व्यवस्था के पनालों में नौकाविहार न होकर, समाज की नियति से जुड़ना हो। और 'आश्रम निर्मित एब्सोल्यूट महात्मा' ही इस कसौटी पर खरे उतर सकते हैं, ऐसा मान लेने का कोई कारण दिखता नहीं। क्योंकि तब तो **जनवादी लेखक संघ** भी यह कर ले जाता, क्योंकि इसमें सभी **'एब्सोल्यूट'** हैं।

मूल्यों और अवधारणाओं के लिए संघर्ष करने के जो स्वाभाविक संकट होते हैं, उनसे अपने को बचाये रखकर भी क्रांतिकारी दिखाई पड़ने में निष्णात लेखक ही इस तर्क में जा सकता है कि आचरण की शर्त्त रखना कर्म (एक्शन) को असम्भव बनाना या कि रज्जु-सर्प विवाद में उलझाकर रख देना है। कर्म की पहली शर्त्त आचरण है। विचार और व्यवहार के बीच के अन्तराल को आचरण से ही पाटा जा सकता है, मायावी अंगवस्त्रों से नहीं।

लेखक-संगठन को ऐसी 'लेबोरेटरी' या 'लाण्ड्री' बनाना ठीक नहीं, जहाँ लेखकों के भ्रष्ट आचरण की 'ऑटोमेटिक ड्राइक्लीनिंग' का दावा किया जाय। न इतना निष्प्रभावी कि व्यवस्था के कानों में उसकी अहमियत जूँ के रेंगने-जितनी भी न हो। पेट्रोल से लत्ता भिगोकर अग्नि निगलने-उगलने वाले बहुरूपियों से व्यवस्था को सहूलियत ही होती है।

आप अस्तित्व के संकट से गुजरते या कि समाज अथवा नैतिक मूल्यों के प्रश्नों से जूझते लेखकों की सूची भेज सकें, तो भेजेंगे। अन्यथा हमारे मौजूदा लेखक संगठनों का व्यवस्था से स्वामी **धीरेन्द्र ब्रह्मचारी-सदाचारी** का-सा 'साधु-सम्बन्ध' है और इसीलिये इनमें शामिल लेखक व्यवस्था की भीति से राहत अनुभव करता है।

प्रत्येक लेखक पर, इस वक्त व्यवस्था का चौतरफा दबाव है और इसमें कलावादियों के बाद सबसे संघातक भूमिका **प्रगतिशील लेखक संघ और जनवादी लेखक संघ**-जैसे संगठनों की है। ऐसे में यह अनिवार्यता

कतई नहीं है कि कैसे भी लेखकों का संगठन हो, लेकिन बनाया जरूर जाय। जब हिन्दी में लेखन-कर्म को अस्तित्व की शर्त्त के स्तर पर लेने वाले लेखक उत्पन्न होंगे, तब वह संगठन नहीं भी बनायेंगे, तो भी मूल्यों के संघर्ष में एक-दूसरे की अंतरंग सहभागिता अनुभव करेंगे। लेखक की ऊर्जा एक-दूसरे से संवेदित होने में प्रखर होती है, कैसे भी अवसरवादी और भ्रष्ट लोगों के संगठित हो जाने में नहीं। अब यदि पुनः कहें कि **जनवादी लेखक संघ** के सारे सदस्यों को भ्रष्ट कहना सिर्फ क्षुद्रता का परिचय देना है, तो इतना ही कहना चाहूँगा कि जैसे भोली सदाशयता की मार में आपकी, वैसे ही जनवाद के 'रेडीमेड सार्टिफिकेट' की तलाश में व्याकुल लोगों की उपस्थिति भी वहाँ अच्छी-खासी है। ···लेकिन अन्ततः **'फिर बैतलवा डाल पर'** की तरह, अपने पलायनवादी चरित्र के स्वाभाविक परिणाम के तौर पर इसी वेदना और विषाद में विराम खोजना चाहूँगा कि काश, हिन्दी में कोई ऐसा लेखक संगठन सचमुच होता, जो मठ या गिरोह नहीं, बल्कि अपने सही अर्थ में 'आश्रम' होता, जहाँ नैतिक मूल्यों की उपस्थिति हवा तक में व्याप्त मालूम पड़े। जहाँ से भाषा समाज में नदियों की तरह प्रवाहित हो। शायद, आप कहना चाहेंगे कि **'इतना ऊँचे मत उड़ो, यार !'** तो कहना चाहूँगा कि मनुष्य ऊँचा उड़ सके, इस निमित्त ही धरती के साथ-साथ आकाश की भी सृष्टि हुई है। आपके और मेरे ऊँचे न उड़ पाने से आकाश की निरर्थकता कहाँ सिद्ध होगी ?

सानंद होंगे।

आपका

शैलेश मटियानी

●●

संस्था का प्रारूप

प्रिय शैलेश, दिल्ली : २२ जनवरी '८३

आशा है तुमने अब तक उस संस्था का प्रारूप बना लिया होगा, जिसे चाहिए के स्तर पर नहीं, बल्कि व्यवहार के स्तर पर हम लोग बनाने जा रहे थे। मेरा विश्वास है कि दो-चार नाम भी तुमने उस सिलसिले में तय कर लिये होंगे। मैं बिल्कुल भी विचार, नैतिकता और मूल्य के स्तर पर कोई बात सुनने के लिए तैयार नहीं हूँ। मुझे शुद्ध व्यावहारिक रूप से ही सुझाव और कार्यप्रणाली का ब्यौरा चाहिए। या फिर मेरे नतीजे को स्वीकार करो कि तुम मूलतः किसी भी कर्म में विश्वास नहीं रखते, क्योंकि 'कर्म' दूसरों के सन्दर्भ में होता है और दूसरे सब लोग विचार, नैतिकता और महत्व के स्तर पर मनन करने के लिए तैयार नहीं हैं। तुम जो-कुछ भी करते हो, या करना चाहते हो, वह सिर्फ अकेले और अपने ही बौद्धिक स्तर पर। ऐसे लोग अपने बारीक और खूबसूरत विचारों को बौद्धिक ऐश्वर्य के लिए पालते-पोसते रहते हैं।

व्यवहार के धरातल पर उतरते ही उन्हें उनमें प्रदूषण, कल्मष घुलता हुआ दिखाई देता है। मैं तुम्हें व्यक्तिवादी नहीं, हवाई कहना ज्यादा पसन्द करता हूँ, मगर फिर भी तुम्हारी एक चुनौती के जवाब में मैंने **'जनवादी लेखक संघ'** छोड़ने का आश्वासन दिया था। मैं अभी भी वहीं हूँ। संस्था बनाओ या कर्म का कोई रास्ता सुझाओ।

आशा है, स्वस्थ-सानन्द हो।

सस्नेह

राजेन्द्र यादव

●●

'कर्म' और 'भाषा'

राजेन्द्र भाई, इलाहाबाद : ३ अप्रैल १९८३

आपके २२ जनवरी ८३ के पत्र में हालांकि संदर्भ वही लेखक संघ वाला ही है, लेकिन जिस कोण से आपने इसे उठाया और जिस तेवर, संजीदगी और सरोकार में—तत्काल उत्तर देना बन नहीं पाया।

संस्था का प्रारूप 'चाहिए' की चिंता और सोच-विचार को ताक पर रखकर, सीधे व्यवहार के स्तर पर या तो अनाड़ी बनाया करते हैं, या शातिर। विचार, नैतिकता और मूल्य के स्तर पर कुछ भी सुनने को तैयार न होने वाले लोगों की संस्था का प्रारूप जनवादी लेखक संघ से बेहतर नहीं हुआ करता। हैरत में हूँ कि जब विचार, नैतिकता और मूल्य की बात सुनने तक से परहेज बरतना हो, तब 'संस्था का प्रारूप' किन बातों के लिए बनाना होगा ? जिस संस्था के 'प्रारूप' में से ही विचार-नैतिकता और मूल्य नदारद होंगे, उसकी कार्य-प्रणाली क्या होगी ? कहीं आप व्यवस्था के विरुद्ध भिण्ड-मोरैना के खादरों में उतर पड़ने की तैयारी तो नहीं कर रहे हैं ?

संगठन, जहाँ तक मैं समझता हूँ, विचार को कार्यरूप में परिणत करने का माध्यम हुआ करता है और विचार, नैतिकता तथा मूल्यों से ही उसकी प्रकृति और कार्यप्रणाली तय हुआ करती है।......लेकिन आप तो कर्म की बुभुक्षा में कुछ इतने व्याकुल हैं कि बाबा तुलसी के 'कर्मप्रधान विश्व करि राखा' के दूसरे चरण की बात सुनने को तैयार ही नहीं। **'कर्म'** की जो अवधारणा आप देते मालूम पड़ते हैं, उसमें और भेड़िया-धसान में कोई बुनियादी फर्क दिखता नहीं।

जनवादी लेखक संघ—या कि ऐसे ही किसी अन्य अवसरवादी लेखक संघ—में शामिल न होना यदि **'मूलतः किसी भी कर्म में विश्वास न रखना'** हो, तो कहना चाहूँगा कि यह **'कर्म'** आपको ही मुबारक रहे। अन्यथा **'कर्म'** इतना निरपेक्ष और सपाट सिर्फ भेड़ों में हुआ करता है, जहाँ संख्या से ही कर्म की गुणवत्ता तय हो जाया करती है और भेड़िया-धसान **'संगठित और सामूहिक कर्म'** बन जाता है। यह तथ्य भी आप-जैसे संगठनकर्मी से ही जानने को मिला है कि लिखना कोई अपने में **कर्म** नहीं, बल्कि हवाई उड़ान है। जबकि हवाई उड़ान भी अपने-आपमें **'कर्म'** है और निरर्थक लेखन से सार्थक हवाई उड़ान का महत्व ज्यादा ही आँका जा सकेगा। यहाँ यदि मैं इतना और जोड़ दूँ कि तात्विक विवेचन की दृष्टि से **'अकर्मण्यता'** या कि **'कर्मशून्यता'** भी अपने में **'कर्म'** ही हुआ करती है, क्योंकि किये जाने पर ही उसका भी अस्तित्व टिका होता है, तो आप फिर बिदकेंगे। लगता है, **जनवादी लेखक संघ** का उपाध्यक्ष होते ही आपकी बुद्धि **'संगठित और सामूहिक'** हो गई है और कर्म की गुणवत्ता का प्रश्न ही आपकी चेतना में से नदारद हो गया है, सिर्फ संख्या रह गई है। जबकि किसी, और कैसे भी **'कर्म'** का औचित्य सिर्फ इसमें तय नहीं हुआ करता कि वह अकेले के द्वारा किया गया या कि समूह के द्वारा।

किसी लेखक के लिए अपने कर्मनिष्ठ होने का साक्ष्य देने के लिए लिखने का कोई औचित्य न हो, बल्कि किसी लेखक संघ का संचालक या सदस्य होना एकमात्र प्रमाण हो—यह तर्क उन्हीं को रास आ सकता है, जिनको संघ चलाने का धंधा करना हो। प्रगतिवाद, कलावाद या कि जनवाद के 'रेडीमेड सर्टिफिकेट' बेचने हों। अन्यथा लिखना यदि वह निष्ठा, प्रतिबद्धता और आस्था से हो, स्वयं में इतना कठिन और मूल्यवान कर्म है कि सिर्फ इतना ही साध ले कोई, तो किसी अन्य कर्म के पुछल्ले की जरूरत नहीं रह जाती।

जैसा कि पिछले पत्र में भी कहा था कि संगठित होना मात्र अपने में कोई उपलब्धि नहीं, बल्कि मूल्य तय होता है इससे कि निमित्त क्या है—फिर कहना है कि **'कर्मचारियों'** की संख्या से नहीं, बल्कि **'कर्म'** की प्रकृति—और उसके परिणाम—से यह तय हुआ करता है कि वह अच्छा था, या बुरा। व्यक्तिवादी था, या सामाजिक। और कि हवाई था, या वस्तुगत। अकेले-अकेले छोटी-मोटी उठाईगीरी और चोरी का कर्म करते लोग संगठित होने पर बड़े-बड़े डाके डालते भी देखे गये हैं—और अकेले-अकेले अपने संघर्ष में ध्वस्त होते लोग संगठित होने पर साम्राज्यों को पलटते भी। संगठितों के दुराचार और उत्पीड़न, अकेलों के उदात्त और महान् कर्मों का भी इतिहास में कोई अकाल नहीं। 'अकेले' के द्वारा किये गये होने से ही किसी कर्म की निकृष्टता या व्यक्तिवादिता प्रतिपादित होती हो, तो **मार्क्स** को मानव-इतिहास का सबसे बड़ा व्यक्तिवादी कहा जा सकता है, क्योंकि उन्होंने अपना सारा चिंतन-मनन और लेखन-कर्म अकेले-अकेले ही करने का हवाई रुख अख्तियार किया, चार-पाँच सौ चिंतकों-विचारकों का कोई **जनवादी लेखक संघ**—जैसा संगठन स्थापित नहीं किया। और न प्रत्येक रूसी में एक सम्भावित साम्यवादी चिंतक खोज निकाला। भइया जी, अगर मानवेतिहास का मूल्यांकन करने पर आइयेगा, तो **'अकेलों के कर्म'** का मूल्य जानने का अवसर पाइयेगा। अकेले **कृष्ण** की **'गीता'** कौरव-पांडवों की तीस-पैंतीस अक्षौहिणी सेनाओं के कुरुक्षेत्र के मैदान को रौंद डालने के 'संगठित-सामूहिक कर्म' से हीनतर या कि हवाई सिद्ध हुई हो, ऐसा नहीं है। अकेले **मार्क्स**, अकेले **गांधी** ने जितना किया, लाखों 'वादियों' से नहीं सधा। अकेले **आइंस्टीन-न्यूटन** ने जितना किया, बड़ी-बड़ी विज्ञान संस्थाओं ने नहीं। अकेले **प्रेमचंद** ने जितना सिर्फ लिखकर किया, पूरी **'प्रेमचंद-परम्परा'** नहीं कर पाई है।......और इतना सब कह जाने का अर्थ, अपनी संगठित बुद्धि के अनुसार, यह न निकाल दीजियेगा कि यह संगठन या कि कर्म-मात्र के ही निषेध की हवाइयाँ उड़ाना है।

कहना, साररूप में, जो है, सो यह कि प्रत्येक '**कर्म**' की प्रकृति उसके निमित्त में से तय होती है और कर्म की प्रकृति के विपरीत जाकर कर्म करना या तो ठग-विद्या चलाना होता है और या अपने बौद्धिक-वैचारिक दीवालियेपन का परिचय प्रस्तुत करना। **मार्क्स** और **लेनिन** के ही '**कर्म**' की प्रकृति भिन्न होने की वजहें हैं और इसी से दोनों के कर्म के क्षेत्र ही नहीं, परिणाम भी भिन्न हैं। **मार्क्स** के कर्म के परिणाम में **एंजिल्स** और **लेनिन**-जैसे लोगों का कर्म अस्तित्व में आया है और इसके परिणामस्वरूप रूस की महान् जनक्रांति, यह कहना क्रांति में रूस के जन-समाज के अवदान को नकारना नहीं, इस तथ्य को निरूपित करना मात्र होगा कि दिशा अंततः वही देता है, जो सबसे ज्यादा तपता है। '**अकेले**', लेकिन सबके निमित्त।

कर्म की प्रकृति और उसके क्षेत्र या परिणामों का भिन्न होना परस्पर-विरोधी नहीं, पूरक हो, तभी कुछ सार्थक अस्तित्व में आता है। लेखक के लिखने और संगठित होने के निमित्त अन्तर्विरोधी न हों, तभी इसके परिणाम भी सही निकल सकते हैं। आपने क्या इस पर कभी विचार किया कि **जनवादी लेखक संघ** के सदस्यों में '**कर्म**' की ऐसी कोई अव-धारणा है भी ? कभी आप लोगों ने इस प्रसंग में विचार किया भी कि जो 'संगठित-सामूहिक कर्म' आप लोगों ने प्रारम्भ किया है, वह भूतों की धानरोपाई तो नहीं ? जड़ें हवा में उड़ाने और सिरे जमीन में रोपने वालों की खेती का परिणाम जानने के लिए फसल पकने के महीने तक प्रतीक्षा सिर्फ वही लोग कर—या करवा—सकते हैं, जिनके लिए '**संगठित**' हो जाना ही सम्पूर्ण कर्म हो। मुझ-जैसे कर्महीन, हवाई और व्यक्तिवादी को तो **जनवादी लेखक संघ** की निर्मिति में ही उसकी नियति भी स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रही थी। '**जनवाद**' का प्रमाण-पत्र बेचने वाले लोग साहित्य या समाज के हित में कोई संघर्ष करेंगे, यह मुगालता तो सिर्फ उन्हीं लोगों को व्यापना था, जो सदाशयी भालुओं की तरह सिर्फ '**कर्म**'

करने को ही पर्याप्त पाते हों, विचार करते चलना जिन्हें कर्म का निषेध दिखाई पड़ता हो।

क्या आप सचमुच नहीं मानना चाहेंगे कि यदि अब लेखकों का कोई संगठन बने, तो विचार, नैतिकता और मूल्यों के आधार पर ही बनना चाहिये ?

मानवद्रोही व्यवस्था के विरुद्ध कुछ भी कारगर 'उपाय' सिर्फ वही लोग कर सकते हैं, जिनका विचार, नैतिकता और मूल्यों से अस्तित्व का वास्ता हो। जिनकी श्रुति, दृष्टि और वाणी बाधित न हो। जो विचार को सम्यक् सुनने, देखने और कहने से प्रतिश्रुत हों। विचार, नैतिकता और मूल्य की बातों से बिदकने वाले लोग साहित्य और समाज, दोनों की गम्भीर क्षति करते हैं। व्यवहार को विचार-शून्यता तक ले जाने वाले लोग समाज के हितों का नहीं, सत्ता के स्वार्थों का संवहन करते हैं। जिनका विचार और नैतिकता से कोई वास्ता न हो, उनका कर्म-क्षेत्र में विचरण समाज में जागृति नहीं, विकृति फैलाता है। नैतिकता और मूल्यों की बात सुनने में असमर्थ लोग जब कर्मक्षेत्र में उतरते हैं, सिवा प्रदूषण और कल्मष के सचमुच कुछ नहीं दे पाते।

स्पष्ट है कि यदि आपका आशय ऐसे लोगों की संस्था का प्रारूप बनाने से होता, तो फिर **जनवादी लेखक संघ** में क्यों इतनी घुटन अनुभव करते आप कि रास्ता खोजना कठिन हो जाता ? और कि यदि विचार, नैतिकता अथवा मूल्यों से सचमुच ही कोई सरोकार न होता, तो आप **ज० ले० सं०** के पर्यावरण को इतना दमघोंटू ही क्यों पाते, कि जहाँ आपको बदहवासी की हद तक घुटन अनुभव करने के बावजूद कहना यही पड़ता हो कि घुटन-जैसी कोई चीज यहाँ कहीं नहीं ?···
आप कुछ विचार करना चाहेंगे कि स्मृति का भाषा से क्या और कैसा सम्बन्ध होता है ?

ऐसा है, राजेन्द्र भाई, कि लेखक ही भाषा को नहीं बरतता, भाषा भी लेखक को बरतती है। **'शब्द'** के द्वारा सत्ता तक के परिचालित होने की कल्पना सिर्फ हवा नहीं, अनुभव में से भी की गई। और जिस **'कर्म'** की आप चुनौती देते हैं, वह स्वयं सबसे पहले **'भाषा'** का प्रश्न हुआ करता है। बिना **'भाषा'** के **'कर्म'** का सम्यक् अस्तित्व ही नहीं और यह कारण है कि पशुओं में कर्मयोगियों की नस्ल नहीं पाई जाती। जबकि कर्म के बहुत-से मुरीदों में पशुवृत्ति का अकाल नहीं हुआ करता !

लेखक का कर्म, इसीलिए, सबसे पहले **'भाषा'** का साक्षात्कार हुआ करता है, क्योंकि मानव-जीवन का कोई भी पक्ष ऐसा नहीं, जिसमें भाषा की व्याप्ति न हो। और **'भाषा'** का सम्बन्ध श्रुति, दृष्टि और वाणी से होने के कारण ही इस भौतिक जगत में **'काव्य'** की अवतारणा सम्भव हुई और आप देख सकते हैं कि जिसकी सुनने, देखने और वाक् की क्षमता जितनी प्रखर रही है, वह उतना ही बड़ा कवि सिद्ध हुआ है। **'भाषा' मानव-कर्म का सर्वोच्च सोपान है**। काव्य ही नहीं, विज्ञान तक की परिकल्पना सिर्फ भाषा में ही सम्भव हुआ करती है।...और आप कहेंगे कि **'परिकल्पना'** शुद्ध हवाई उड़ान के सिवा कुछ नहीं, जबकि पत्थर-जैसे पदार्थ तक का स्वरूप-निर्धारण बिना परिकल्पना के सम्भव नहीं हुआ करता। जिसे हम **'विज्ञान'** करके जानते हैं, वह परिकल्पना की ही देन है और जैसा कि पहले कहा—**'भाषा'** के बिना परिकल्पना सम्भव नहीं।

जिसे आज हम **डार्विनवाद, फ्रायडवाद** और **मार्क्सवाद** की त्रिवेणी के रूप में मानवीय ज्ञान की महान् उपलब्धि करके जानते हैं, वह सिर्फ **'भाषा'** का ही चमत्कार है। और यहाँ **'भाषा'** पर इतना जोर इसलिए कि लेखकों की संस्था का जो भी प्रारूप हो, वह भाषा में ही तय हुआ करता है। और मात्र प्रारूप की भाषा से ही हम साफ-साफ पहचान सकते हैं, परिणति क्या होगी। **'भाषा'** किसी कर्म की कार्य-प्रणाली ही

नहीं, उसकी नियति की भी सूचक होती है, क्योंकि प्रारूप में अंतर्निहित परिकल्पना के स्वरूप से ही यह तय पा लिया जा सकता है कि इसमें कैसे लोग एकत्र हुए हैं और इनके 'कर्मों' का परिणाम क्या निकलना है।

आपने कह तो दिया कि विचार, नैतिकता और मूल्य की बात आप बिल्कुल नहीं सुनना चाहेंगे। इस बात को आपने सचमुच अनदेखा कर दिया कि **सुनने, विचार करने और तर्कों में जाने से भागना ही भाषा-वंचना का आखेट होना है।** परिणामतः, बावजूद अपनी सम्पूर्ण सदाशयता के, आपने **'वाक्'** को झाग और **'अर्थ'** को अनर्थ की तरह प्रकट किया है। यह स्मरण ही नहीं रहा आपको कि जिसे **'मार्क्सवाद'** कहा जाता है, वह भाषिक निर्मिति पहले है, व्यावहारिक परिणति बाद में। कदाचित आपने **'कर्म'** की उतावली से **'विचार'** को अधिक महत्व दिया होता, तो आप स्वयं मुझे सलाह देते कि यदि सचमुच कोई नयी संस्था बनाई जानी हो, तो सबसे पहले उसकी वैचारिक और नैतिक अवधारणा निरूपित करनी होगी और **'संस्था का प्रारूप'** विचार के निकष पर मूल्यों की प्रतिभूति देता दिखाई पड़े, तब कहीं जाकर उसे व्यवहार में लाने की दिशा में आगे बढ़ा जाय। क्योंकि **'कर्म'** की श्रेष्ठता दौड़ते-कूदते-फाँदते दिखाई पड़ने से नहीं, सही दिशा में आगे बढ़ने से तय हुआ करती है। और जब लेखक की भाषा सही हो, तभी उसका मुख भी सही दिशा में रह पाता है।...अब यहाँ कलम की नोक तक आ पहुँची बात कह लेने की इजाजत देंगे, और इसे सुन लेने से इंकार न करेंगे, कि **लेखक की सदाशयता सही हो, लेकिन भाषा गलत हो, ऐसा हुआ नहीं करता। इसलिये 'कर्म' की व्याकुलता में जाने से पहले लेखक को अपनी भाषा के विवेचन में जाना चाहिये।** लेखक की **'बेसिक कैपीटल'** संवेदना हुआ करती है और सदाशयता संवेदना का परिणाम—और यह सिर्फ, और सिर्फ **'भाषा'** से ही तय होता है कि लेखक की जमापूँजी है कितनी। **मार्क्स की 'पूँजी'** भी अपनी प्रकृति में **'भाषा'** पहले है, परिणाम में **द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद या वैज्ञानिक समाजवाद** बाद में।...

'**संस्था के प्रारूप**' के प्रश्न को लेकर इतना-कुछ कह जाने में आपके लेखकीय सरोकारों को अत्यंत गंभीरतापूर्वक लेना ही मुख्य कारण है, क्योंकि आप, फिलहाल, सिर्फ विचार के स्तर पर गड्डमड्ड हैं, सरोकार के स्तर पर नहीं, लेकिन रास्ता इधर ही जाता है। लेखक और उसके विचार, इन दोनों की नियति एक होती है। अंततः **लेखक के सारे सरोकार भी वहीं पहुँच जाते हैं, जहाँ वह विचार में पहुँचा होता है।** कहने को आप कह सकते हैं कि यार, हवाई बातों, कर्मशून्यता और व्यक्तिवाद में बहुत ऊँचे '**पहुँचे हुए**' हो, मगर जैसा कि पहले भी कहा, मानव-परिधि या कि भाषा के वृत्त से परे की वस्तु '**हवा**' भी नहीं। अब आप कहें कि 'यार, मैं तुम्हें '**कर्म**' में ले जाना चाहता था, तुम '**भाषा की हवा**' में उड़ा ले जाना चाहते हो!' तो फिर कहूँगा कि जैसा पहले भी कहा—भाषा '**कर्म**' का सर्वोच्च सोपान है।...और चूंकि आपने '**विचार**' को, जो कि '**भाषाजात कर्म**' है, '**कर्म**' मानने से ही इंकार किया, इसलिये भाषा और कर्म के इतने विवेचन में जाना जरूरी हुआ।

राजेन्द्र भाई,

मैं तो 'अकेले की हवाई बौद्धिकता' में रह गया, न मुझे कहीं से भी कभी यह इतमीनान बँधा कि बत्तीस वर्षों के लेखकीय संघर्ष और लेखन में जो-कुछ मुझसे नहीं सधा, वह **जनवादी लेखक संघ** का कर्मठ सदस्य बनते ही (या कि ऐसे ही किसी अन्य लेखक संघ के स्थापना-कर्म में जुझारू भूमिका अदा करते ही) सध जायेगा। यदि कहूँ कि लिखना स्वयं में एक '**कर्म**' है, तो इससे कहीं यह तर्क नहीं निकलता कि लेखक को सिवा लिखने के कुछ नहीं करना चाहिये। देश-काल-स्थिति में से भी कर्म की प्रकृति तय हुआ करती है, लेकिन किसी भी लेखक के संघर्ष का वास्तविक और सारभूत परिणाम उसके लिखने में से ही निकलता है। **जिस लेखक का लेखन निष्प्रभावी हो, उसके लेखक-संगठन-संचालन**

की कोई प्रासंगिकता हो सकती है, ऐसा कोई मतिभ्रम मुझे नहीं।··· विनय में ही कहना है कि जितना इतमीनान आपको **जनवादी लेखक संघ** के उपाध्यक्ष के नाते अपने प्रभावशाली और कर्मवीर होने का हो सकता हो, इससे कम पहचान मुझे अपने निष्प्रभावी और नगण्य लेखक होने की हो—ऐसा है नहीं।···लेकिन इसका कारण लेखक-बिरादरी के बीच अकेला पड़ जाना या कि **जनवादी लेखक संघ, प्रगतिशील लेखक संघ** अथवा **भारतीय लेखक संघ** का सदस्य न होना नहीं है—अक्षम और अयोग्य लेखक होना है। लेकिन फिर भी यदि आप मानते हों कि ऐसा सिर्फ '**अकेला**' होने या कि संगठन-कर्म से अपने को शून्य रखने की हवाई बौद्धिकता के कारण है, तो पूछना चाहूँगा कि आपने सैकड़ों लेखकों के संगठित व्यावहारिक कर्म और संघर्ष के बूते साहित्य या कि समाज के हित में कितना-कुछ कर डाला है ? व्यवस्था में दरार डालने और अंतर्राष्ट्रीय दलाल साम्राज्यवाद और देशी-विदेशी दलाल पूँजीवाद के विरुद्ध संघर्ष की मुहिम कहाँ तक पहुँची है ? याकि लेखकों को आत्मनिर्भर करने के निमित्त सहकारी प्रकाशन संस्थाओं और पत्रिकाओं की योजनायें कितनी आगे बढ़ी हैं ? देश की जनता को गुमराह और भ्रष्ट करने वाले पूँजीवादी प्रकाशन-प्रसारण माध्यमों के विरुद्ध संगठित जनवादी विद्रोह के पुंगीवादन की परिणति क्या हुई है ? और कि अपनी सीमाओं को लाँघकर किसी '**बड़ी चीज**' को बनाने की संगठन-विह्वलता का हश्र क्या हुआ ?

आपको कुच्छ बताने की जरूरत नहीं, भइया जी, आपका यह पत्र ही सब-कुछ कहे दे रहा है। चार-पाँच सौ लेखकों के संगठन की उपाध्यक्षी से इतनी जल्दी चार-पाँच लेखकों के नाम पूछने तक आप आ पहुँचे हैं, तो जाहिर है कि कर्मशून्य **शैलेश मटियानी** की चुनौती में नहीं। और फिर आश्वासन चुनौती के नहीं, आवेदन-निवेदन के बदले में दिया जाता है। आपसे **जनवादी लेखक संघ** छोड़ने का प्रस्ताव, आश्वासन पा सकने की प्रत्याशा और दिलजमई में, सिर्फ वही कर सकता है, जिसे य

मुहावरा पता न हो कि **'रांड़ ने खसम किया, बुरा किया।'''करके छोड़ दिया, यह और बुरा किया।'**...और फिर, बड़े भइया, अभी भी आप **'वहीं'** हैं, तो **हैमलेट** के इस गुरुमंत्र के मारे हैं कि **'कर्म के वक्त विचार की जद्दोजहद में कायर लोग पड़ा करते हैं।'**

'बारीक और खूबसूरत' विचारों को बौद्धिक ऐश्वर्य के लिये पालने वाले लोगों की पहचान आपको हुआ करती, तो आप जनवादी क्रांति के उन ठेकेदारों की चपेट में न आये होते, जो कि **मार्क्स-एंजिल्स-लेनिन** के सूक्ष्म, सुन्दर और महान् विचारों को व्यवहार में लाने की जगह, पटरी पर लगाकर बेच खा रहे हैं।

स्पष्ट है कि आपका मोहभंग हुआ है, जिसकी ओर कि पहले ही इंगित किया गया था कि यदि आप वास्तव में इस सदाशयता में ही **जनवादी** लेखक संघ में शामिल हुए हैं कि लेखकों का यह संगठित होना साहित्य और समाज के हित में संघर्ष की एक कारगर मुहिम प्रारम्भ करना होगा, तो सिवा मोहभंग के और कुछ हिस्से आना नहीं है।

लगता है, एक सही लेखक की भूमिका निभाने में जिस नैतिक साहस की जरूरत होती है, उसे अभी भी आप सिर्फ एक 'सुन्दर विचार' के रूप में भीतर-ही-भीतर अनुभव-मात्र करते जा रहे हैं, बरत नहीं रहे—जब कि आप स्वयं कहते हैं कि व्यवहार में बरतने से ही विचार की भी परख होती है। **जनवादी** लेखक संघ के उपाध्यक्ष की हैसियत से आपकी यह नैतिक जिम्मेदारी है कि छोड़ने का औचित्य सिद्ध करते हुए छोड़ें। और छोड़ने के परिणाम बूझकर ही छोड़ें। मूल्यों के जिस संघर्ष की प्रत्याशा और अपेक्षा में आप **जनवादी लेखक संघ** में शामिल हुए थे, उसमें लोगों को साथ लें और उनके साथ चलें। जब अंतिम रूप से देख लें कि इस संघ में कहीं, कोई गुंजाइश नहीं, त्याग दें। तब यह **शैलेश मटियानी को आश्वस्ति प्रदान करना** नहीं, सिद्धान्त और आदर्श के निमित्त एक सही फैसला करना होगा।

आपने, यह तो लिखा कि '**संस्था बनाओ या कर्म का कोई रास्ता सुझाओ**।'…लेकिन यह नहीं कि सैकड़ों जनवादी लेखकों की तैयारशुदा संस्था में उपाध्यक्ष के पद पर बिराजमान रहते यह नौबत आखिर आई क्यों है ? आपकी इस कर्ममार्गी व्याकुलता से, बिल्कुल स्वाभाविक तौर पर, कई और प्रश्न भी उपस्थित हो सकते हैं ? मसलन यह कि कर्मपंथ का उद्‌गाता कर्मशून्य से रास्ता पूछे, तो उसे संगठन-चेतना से देदीप्यमान कहा जाय, या वैचारिक गठिया से पीड़ित ? या कि पहले पैराग्राफ में संगठन-कर्म की दीक्षा देता व्यक्ति, दूसरे पैराग्राफ में किसी नयी संस्था का रास्ता खोजता दिखायी पड़े, तो उसे हाथ पकड़कर उठाने को **उपनिषद** और **संस्कृति** लाये जायें—या कि **मार्क्स-फ्रायड-डार्विन** ?

प्रश्न तो, यह भी पूछ लेने की पूरी गुंजाइश बनती है कि क्या लेखन-कर्म (जिसे कि आप पहले भी कई बार निरर्थक घोषित कर चुके) पर अंतिम रूप से जौ-तिल (क्रांति की भाषा में '**मिट्टी**') चढ़ा चुके आप ?

ऐसा है, कि जो रास्ता आपको सूझा (और जैसे लोगों ने आपको रास्ता सुझाया) आपकी यह आज की उद्‌भ्रांत मनोदशा उसकी बिल्कुल स्वाभाविक परिणति है। **कबीरदास-तुलसीदास**-जैसे अकेले लोग '**संगति**' के प्रति ऐसे ही सावधान नहीं कर गये थे। बहरहाल मेरे निकट आपकी इस व्याकुलता की प्रासंगिकता है, क्योंकि यह '**मठ**' में पहुँचकर भी संवेदशील बने रहने का साक्ष्य है। अन्यथा '**मठ**' तो संवेदन-शून्यों के ही ऐश्वर्य के केन्द्र हुआ करते हैं। भूल-चूक में कोई आप-जैसा संवेदनशील सदाशयी वहाँ पहुँच भी गया, तो '**नाथ**' दिया जाता है और फिर उसकी बाकी जिंदगी मक्खियाँ उड़ाने में ही बीतती है।

चूँकि **जनवादी लेखक संघ** का उपाध्यक्ष होने के बावजूद आप में अभी लेखक की हैसियत का रास्ता और कर्म खोजने की चेतना बची हुई है, इसलिये दोहराना है कि एक अंधकूप से मुक्ति, दूसरे अंधकूप में नहीं।

अब आप यदि कहना चाहें कि कुल मिलकर यह संगठन-मात्र (और इसी नाते कर्म तथा संघर्ष) का निषेध करना है, तो फिर कहूँगा कि नहीं, यह **कर्म की प्रकृति को तय करने और तब उससे जुड़ने का विवेक बरतना है।**

आप बार-बार सिर्फ एक बात पर जोर देते हैं—संगठन बनना चाहिए। पहले भी कहा था कि आप काम बतायें, तो नाम सोचे जायें। क्योंकि संगठित होने का निमित्त तय हुए बिना संस्था खड़ी करने का कोई प्रश्न ही नहीं उपस्थित होता। **जनवादी लेखक संघ** ने भी पहले अपना निमित्त तय किया—सहकारी प्रकाशन खोलकर देशी दलाल पूँजीवादी व्यवस्था द्वारा शोषित लेखकों को आत्मनिर्भर बनाने से लेकर, अंतर्राष्ट्रीय दलाल साम्राज्यवाद-पूँजीवाद तक के विरुद्ध संघर्ष करने का—तब आपको उपाध्यक्ष बनाया। ऐसे में, आप पहले लिखें कि दो-चार, दस-बीस या सौ-पचास, जितने भी लेखकों की कोई नयी संस्था बनाई जाय, उसका निमित्त क्या होगा ? 'कर्म' की प्रकृति क्या होगी।

उदाहरण के तौर पर यदि आप कहें कि इस पूँजीवादी व्यवस्था के प्रति विद्रोह के लिए संस्था बनाने जा रहे हैं आप, और उसमें मुझे भी शामिल होना है, तो विनयपूर्वक हाथ जोड़ लूँगा कि नहीं, बड़े भइया, इतनी औकात अपनी नहीं। जनविरोधी व्यवस्था से विद्रोह इतना आसान और उत्साहवर्धक सिर्फ उन्हीं लोगों को दिखायी पड़ता है, जिनके पास न अनुभव होता है, न दृष्टि—और या उन्हें, जो **'विद्रोह का धंधा'** चलाना चाहते हैं और, जानबूझकर, **'कर्म'** की व्याप्ति को इसीलिए अंतर्राष्ट्रीय दलाल साम्राज्यवाद-पूँजीवाद के मूलोच्छेद तक ले जाते हैं कि लक्ष और कर्म, विचार और व्यवहार के बीच जमीन-आसमान का फासला बना रहे। जो प्रश्न करें, उन्हें **'क्षितिज'** दिखा दिये जायें कि वो, उधर देखो, जहाँ जमीं-आसमां गले मिल रहे हैं।

जनविरोधी व्यवस्था से विद्रोह **'चरित्र'** की माँग करता है। **'व्यवस्था'** चरित्र से ही आशंकित भी होती है, कोरी भीड़ से नहीं।

आप जानते होंगे कि दक्षिण के कई वामपंथी कवियों की व्यवस्था ने कोड़ों से खाल खींच ली—क्योंकि उनके कर्म और चरित्र में तालमेल था। **राजेन्द्र यादव, शैलेश मटियानी**—जैसों के विरुद्ध व्यवस्था उदासीन रहती है, तो इसीलिए कि वह इस वास्तविकता से परिचित होती है कि **जिनमें क्रांति का चरित्र नहीं, सिर्फ लफ्फाजी होती है, वो व्यवस्था की क्षति नहीं करते, बल्कि उसके उदार और उदात्त होने के साक्षी हुआ करते हैं।**

मार्क्सवाद की साख स्वतंत्रता-आन्दोलन के दिनों की गाँधी-टोपी-जितनी बना दिये जाने के इस दौर में भी अपने को कम्यूनिस्ट घोषित करने का कभी साहस जुटा नहीं, तो ऐसा इसलिए नहीं कि इसमें कम्यूनिस्ट पार्टियों या कि उनसे जुड़े लेखक संगठनों की कोई रोक हो सकती थी—बल्कि इसलिये कि न सिर्फ यह कि '**कम्यूनिज्म' की प्रासंगिकता और विसंगति, दोनों ध्यान में हैं—बल्कि** एक **कम्यूनिस्ट** का जैसा चरित्र होना चाहिए, वैसा है नहीं। और यह किसी तरह की औपचारिकता या विनम्रता बरतना नहीं है, हकीकत है।

ऐसा है कि विचार को व्यवहार की वस्तु मानने के नाते ही कोशिश रही कि कुछ सार्थक कर सकने का सामर्थ्य नहीं, तो कम-से-कम पाखण्ड से बचा जा सके। संस्था खड़ी करके इस व्यवस्था के विरुद्ध विद्रोह कर सकने की सिर्फ गलतफहमी भी होती, तो आपसे यदि पहले नहीं, तो कम-से-कम साथ-साथ किसी-न-किसी संघ का उपाध्यक्ष-पद खुद भी सुशोभित कर चुका होता। **मौजूदा परिस्थितियों में कोई लेखक संघ बनाकर उसका अध्यक्ष या उपाध्यक्ष हो जाना सिवा पाखण्ड या वैचारिक दीवालियेपन के और कुछ नहीं।** व्यवस्था से विद्रोह का जोखिम मोल लेने-जितना चरित्र हम लोगों का हुआ होता, तो न व्यवस्था के प्रांगणों में तालियाँ गड़गड़ा रहे होते, न रास्ता तलाशते घूमते होते। **व्यवस्था से विद्रोह सुविधाजीवियों के वश का 'कर्म' नहीं हुआ करता।**···लेकिन इससे यह तर्क नहीं निकाला

जाना चाहिए कि **'सम्पूर्ण क्रांति'** से नीचे का विरोध कोई अर्थ ही नहीं रखता। व्यवस्था से विद्रोह अत्यंत जोखिम-भरा कर्म है, इसे दृष्टिगत रखने में से लेखकों के पारस्परिक सहकार और एकजूट संघर्ष की प्रासंगिकता समाप्त नहीं, प्रारम्भ होती है। जिससे जितना सम्भव हो सके, इस समाजद्रोही व्यवस्था के विरुद्ध संघर्ष—यह लेखक-मात्र के अस्तित्व का प्रश्न है, क्योंकि लेखक का अस्तित्व तभी तक है, जब तक कि वह मूल्यों के संघर्ष में हो। **लेखक को, सदैव, व्यवस्था के बाहरी खोल पर आँख रखनी होती है। उसके पाखण्ड को भेदना होता है। क्योंकि उसका संघर्ष सत्ता के दायरों तक सीमित नहीं होता, मानव-स्वभाव के मूलभूत और सार्वकालिक प्रश्नों तक जाता है। उसे, सदैव, सत्ता का नहीं, समाज का पक्ष देखना होता है।**

क्षमा कीजियेगा, आपके भी **'हस्ताक्षरों'** से संयुक्त एक विरोध-पत्र कहीं छपा था, जिसमें **तुर्की** में होने वाले जन-उत्पीड़न के विरुद्ध लावा उगला गया था।...लेकिन न **अफगानिस्तान** और न अब **असम**, यहाँ होने वाले उत्पीड़न और स्वातंत्र्य-हनन के विरुद्ध आप लोगों ने कोई प्रस्ताव पारित नहीं किया ? क्या इसलिए कि **जनवादी लेखक संघ की घोषणा किसी भी राजनैतिक दल-विशेष से सम्बद्ध न होने** की है ? या इसलिए कि चूँकि 'सम्बद्धता' है ?

क्षमा करेंगे, राजेन्द्र भाई, प्रश्नों और तर्कों की माँग तथ्यों के बेबाक विवेचन की होती है।...और यदि पाखण्ड ही करना हो, तब संस्था बदलने से ही क्या होगा ? लेखकों की कोई संस्था यदि बने भी, तो **'राजनीति'** से उसका सम्बन्ध 'लुकाछिपी' का नहीं होना चाहिये। **'राजनीति'** समाज की स्वतःसम्पूर्ण नियामक नहीं हुआ करती, हालाँकि राजनैतिक पार्टियाँ यही निरूपित करती हैं। **'सत्ता की राजनीति'** में अवसरवादी और सामाजिक चेतना के दुश्मन बुद्धिजीवियों की भूमिका निहित स्वार्थों की एकरूपता के तहत होती है। चूँकि सत्ता के खेल में

बुद्धिजीवियों की भूमिका सुविधाभोगी चाटुकारों की हुआ करती है, इसीलिये ये समाज की जगह् **'सिद्धांतवाद'** के पक्ष-समर्थन में जाया करते हैं। अन्यथा राजनीति सामाजिक जीवन-प्रणाली की एक इकाई-मात्र है, जैसे कि कला-दर्शन-साहित्य। राजनीति प्रशासन देती है, तो कला-दर्शन और साहित्य अनुशासन। इन दोनों का संतुलन ही किसी समाज व्यवस्था के स्वरूप को तय करता है। राजनीति सत्ता के तर्क से स्वतः-सम्पूर्ण नियामक ठीक उसी वजन पर बनती है, जिस वजन पर डाकू किसी गाँव पर आधिपत्य कायम करते हैं। राजनीति को कला-दर्शन और साहित्य पर वरीयता प्रदान करना समाज को संवेदन और संस्कार से शून्य दस्युओं के हवाले करने से भिन्न नहीं हुआ करता।

यहाँ कला-दर्शन और साहित्य को सामाजिक संस्कृति के रूप में लिया जाय, जिसकी व्याप्ति **शास्त्र से लोक तक** समान रूप से होती है, जो कि मानव-जीवन के उच्चतर पक्षों का प्रतिनिधित्व करती है। ऐसे में, जब लेखकों की संस्था कायम करने की मुहिम चलाई जाय, तब विचार, नैतिकता और मूल्यों की बातों को सुनने से इंकार करने की जगह, समाज और लेखक की अवधारणाओं के तत्व-विवेचन में समय दिया जाय, क्योंकि बिना तात्विक स्तर पर स्वरूप-निर्धारण के ही **'कर्म'** में उतरना सचमुच **'शून्य'** में ही उतरना हुआ करता है। अंधकूप में गिरकर रास्ता खोजने की नौबत **'द्रष्टा'** होने के दावेदारों की आये, इसे सिर्फ दुखद ही कहा जा सकता है। **राजनीति** के साथ **लेखक** का रिश्ता क्या हो, इस पर न आपने **जनवादी लेखक संघ** में आसन जमाते समय ध्यान दिया और न अब नयी संस्था तलाशते वक्त दे पा रहे हैं। जबकि व्यवस्था से विद्रोह ही नहीं, समाज से प्रतिश्रुति का वृत्त भी राजनीति तक जाता है—प्रश्न सिर्फ प्रक्रिया के अंतर का है। हिन्दी के राजनीति बघारने वाले लेखकों की 'ट्रेजेडी' यह नहीं कि वो राजनीति करते हैं। इनकी विडम्बना यह है कि ये सिर्फ दलीय राजनीति करते हैं। यह दलीय राजनीति ही इन्हें राजनीति-दर्शन के सम्यक् विवेचन

की जगह, 'पार्टी-लाइन' के अंधानुसरण में ले जाती है। यह कारण है कि राजनैतिक पार्टियों में इन लेखकों की हैसियत राजनीति-दर्शन या समाज-दर्शन के प्रवक्ता की नहीं, दलीय चाटुकारों और प्रचारकर्त्ताओं की है। पार्टी के घोषित विचारधारा या मूल्यों के विपरीत आचरण पर उँगली रखने की औकात इनकी नहीं। ऐसे में, हिन्दी के—विशेषकर नयी पीढ़ी के—सामाजिक प्रतिश्रुति से सरोकार रखने वाले लेखकों को इनके संगठित पाखंड से दिग्भ्रमित, विचलित या संगठन-कर्म के प्रति लालायित होने की जगह, राजनीति और समाज के अंत:संबंधों के तात्विक विवेचन में जाना चाहिये। राजनीति से लेखक का रिश्ता सिर्फ तभी सही हो सकता जब कि उसका समाज से रिश्ता सही हो और उसमें सिर्फ कर्म की आवेगशीलता ही नहीं, विचार का माद्दा भी हो।

अब यहाँ कहना है कि किसी भी कथन को उसके पूर्वापर प्रसंग से काटकर देखना, गलत देखना है। आपने **हैमलेट** के 'कथन' को सिर्फ गलत देखा। विचार की जद्दोजहद में पड़ने का निषेध **शेक्सपीयर** ने किया होता, तो **हैमलेट** की रचना ही न हुई होती।

'विचार' को 'कर्म' के विरोध में न देखने के तहत ही कहना है कि—**लेखक का कर्म सत्ता उलटने-पुलटने का नहीं, समाज की संरचना में गुणात्मक परिवर्तन लाने का हुआ करता है।** जो व्यवस्था समाजोन्मुखी हो, वह लेखक को इस बात का पूरा-पूरा अवसर देगी कि वह अपनी संवेदना और भाषा के द्वारा समाज के मनस को अभिप्रेरित करे। अधिसंख्य लोगों को पाखण्ड को पहचानने और उसके प्रतिरोध में समर्थ बनाये। **'राज्य'** को **'मनुष्य का प्रथम शत्रु'** महामना **मार्क्स** ने भी यों ही नहीं कह दिया। अनुभव और विचार से जाना, तब कहा। **सत्ता की राजनीति सदैव ही सैन्यशक्ति के सूत्रधारों के कब्जे में हुआ करती है, नैतिक-सामाजिक मूल्यों के पैरोकारों के नहीं।** जबकि समाज की

राजनीति में नैतिक व्यक्तियों की भागीदारी आवश्यक है। और यहीं सिर्फ लेखक ही नहीं, बल्कि प्रत्येक सामाजिक व्यक्ति का यह संकट प्रारम्भ होता है कि **सत्ता की राजनीति पाखण्ड की छूट तो प्रभूत दिया करती है, लेकिन चेतना की नहीं।**

सामाजिक चेतना सत्ता की राजनीति खेलने वालों को अपने मार्ग की सबसे बड़ी बाधा मालूम पड़ती है—और है भी। और चूँकि लेखक का अस्तित्व ही सामाजिक चेतना से जुड़ा है, इसलिये समाज के मूलभूत प्रश्नों को कुचलने वाली व्यवस्था का सबसे पहला 'बूट' उसकी तरफ उठा हुआ होता है। कोरे तख्ता-पलट से ही सिर्फ निहित स्वार्थ वालों की क्रान्तियाँ पूरी हुआ करती हैं। **लेखक को सदैव ही इस चिंता में जाना पड़ता है कि परिवर्तन सिर्फ सत्ता में हुआ है, या कि सत्ता की प्रकृति में भी।** और यहाँ यह निवेदन कि लेखक या कि किसी भी सामाजिक चिंतक के निकट मूलभूत प्रश्न, सदैव, मानव-प्रकृति का रहता आया है—और रहेगा। जिन्हें मानव-प्रकृति की व्याप्ति का अभिज्ञान न हो, उन्हें न राजनीति की तमीज हो सकती है, न साहित्य की। मनुष्य को जानना ही '**ज्ञान**' है और ज्ञान को अनुभूतिगम्य बनाना ही **रचना**। मानव-जीवन के अपरिमित विस्तार तक आँख जाती हो, तभी समझ में आता है कि राजनीति की हदें कहाँ तक जाती हैं, और साहित्य की सम्भावनायें कहाँ तक। और कि '**मनुष्य**' को बाधित कौन करता है, उद्‌बुद्ध कौन। यह भी कि '**मनुष्य**' अपनी संरचना में ही संक्रमणशील है। वह अंतिम रूप से बाधित कभी नहीं होता। और कि '**सत्ता**' राजनीति की ही नहीं, '**मनुष्य**' की भी होती है।

लेखक '**सत्ता की राजनीति**' का नहीं, '**मनुष्य की सत्ता**' का साक्ष्य हुआ करता है—यह कह जाना लेखक को राजनीति से परहेज करने की सलाह देना नहीं, राजनीति को लेखक की दृष्टि से परिभाषित करने का सवाल उपस्थित करना है, क्योंकि '**लेखक**' राजनैतिक नहीं, सामाजिक उत्पत्ति हुआ करता है। **उत्पत्ति** ही नहीं, **कृति**। इसलिए

उसकी हैसियत राजनैतिक नहीं, सामाजिक व्यक्ति की होनी चाहिये और जिसे हम '**समाजवादी व्यवस्था**' कहना चाहेंगे, उसमें लेखक की भूमिका नीति-निर्धारक की होगी, 'पोस्टर-राइटर' की नहीं।

लेखक के सारे सरोकारों का केन्द्र मनुष्य है। और मनुष्य की गुणवत्ता भीड़ से नहीं, मूल्यों से तय होती है। इसीलिए लेखक को यह जानना होता है कि क्रांति भी सिर्फ वही लोग कर सकते हैं, जिनमें संवेदना होती है। करुणा, सदाशयता और सहिष्णुता होती है। शोषण और उत्पीड़न के विरुद्ध सबसे गहरा और अस्तित्वव्यापी विक्षोभ उन्हीं लोगों में होता है, जो उदात्त संवेदना से सम्पन्न होते हैं। संघर्ष उन्हीं का दीर्घजीवी और क्रांतिकारी हुआ करता है, जिनमें तलस्पर्शी करुणा होती है। जो लोग उद्दण्डता, उजड्डपन और असहिष्णुता को क्रांतिकारी स्वभाव की बुनियादी पहचान बनाने में लगे हुए हैं, क्रांति का पाखण्ड फैला रहे हैं। और, दरअसल, संगठित होने के मूल्य को ऐसे ही पाखण्ड-प्रवीण संगठन ध्वस्त किया करते हैं।

देशी दलाल पूँजीवाद के जनविरोधी प्रकाशन-प्रसारण के माध्यमों से दूसरों को सावधान करने वाले **जनवादी लेखक संघ** के अध्यक्ष-उपाध्यक्षों और सचिव-महासचिवों के द्वारा देशी दलाल पूँजीवाद के इन जनविरोधी माध्यमों को दुहे जाने का '**रिकार्ड**' जरा देखियेगा, तो जान जाइएगा कि व्यवस्था में इन्होंने कितनी दरार अब तक डाली है। **प्रगतिशील** लेखक **संघ** से लेकर **जनवादी लेखक संघ** तक के इन दर्जनों लेखक संघों ने सिवा पाखण्ड के किया क्या है? और इसके अलावा इन्होंने लेखकों के संगठित होने की साख क्या निर्मित की है कि ऐसा करके पद-पुरस्कार-पुस्तक-खरीद और सरकारी-गैर-सरकारी समितियों में घुसपैठ की सौदेबाजी की जा सकती है? **लेखक-मात्र की व्यवस्था के सामने जो आज सिर्फ टुकड़खोर की हैसियत है, इसका सारा श्रेय इन लेखक संगठनों को ही जाता है।** आज जो साहित्य और समाज के

वास्तविक प्रश्नों से जूझने को तत्पर किसी भी लेखक को सामने सिर्फ एक भयावह शून्य दिखाई पड़ने लगता है और रास्ता नहीं सूझता— यह सारा प्रदूषण इन लेखक संगठनों की ही निर्मिति है। और ऐसे में आपको सूझ रहा है कि विचार और मूल्यों के प्रश्नों को नजरअंदाज करके, जल्दी-से-जल्दी कोई संस्था बना ली जाय, जो साहित्य और समाज के प्रश्नों से जूझे और इस व्यवस्था के सामने एक चुनौती उपस्थित करे ?

कोई भी उत्पीड़क व्यवस्था समाज और उससे जुड़े हुओं के बीच के सेतु तोड़ने का काम सबसे पहले करती है। इस व्यवस्था ने भी चौतरफा यही काम सबसे अधिक तेजी से किया है कि समाज और उससे अस्तित्व का वास्ता रखने वाले लोगों के बीच कोई ऐसा सम्बन्ध न रहे, जिससे ये एक-दूसरे को खुराक पहुँचा सकें। जो लेखक इस वास्तविकता को नहीं देखेंगे, उनसे अपनी तमाम-तमाम सदाशयताओं के बावजूद साहित्य और समाज के हित में कुछ हो नहीं पायेगा। **जनवादी लेखक संघ**-जैसे संगठन लेखक को समाज से जोड़ते नहीं, काटते हैं। जिन राजनैतिक दलों से ऐसे लेखक संगठन जुड़े हुए हैं, उनकी जड़ें समाज में नहीं, समाज की लूट-खसोट की राजनीति में है।

यह समय इतना कठिन है कि कुछ कारगर संघर्ष कर ले जाना दूर, अपनी संवेदना बचाये रखना ही अस्तित्व का संकट मोल लेना है। ऐसे में यदि किसी नये लेखक संघ की स्थापना की जानी हो, तो उसमें सिर्फ उन्हीं लोगों को शामिल किया जाना चाहिए, जिनका कि लेखन-कर्म से अस्तित्व का वास्ता हो—और कि जो लिखने को एक गम्भीर सामाजिक दायित्व के रूप में लेते हों। **जो व्यवस्था-विरोध के जोखिमों को पहचानते हों। जिनका विरोध व्यवस्था से सौदेबाजी का उपाय न हो।** जिनका चित्त आपकी तरह चलायमान न हो, क्योंकि **'आश्वासन'** देने की चंचलता में आप **'प्रकृति सनातन की वधू'** को भी मात करते

दिखाई पड़ते हैं। इधर मैं संगठन का प्रारूप तय करूँ और उधर आप **भैरवजी को 'आश्वासन'** देते आयें, तो ? दोहराने की इजाजत देंगे कि **व्यवहार के धरातल पर उतरते ही उसमें प्रदूषण और कल्मष घुसता देखने वाले लोग ही नहीं, प्रदूषण और कल्मष को खुली आँखों से देखते भी उसे व्यवहार की वस्तु बना लेने को उतावले लोग भी** चुकते हैं।

जहाँ तक कालांतर में भ्रष्ट होने का प्रश्न है—**'कालांतर की प्रति-भूति'** कोई नहीं दे सकता और न इसके लिये **'कर्म'** को ही स्थगित रखने का कोई औचित्य है, लेकिन नींव में ही पाखण्ड और प्रदूषण विद्यमान हो, तब इससे बचने की जरूरत उस हर लेखक को अनुभव होनी चाहिए, जो अपनी पहचान मुखौटे पर निर्भर न रखना चाहता हो।

मूल्यों के लिए संगठित होना प्रत्येक समय में महत्वपूर्ण हुआ करता है, लेकिन लेखकों के संगठित होने के परिणाम यदि ठीक यही निकलने हों, जो कि इस वक्त के नानारूप लेखक संघों के निकल रहे हैं, तो बेहतर होगा कि लेखक अकेला पड़ जाने की नियति को स्वीकारे। **अकेला पड़ जाने को अभिशाप या कि व्यक्तिवाद की संज्ञा वही लोग देते हैं, जिन्हें संगठन को गिरोह की शक्ल में चलाना होता है और जो जानते हैं कि समानांतर गिरोह उनके पाखंड की क्षति नहीं, सुरक्षा करता है।**

मैं, फिलहाल, गुंजाइश नहीं देख पा रहा। फिर भी आप संघ का निमित्त तय करें, तो अपना मत लिखूं। और यह सिर्फ आपका पूर्वग्रह-मात्र है कि मैं अकेला होने को प्राथमिकता देता हूँ। हाँ, इतना तय है कि कैसे भी लोगों के संगठन में शामिल होने या कि कैसे भी लोगों का संगठन बना लेने में कोई रुचि नहीं। विचारशून्य संगठनवाद लेखक की ही नहीं, समाज की भी क्षति करता है।

कटु उक्तियों का अफसोस या कि अप्रिय भाषा बरतने की वेदना मुझे कुछ कम नहीं, किन्तु विनयपूर्वक कहना है कि पाखण्ड के विरुद्ध जो भी लेखक जायेगा, इस नियति, और इसके स्वाभाविक परिणामों, से बचत उसे होगी नहीं। सरसरी तौर पर लग सकता है कि आपके प्रति अवज्ञा बरती गई, लेकिन सिर्फ आदर और कृतज्ञता में ही यह सब लिखना सम्भव हो सका। संवेदना के स्तर पर आज भी जो बेचैनी और छटपटाहट आपमें बची रह गई है, यह आज की स्थितियों को देखते सामान्य नहीं। ऐसे में, जो-कुछ लिख गया, उसमें के दोष सिर्फ मेरे होंगे, लेकिन गुणवत्ता का श्रेय आपको कम न होगा। तर्क और विचार का वातावरण देना सबके वश की बात नहीं। संवेदन और विवेक के संघर्ष को बरकरार रखने के प्रति जागरूक व्यक्ति ही यह सब सुलभ कर पाता है और इस नाते आपके प्रति उपकृत हूँ कि सैकड़ों के संगठन **जनवादी लेखक संघ** के बावजूद आपने इस अकेले व्यक्तिवादी से संवाद रखा।

स्थितियों के विवेचन में आप जायेंगे, तो मेरा कहा-सुना हवाई, कर्मशून्य या कि आध्यात्मिक आत्मघाती का दोनों हाथों से तलवार भाँजना नहीं, तर्क और विचार में जाने का विनत प्रयत्न दिख सकेगा, इतनी उम्मीद कर लेने का हक स्वयं ही मान ले रहा हूँ, तो इसीलिए कि जो-कुछ लिखा, अवज्ञा में नहीं, आदर में—कल्मष में नहीं, कृतज्ञता में ही लिखा।

अब भी यदि आप कहें कि इन सारी हवाई बातों का **'लेखकों की संस्था के प्रारूप'** से क्या वास्ता हुआ, तो फिर विनयपूर्वक इतना ही कि जिनका इन सारी बातों से कोई वास्ता न हो, ऐसे लेखकों की संस्था से किसी भी विचारशील व्यक्ति का कोई वास्ता हो ही क्यों?

पत्र समाप्त करते में, अचानक आपके १४ अक्तूबर '८२ के पत्र में का **'सदाशयी भालू'** वाला रूपक याद आ गया है। मदारी एक क्षण

को चाबुक हवा में लहराता है—भालू बड़ी देर तक नाच दिखाता रह जाता है। आपके-मेरे बीच का पत्राचार कुछ ऐसा ही बिम्ब बनाता है क्या ? यदि आप कहें कि हाँ···तो कहूँगा, कि 'अच्छा नचाये हो, मालिक ! पत्थर मारने का इलजाम और ऊपर से थोपे हो !'

सूरदास ने क्या **'अब मैं नाच्यो बहुत, गुपाल !'** ऐसे ही अनुभवों से गुजरकर कहा होगा ? आप भी तो यदुवंशी हो ?···और वो जो कहा गया कि **'और न होगा, थोड़ा-थोड़ा'**—ठीक ही तो कहा गया होगा ? मैं तो सिर्फ इतनी ही अर्दास करूँगा कि 'हुजूर, आदमी भालू से संबंध बनाये, तो सिर्फ उसकी **'सदाशयता'** पर ही लट्टू होकर न रह जाय—बुद्धि-विचार की सीमा को भी ध्यान में रखे।···और कि **'कर्म'** चाहे भालू नचाने का ही क्यों न हो—सोच-विचार की गुंजाइश रखता चले और जल में दिखे को **'दीगर'** न समझे ! अन्यथा जैसा कि **बाबा तुलसीदास** की चौपाई का दूसरा चरण—'**जो जस करहिं, तसहि फल चाखा।**'

आशा है, आप स्वस्थ-प्रसन्न होंगे।[1]

सेवा में, आपका

श्री राजेन्द्र यादव 'मदारी' **शैलेश मटियानी**

●●

१—प्रसन्न इस बात से भी कि **पंडितराज जगन्नाथ** ने **बिहार प्रेस विधेयक** वापस लेकर, **लोकतंत्र** को बचा लिया है ! मैं तो इस विधेयक के पक्ष में इसलिए भी था कि इसके लागू हो जाने पर **'अश्लील सामग्री'** के प्रसारण के जुर्म में सबसे पहले सूचना और प्रसारण मंत्री तथा उनके सरकारी संगठन के विरुद्ध गैर-जमानती समन जारी किये जाते।

पुनश्च

राजेन्द्र भाई,

अपने पक्ष को अंतिम रूप से प्रस्तुत कर चुकने के मनोभाव में पत्र समाप्त करने के बावजूद लगता रहा कि कहीं कुछ छूट गया है। सोच-विचार में जाने के कर्मविमुख स्वभाव की स्वाभाविक नियति कि याद आया, आपने कहीं किसी पत्र में बताया तो था कि जनवादी लेखक संघ में आपके जाने का निमित्त क्या था। **डॉ० भारती** और **रवीन्द्र कालिया** के साथ के मुकदमे में अकेले-अकेले संघर्ष करने की दुखद परिणति से उत्पन्न विषाद-योग भी एक अहम निमित्त बताया था आपने और यह भी कि मेरे संगठनविरोधी रुझानों ने उसे सिर्फ व्यक्तिगत लड़ाई तक सीमित कर दिया।

कहना भी चाहूँ, तो कोई मानेगा नहीं कि इस वक्त **'शैलेश मटियानी बनाम डॉ० भारती तथा अन्य'** वाले मुकद्दमे के अलावा और कोई ऐसा ज्वलंत प्रश्न पूरे देश में कहीं उपस्थित ही नहीं, जिसे कि किसी संगठित लेखक मंच से उठाये जाने का कोई औचित्य बनता हो।···क्या वास्तव में ऐसा ही है कि अभी तक ऐसी कोई समस्या **जनवादी लेखक संघ** को मिल नहीं पा रही, जिसे कि संघर्ष का आधार बनाया जा सके? एक जिस अपसंस्कृति के विरुद्ध अभियान चलाने वाले थे आप लोग, उसकी कुल जमा वास्तविकता भी क्या इतनी ही थी कि पूँजीवादी व्यवस्था के भ्रष्ट संस्थानों—यथा रेडियो, टेलीविजन, पुस्तक-खरीद समितियों आदि में **संगठित लेखकों के लाभांश** को सुनिश्चित किया जा सके? व्यवस्था पर दबाव बनाया जा सके कि पूँजीवादी व्यवस्था के विरुद्ध संघर्ष की जितनी दिहाड़ी **प्रगतिशील लेखक संघ** वालों को दी जा रही है, उतनी ही हमें भी मिले, क्योंकि अब यहाँ भी **'यूनियन'** बन चुकी!···नहीं, राजेन्द्र

भाई, न रेडियो-टेलीविजन या कि अन्य माध्यमों में पारिश्रमिक उगाहना बुरा है, न अपने प्रचार-प्रसार के लिये 'यूनियन' बनाना—आपत्तिजनक है, अपने निहित स्वार्थों को पूँजीवादी व्यवस्था और अंतर्राष्ट्रीय दलाल साम्राज्यवाद के विरुद्ध लेखकों के समवेत संघर्ष का लालवस्त्रम् ओढ़ाना। अवसरवादिता को 'नमामी सदा वर्गसंघर्षवादे !' का मुखौटा पहनाना।

आप यदि कहें कि पाँच सौ लेखक क्या यों ही संगठन में चले आया करते हैं, तो अनुमति देंगे कहने की कि जिन लेखकों को अपनी लेखक की हैसियत बनाने—या उसे बरकरार रखने—के लिए लिखने को ताक पर रखकर, संगठन बनाने की जरूरत अनुभव होती है, तय है कि उनमें कहीं-न-कहीं आत्मविश्वास, आस्था और कर्म से प्रतिश्रुति की कमी हुआ करती है और गिरोह बाँधने के उस्ताद उनकी इसी कमजोर नस पर ही सबसे पहले उँगली रखते हैं।

क्या आपको यह बात सचमुच अटपटी नहीं लगती कि पूंजीवाद-साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष की सारी जनवादी उद्घोषणायें उन नितांत निष्प्रभावी, तथा आज की स्थितियों में सर्वथा अप्रासंगिक साहित्यिक, गोष्ठियों में सिमटकर रह जायें, जिनकी कुल जमा उपलब्धि संगठन के सदस्यों के '**परस्परं प्रशंसंति**' से आगे कुछ नहीं ?

अब उपर्युक्त संदर्भ में ही, यह दोहराना गलत न मानेंगे कि संगठन के उद्देश्यों को **अन्तर्राष्ट्रीय दलाल साम्राज्यवाद** के प्रतिरोध से लेकर **राजेन्द्र यादव के कथा-साहित्य में जनवादी तत्वों** के अन्वेषण तक फैलाना ही पाखण्ड खड़ा करना है और आप इस पाखण्ड में स्वयं उपाध्यक्ष की हैसियत से मौजूद हैं—और अपनी विवेक-चेतना के तहत घुटन अनुभव कर रहे हैं—तो यह वक्त है कि आपको दोटूक निर्णय लेना चाहिये और लेखकों के संगठित होने के प्रश्न पर उतावलेपन की जगह, सोच-विचार में जाना चाहिए—और इस चिंता में कि लेखकों का संगठित होना एक दृष्टांत बन सके। विश्वास कीजिये कि अस्तित्व के प्रश्नों पर लेखक एकजुट हों, यह वांछा आपसे कम मुझमें न होगी,

पुनश्च

राजेन्द्र भाई,

अपने पक्ष को अंतिम रूप से प्रस्तुत कर चुकने के मनोभाव में पत्र समाप्त करने के बावजूद लगता रहा कि कहीं कुछ छूट गया है। सोच-विचार में जाने के कर्मविमुख स्वभाव की स्वाभाविक नियति कि याद आया, आपने कहीं किसी पत्र में बताया तो था कि जनवादी लेखक संघ में आपके जाने का निमित्त क्या था। **डॉ० भारती** और **रवीन्द्र कालिया** के साथ के मुकदमे में अकेले-अकेले संघर्ष करने की दुखद परिणति से उत्पन्न विषाद-योग भी एक अहम निमित्त बताया था आपने और यह भी कि मेरे संगठनविरोधी रुझानों ने उसे सिर्फ व्यक्तिगत लड़ाई तक सीमित कर दिया।

कहना भी चाहूँ, तो कोई मानेगा नहीं कि इस वक्त **'शैलेश मटियानी बनाम डॉ० भारती तथा अन्य'** वाले मुकद्दमे के अलावा और कोई ऐसा ज्वलंत प्रश्न पूरे देश में कहीं उपस्थित ही नहीं, जिसे कि किसी संगठित लेखक मंच से उठाये जाने का कोई औचित्य बनता हो।···क्या वास्तव में ऐसा ही है कि अभी तक ऐसी कोई समस्या **जनवादी लेखक संघ** को मिल नहीं पा रही, जिसे कि संघर्ष का आधार बनाया जा सके? एक जिस अपसंस्कृति के विरुद्ध अभियान चलाने वाले थे आप लोग, उसकी कुल जमा वास्तविकता भी क्या इतनी ही थी कि पूंजीवादी व्यवस्था के भ्रष्ट संस्थानों—यथा रेडियो, टेलीविजन, पुस्तक-खरीद समितियों आदि में **संगठित लेखकों के लाभांश** को सुनिश्चित किया जा सके? व्यवस्था पर दबाव बनाया जा सके कि पूंजीवादी व्यवस्था के विरुद्ध संघर्ष की जितनी दिहाड़ी **प्रगतिशील लेखक संघ** वालों को दी जा रही है, उतनी ही हमें भी मिले, क्योंकि अब यहाँ भी **'यूनियन'** बन चुकी !···नहीं, राजेन्द्र

भाई, न रेडियो-टेलीविजन या कि अन्य माध्यमों में पारिश्रमिक उगाहना बुरा है, न अपने प्रचार-प्रसार के लिये 'यूनियन' बनाना—आपत्तिजनक है, अपने निहित स्वार्थों को पूंजीवादी व्यवस्था और अंतर्राष्ट्रीय दलाल साम्राज्यवाद के विरुद्ध लेखकों के समवेत संघर्ष का लालवस्त्रम् ओढ़ाना। अवसरवादिता को 'नमामी सदा वर्गसंघर्षवादे !' का मुखौटा पहनाना।

आप यदि कहें कि पाँच सौ लेखक क्या यों ही संगठन में चले आया करते हैं, तो अनुमति देंगे कहने की कि जिन लेखकों को अपनी लेखक की हैसियत बनाने—या उसे बरकरार रखने—के लिए लिखने को ताक पर रखकर, संगठन बनाने की जरूरत अनुभव होती है, तय है कि उनमें कहीं-न-कहीं आत्मविश्वास, आस्था और कर्म से प्रतिश्रुति की कमी हुआ करती है और गिरोह बाँधने के उस्ताद उनकी इसी कमजोर नस पर ही सबसे पहले उँगली रखते हैं।

क्या आपको यह बात सचमुच अटपटी नहीं लगती कि पूंजीवाद-साम्राज्यवाद के विरुद्ध संघर्ष की सारी जनवादी उद्घोषणायें उन नितांत निष्प्रभावी, तथा आज की स्थितियों में सर्वथा अप्रासंगिक साहित्यिक, गोष्ठियों में सिमटकर रह जायें, जिनकी कुल जमा उपलब्धि संगठन के सदस्यों के '**परस्परं प्रशंसंति**' से आगे कुछ नहीं ?

अब उपर्युक्त संदर्भ में ही, यह दोहराना गलत न मानेंगे कि संगठन के उद्देश्यों को **अन्तर्राष्ट्रीय दलाल साम्राज्यवाद** के प्रतिरोध से लेकर **राजेन्द्र यादव के कथा-साहित्य में जनवादी तत्वों** के अन्वेषण तक फैलाना ही पाखण्ड खड़ा करना है और आप इस पाखण्ड में स्वयं उपाध्यक्ष की हैसियत से मौजूद हैं—और अपनी विवेक-चेतना के तहत घुटन अनुभव कर रहे हैं—तो यह वक्त है कि आपको दोटूक निर्णय लेना चाहिये और लेखकों के संगठित होने के प्रश्न पर उतावलेपन की जगह, सोच-विचार में जाना चाहिए—और इस चिंता में कि लेखकों का संगठित होना एक दृष्टांत बन सके। विश्वास कीजिये कि अस्तित्व के प्रश्नों पर लेखक एकजुट हों, यह वांछा आपसे कम मुझमें न होगी,

लेकिन अभी हम लेखकों में वह अग्नि कहाँ है, जो सबको आपस में वैसे जोड़े, जैसे कि **अथर्व वेद** में कहा गया—**सह वो युनज्मि समञ्चोऽग्निं सपर्यंतारा नाभिमिवाभित:**...यानी कि **जैसे पहिये के** अरे नाभि (धुरे) **से जुड़े होते हैं, वैसे ही तुम सब एक अग्नि** (चेतना) **से जुड़ो।**

दृष्टांत के लिए अतीत में जाने के प्रसंगवश ही **अज्ञेय** जी का स्मरण हो आया है। उन्हें स्वयं में एक **संस्था** करार देने के मेरे वक्तव्य का परिहास उड़ाते हुये इस बात को आपने बिलकुल नजरअंदाज कर दिया था कि शिविरबंदी के लिए सात-आठ अध्यक्ष-उपाध्यक्षों की संस्था बनाना अनिवार्य नहीं होता—उसे **'व्यक्ति'** की धुरी पर भी बखूबी चलाया जा सकता है। **अज्ञेय** जी ऐसे ही **'धुरीण व्यक्ति'** रहे हैं। **कला और संस्कृति** का धुरा धारण कर, अनुगमनियों का एक गोल अपने इर्द-गिर्द बनाये हुए, लेखक को समाज के मूलभूत प्रश्नों से हाशिये पर बनाये रखने का वैसा ही उद्यम उन्होंने भी किया है, जैसे कि **मार्क्सवाद** का धुरा कंधों पर लादे हुए लोग समाज के सारे प्रश्नों को **दलीय राजनीति** के दायरे में समेटते रहे हैं।

जाहिर है कि कला और संस्कृति, व्यक्ति और समाज के प्रश्नों को व्यवस्था या कि सत्ता की राजनीति के दायरे में समेट कर रखने वाले लेखक जब भी संगठित होंगे—फिर चाहे सिद्धान्त के इर्द-गिर्द हों, या व्यक्ति के—व्यवस्था या राज्य को समाज की कसौटी पर कसकर देखने की जगह, समाज को इनके पैमानों से मापने की मुहिम जरूर चलायेंगे और उस प्रत्येक लेखक के लिए संवेदना का संकट उपस्थित करेंगे, जो न कला और संस्कृति को मनुष्य से ऊपर मानने को तैयार हो, न सिद्धांत को। **संस्कृति** या **सिद्धांत**, सबको समाज की कसौटी पर कसकर ही इनकी गुणवत्ता तय करने का तर्क उपस्थित करने वाला व्यक्ति उन लोगों को कभी रास नहीं आता, जो **व्यवस्था** या **राज्य** की ओर से इनकी ठेकेदारी संभाले रहते हैं।

आज जो हम लेखक समाज के सारे प्रश्नों से कटे हुए, व्यवस्था या कि राज्य के अभयारण्य में **कला, संस्कृति** और **सिद्धांत** की बहुरंगी छतरियाँ ताने विचरण कर रहे हैं, समाज के लिए हमारे निरन्तर अप्रासंगिक पड़ते जाने की सारी वजहें हममें ही विद्यमान हैं और सुविधाजीवी होते भी क्रांतिकारी, तथा व्यवस्था के टुकड़ों पर दृष्टि जमाये हुए भी समाज का प्रतिनिधि दिखने का पाखण्ड ऐसा ही एक कारण है और स्वाभाविक है कि इस पाखण्ड का विदीर्ण किया जाना हमें सुहाता नहीं।

जिस तरह आपका जनवादी लेखक संघ दिल्ली दरबार के आगे तम्बू गाड़े बैठा है, या जिस भांति **अज्ञेय** जी **राम-जानकी-अनुगमन** में धरित्री नाप रहे हैं, इससे न लेखक, न समाज—किसी का भी कोई हित होने की सम्भावना दिखती नहीं है। हो सकता है, यह मेरा गलत देखना हो, लेकिन इतना कहने की अनुमति रहे कि जितना भीड़ से बाहर के व्यक्ति को दिखता है, उतना भीड़ में शामिल को नहीं।

आपका **जनवाद** भालूनृत्य की नियति तक जा पहुँचा और **अज्ञेय** जी का **राम-जानकी-अनुगमन** भाई **लक्ष्मीकांत वर्मा** जी के **'भैंसालोटन'** तक[1], तो यह सब सोच-विचार-नैतिकता और मूल्य के प्रश्नों को ताक पर रखकर चलने से ही तो घटित हुआ ?

तुलसीदास के बारे में ऐसा कोई विवरण देखने में नहीं आया कि उन्होंने **'रामचरित मानस'** की रचना से पूर्व (या पश्चात) अपनी जन्मभूमि से लेकर जानकी की जन्मभूमि तक की योजनों लम्बी प्रतिष्ठा-यात्रायें की हों। **अज्ञेय** जी कह देंगे कि उस युग ऐसी में **'पदयात्रा'** कहाँ सुलभ थी। और, शायद, यह भी कि इसके लिये **'निधि'** की भी जरूरत हुआ करती है—सिर्फ **'संवेदना'** की नहीं।…और सच है कि देश ही क्यों, विदेशों की मही क्या कुछ कम नापी है हमारे इस धुरीण अग्रज

---

१. द्रष्टव्य **'अमृत प्रभात'** के २७ अप्रैल ८३ के अंक में **लक्ष्मीकांत** जी का **भैंसाख्यान**।

ने ? लेकिन **काला सागर** से **जनकपुरी** तक की भूमि में विचरण कर चुकने के बाद भी यदि **अज्ञेय** जी को यह '**अभिज्ञान**' नहीं हुआ कि धरती को सिर्फ पैरों से नापना, या कि मेधा से मापना ही पर्याप्त नहीं हुआ करता, **संवेदना** से ही भी थाहना होता है और तभी उसका पूरा रूप सामने आता है, तो इस कथन को उनकी अवज्ञा न माना जाय, क्योंकि उनके एक लेखक की हैसियत के व्यक्तित्व के प्रति गहरे आदर के निमित्त से ही इस प्रसंग में कुछ सोचने-विचारने की गुंजाइश बनी।

वर्त्तमान के संघर्ष में बने रहने को अतीत या कि संस्कृति की ओर जाने और वर्त्तमान के प्रश्नों से पलायन के निमित्त विगत में जाने (या ले जाने) के अभिप्राय एक नहीं हुआ करते। आप **डार्बिनवाद, फ्रायड-वाद, मार्क्सवाद,** और **अज्ञेय** जी कला-संस्कृति में ले जाना चाहते है, तो हमें भी इतना देख लेने का अवसर जरूर दीजिये कि दरअसल आप लोग हमें ले कहाँ जाना चाहते हैं, क्योंकि मात्र सदाशयता का तर्क तो आदमी को भालू के निकट भी स्वस्ति में नहीं रख पाता है—**राज्य** और **व्यवस्था** का क्षेत्र तो भालूनृत्त से कहीं बहुत बड़ा ठहरा !

अनेक **अज्ञेय-पथ** अनुगमनकारियों की प्रतिक्रिया '**तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा:**' को लेकर कुछ यों सुनने में आई कि यह व्यक्ति तो हाथ धोकर **अज्ञेय** के पीछे पड़ गया।…जबकि पीछे-पीछे तो सिर्फ ये लोग चलते आये, मैंने तो सिर्फ एक अत्यन्त महत्वपूर्ण अग्रज लेखक से **संवाद** बनाने और उसके निमित्त से लेखक होने के मूल प्रश्नों तक पहुँच सकने की कोशिश-भर की है। तब कह लेने की अनुमति रहे कि जो भी लेखक अपने **कर्म** को लेकर दावेदारी बरते—फिर वह चाहे संगठन बनाना हो, या सांस्कृतिक यात्रायें करना—वह अपने कहे-किये की पड़ताल में जाने को बिल्कुल स्वाभाविक तौर पर अभिप्रेरित करेगा। फिर चाहे वह **राजेन्द्र यादव** हों, या **अज्ञेय**।…जिज्ञासा से सिर्फ वही बिदकता है, जिसका घोषित कुछ और होता है, वांछित कुछ और। कहना न होगा

कि **कर्म** और **वांछा** के बीच समन्वय न हो, तो व्यक्ति असहिष्णु और उद्वेगी होता जाता है—यदि हो, तो सहिष्णु और उदात्त ।

सहने का **संवेदना** से, और फिर इसी नाते कहने से, कितना और कैसा वास्ता हुआ करता है, यह अनुभव से ही जाना जा सकता है । लेखक का वेदना और विषाद सहने का सामर्थ्य ही उसकी संवेदना की परिधि बनाता है । यहाँ वेदना और विषाद का जिक्र इस सन्दर्भ में नहीं कि लेखक को आश्रमवादी किस्म के सम्पूर्ण महात्मा की तरह मूँड़ी लटकाये मनुष्य की नियति के हवाई प्रश्नों पर रुदन मचाते रहना चाहिए—बल्कि यह है कि जो भी मनुष्य होने के व्यापकतर प्रश्नों में जाता है, वेदना और विषाद से बचत उसे होती नहीं, क्योंकि मनुष्य की संवेदना का वृत्त जितना बड़ा, उस पर संघात के जोखिम भी उतने ही होते हैं । जिन्होंने सहा नहीं होता, उनसे कहने के संकट कभी कम नहीं होते ।

हिन्दी में **अज्ञेय जी** सबसे बड़े **व्यक्तिवादी** लेखक माने जाते हैं, लेकिन आप भी जानते हैं कि अकेले वो कतई नहीं । जितने आपके अखिल भारतीय लेखक-संस्थान में, इससे कम उनके इर्द-गिर्द नहीं । उनका **वत्स-वृंद** सदैव ही बड़ा रहा है ।

ऐसे में, यदि आप **शैलेश मटियानी** के **अकेला** पड़ जाने को सिर्फ **व्यक्तिवादी रुझानों** का परिणाम मानें, **संवेवदना** का नहीं, तो इतना कहने की फिर अनुमति देंगे कि लेखक की प्रासंगिकता अंततः उसके लिखे के परिणाम में से तय होती है, **अकेला** पड़ने या **संगठित** होने से नहीं—और तय है कि इसमें वक्त लगता है ।

आप यदि कहें कि —'यार, तुम्हें कर्मशून्य और हवाई यों ही थोड़े कहा था—लेखक के कर्म की गति सिर्फ परछिद्रान्वेषण तक ही सीमित रह जाय, तो इससे लाभ ? **अज्ञेय-राजेन्द्र यादव** से विवाद का मनुष्य के अस्तित्व के व्यापक प्रश्नों से या देश की मौजूदा परिस्थितियों की भयावहता से क्या वास्ता हुआ ?'…तो विनयपूर्वक इतना ही कि

छिद्रान्वेषण की विसंगति से अवगत होने से, अपने जाने, सिर्फ विवेचन बरता। और कि आप दो बड़ों के निमित्त से कोशिश की कि हिन्दी साहित्य में उपस्थित हुए इस परिदृश्य की ओर इंगित किया जाय कि लेखक की उपस्थिति का अर्थ राज्य या कि व्यवस्था के लिए चाहे जितना रह गया हो—समाज के लिए जाता रहा है, तो इसके कुछ कारण होंगे। लेखक व्यवस्था के विरुद्ध संगठित हों और व्यवस्था को सिर्फ इतना हो कि चन्द कँगले और दरवाजे पर दस्तक देने लगें—तो यह लेखक-मात्र की साख पर मिट्टी पड़ने के अलावा कुछ नहीं। ऐसे में अनेकों की नाराजगी का जोखिम मोल लेकर, इस ओर इंगित करने का प्रयास कि लेखकों के संगठित होने के परिणाम कुल मिलाकर क्या निकले हैं, इस पड़ताल में जाना, चाहे यह वृहत्तर मानवीय या कि सामाजिक प्रश्नों में जाना भले ही बिलकुल नहीं हुआ, लेकिन लेखक के कर्म के दायरे से बाहर की वस्तु भी इसलिये नहीं हुआ कि तत्व-विवेचन की प्रकृति विषय के विस्तार से पहले, उसके अंत:प्रसंगों में जाने की होती है।

यों भी जब कहा गया कि **'काव्य शास्त्र विनोदेन कालो गच्छति धीमताम्'** तो इस प्रतीति में ही तो कि जिनका जैसा कर्म होगा, वैसी ही समय व्यतीत करने की पद्धति भी होगी।...और समय को व्यतीत करना क्या होता है, इसे आदमी तभी जान पाता है, जब—जैसा कि पहले भी कहा—बाढ़ के जल को बाँहों से थाहने का समय सामने होता है।

आशा है, अभियान में घायल साथी का **'माथा'** काटकर, आगे चल देने वालों की बस्ती में सानंद होंगे।

आपका

शैलेश मटियानी

• •